

भगवान श्री कुन्दकुन्द—कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प—१३



श्री सर्वज्ञेभ्यः नमः

श्रीमदाचार्यवर-अमृतचन्द्राचार्य विरचित

श्री

समयसार-कलश

भगवत्कुंदकुंदाचार्यदेवप्रणीत समयसारकी श्रीअमृतचंद्राचार्यदेव विरचित
'आत्मख्याति' टीका-अन्तर्गत कलश-श्लोक एवं उन पर ढूँढारी
भाषामें अध्यात्मरसिक पं श्री राजमल्लजी 'पांडे'
रचित 'खंडान्वय सहित अर्थमय टीकाके
आधुनिक हिंदी अनुवाद सहित



: अनुवादक :

सि. आ., पं. श्रीफूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री

वाराणसी



:: प्रकाशक ::

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

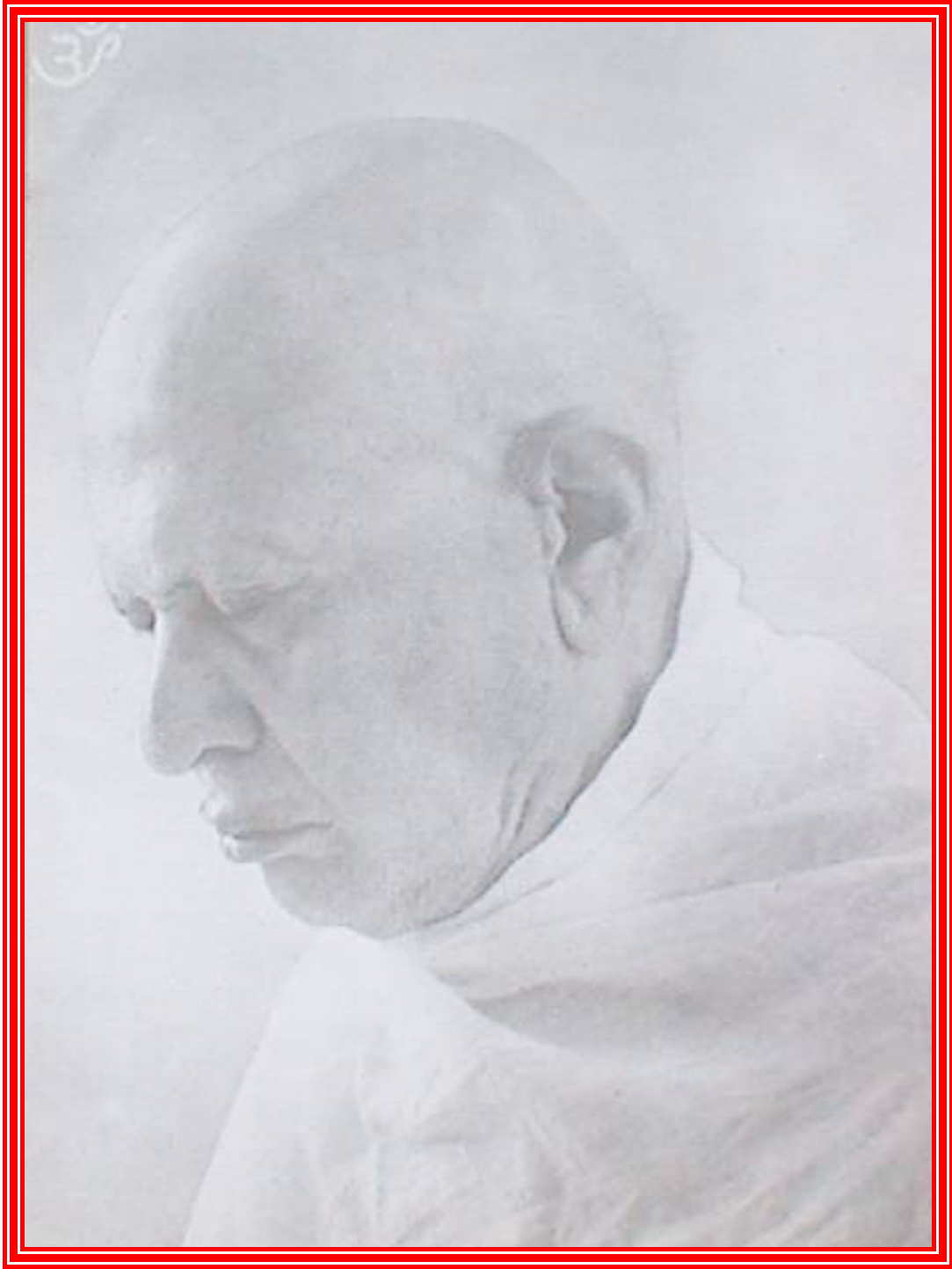
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)



प्रकाशकः
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रथम आवृत्ति :: ३००० प्रति
वि. सं. २०२१ वीर नि. सं. २४९० सन् १९६४

मुद्रक
शिवनारायण उपाध्याय
नया संसार प्रेस
भदैनौ, वाराणसी-१



परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी



श्री समयसाराय नमः । प्रकाशकीय निवेदन

सर्वज्ञ वीतराग कथित निर्मल तत्त्वज्ञान के गूढ़ रहस्योंको अत्यन्त सुगम और सुबोध शैलीसे प्रकाश करनेवाले जैनधर्मके मर्मी पं० श्री राजमल्लजी कृत श्री समयसार कलश टीकाका राष्ट्रभाषा हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता होती है।

भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यने श्री समयसार परमागमकी रचना की, उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्य देवने 'आत्मख्याति' टीका लिखी। उसे पढ़ते हुए परमार्थ तत्त्वका मधुर रसास्वाद लेनेवाले धर्म जिज्ञासुओंके चित्तमें निस्सन्देह आत्माकी अपार महिमा आती है, क्योंकि उन्होंने परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग तीर्थकरोंका हार्द खोलकर श्री आत्मख्याति टीकामें भर दिया है। उसमें आगम, युक्ति, गुरुपरम्परा और स्वानुभव द्वारा आचार्य देवने परम अद्भुत ज्ञाननिधानको निस्संकोचतया प्रकट किया है। साथ ही उन्होंने (जिनमन्दिरके शिखरके स्वर्ण कलश समान) आध्यात्मरस भरपूर कलशोंकी भी रचना की है। आत्मसंचेतनका निर्मल रसास्वाद लेनेवाले पं० श्री राजमल्लजीने ढूढारी भाषामें उन्हीं कलशों पर यह टीका लिखी है। यह टीका अपनेमें इतनी मैलिक है कि इसके आधारसे आध्यात्मरसिक श्री बनारसीदासजीने नाटक समयसार की रचना की है।

यह कलश टीका पं० श्री राजमल्लजीकी स्वतंत्र रचना है। प्रत्येक श्लोककी टीकामें उन्होंने अपूर्व अर्थका उद्घाटन किया है। परमोपकारी पू० श्री कानजी स्वामी उसके उस अपूर्व अर्थको उद्घाटित करते हुए भूरि-भूरि आनन्दका अनुभव करते हैं। पूज्य श्री ने इस ग्रन्थका अनेक बार स्वाध्याय किया है। पूज्य श्री की भावना थी कि यह ग्रन्थ वर्तमान हिन्दी भाषामें अनुदित होकर प्रकाशित हो। साथही उसमें अत्मानुभूतिका जो स्पष्टरूपसे कथन आया है उसे वे श्रोताओंके समक्ष रखने लगे। फल स्वरूपजैन समाजमें उसके प्रचार-प्रसारकी भावना बढ़ने लगी।

वी० सं० १९५७ में स्व० श्री ब्रह्म० शीतलप्रसादजी द्वारा इस ग्रन्थका संपादन होकर श्री मूलचन्द किसनदास जी कापड़िया सूरत द्वारा प्रकाशन हुआ। श्री ब्रह्मचारीजी ने अनेक हस्तलिखित प्रतियोंका मिलानकर परिश्रम पूर्वक इस ग्रन्थका संपादन किया था। यह अनुवाद उस मुद्रित ग्रन्थके आधारसे किया गया है, इसलिए हम उनके आभारी हैं। मूलग्रन्थकी भाषा बहुत पुरानी ढूढारी होनेसे पढ़नेवालों को कई शब्दोंका अर्थ बराबर समझमें न आनेके कारण जितना रसा स्वाद आना चाहिये उतना नहीं आ पाता था, अतः वर्तमान हिन्दी भाषामें उसे परिवर्तित कर देने का विशेष अनुरोध पं० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीसे किया गया। मुद्रित प्रतिमें छूटे हुए स्थलोंका संशोधन करनेके लिए दो हस्तलिखित प्रतियाँ भी उनके पास भेजी गईं। प्रथम हस्तलिखित प्रति अंकलेश्वर दि० जैन समाजसे प्राप्त हुई और दूसरी हस्तलिखित प्रति सागर निवासी श्रीमान सेठ भगवानदासजी शोभालालजी से प्राप्त हुई। पंडितजीने उन प्रतियोंसे मुद्रित प्रतिका अच्छी तरह मिलानकर वर्तमान हिन्दी भाषामें अनुवाद किया है। अनुवादमें मूलका भाव पूरी तरहसे आजाय इस अभिप्रायसे उसका श्री कानजी स्वामीके सानिध्यमें पं० श्री हिम्मतलाल भाई, माननीय श्री रामजी भाई, श्रीमान खेमचन्द भाई, ब्र० श्री चन्दू

भाई आदि सात आठ भाइयोंने बैठकर कई दिनों तक सावधानीके साथ वाचन किया। इस वाचनमें पं० श्रीराजमल्लजीके कथनके भावोंका पूरा संरक्षण हो इस बातका पूरा ध्यान रखा गया और इसी बातको ध्यानमें रखकर हिन्दी अनुवादका संशोधनभी किया गया। इसमें संदेह नहीं कि यह कार्य

अत्यन्त कठिन श्रमसाध्य था जो पंडितजी और सबके सहयोगसे संपन्न हुआ है। इसके मुद्रण का कार्य नया संसार प्रेस वाराणसी में ही हुआ है।

इस ग्रन्थको प्रकाशमें लानेका परम श्रेय आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजीस्वामी को है, अतः आपका मैं अत्यन्त भक्ति पूर्वक आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थके संपादन आदि कार्यमें पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने असाधारण श्रम किया है, अतः मैं आपका भी आभारी हूँ।

व्यवस्थापक श्री नया संसार प्रेस, वाराणसीने नया टाइप बुलाकर सुन्दर ढंगसे इस ग्रन्थको मुद्रित किया अतः मैं आपका भी आभारी हूँ।

इस ग्रन्थको प्रकाशमें लानेका परम श्रेय आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजीस्वामी को है, अतः आपका मैं अत्यन्त भक्ति पूर्वक आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थके संपादन आदि कार्यमें पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने असाधारण श्रम किया है, अतः मैं आपका भी आभारी हूँ।

इस ग्रन्थको प्रकाशमें लानेका परम श्रेय आध्यात्मिक संत पूज्य श्री कानजीस्वामी को है, अतः आपका मैं अत्यन्त भक्ति पूर्वक आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थके संपादन आदि कार्यमें पं० श्री फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्रीने असाधारण श्रम किया है, अतः मैं आपका भी आभारी हूँ।

व्यवस्थापक श्री नया संसार प्रेस, वाराणसीने नया टाइप बुलाकर सुन्दर ढंगसे इस ग्रन्थको मुद्रित किया अतः मैं आपका भी आभारी हूँ।

संशोधन में ज्ञान-वैराग्यसंपन्न पं० श्री हिम्मतलाल भाई तथा हमारी संस्थाके अवकाश प्राप्त प्रमुख माननीय श्री रामजी भाई वकील का भी मैं आभारी हूँ। इन्होंने अपना अमूल्य समय देकर ग्रन्थकारके सर्व भावोंके संरक्षणमें पूरा योगदान दिया है। श्रीमान् खेमचन्द्र भाई व ब्र० श्री चन्दू भाई आदि अन्य जिन-जिन साधर्मि भाईयोंकी इस कार्यमें सहायता मिली है उन सबका भी मैं हृदयसे आभारी हूँ।

इस ग्रन्थकी कीमत कम करनेके लिए जिन-जिन महानुभावोंने उदारता पूर्वक साहायता की है उन सबका भी मैं हृदयसे आभारी हूँ।

अंतमें मैं भावना भाता हूँ कि श्री समयसारकलश टीकाके हार्दको समझकर अंतरमें तदनुरूप परिणमन होकर सर्व जिज्ञासुओंको निराकुल लक्षण उत्तम सुखकी प्राप्ति हो।

टीका और टीकाकार

कविवर राजमल्ल जी

राजस्थान के जिन प्रमुख विद्वानोंने आत्म-साधना के अनुरूप साहित्य आराधना को अपना जीवन अर्पित किया है उनमें कविवर राजमल्लजी का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है। इनका प्रमुख निवासस्थान ढँढाहड़ प्रदेश और मातृभाषा ढूँढारी रही है। संस्कृत और प्राकृत भाषा के भी वे उच्चकोटी के विद्वान् थे। सरल बोधगम्य भाषा में कविता करना इनका सहज गुण था। इन द्वारा रचित साहित्यके अवलोकन करने से विदित होता है कि वे स्वयं को इस गुण के कारण 'कवि' द्वारा संबोधित करना अधिक पसन्द करते थे। कविवर बनारसीदास जी ने इन्हें 'पाँडे' पद द्वारा भी सम्बोधित किया है। जान पड़ता है कि भट्टारकोंके कृपापात्र होनेके कारण ये या तो गृहस्थाचार्य के विद्वान् थे, क्योंकि आगरा के आसपास क्रियाकॉड वाले व्यक्तिको आज भी 'पाँडे' कहा जाता है। या फिर अध्ययन-अध्यापन और उपदेश देना ही इनका मुख्य कार्य था। जो कुछ भी हो, थे ये अपने समयके मेधावी विद्वान् कवि।

जान पड़ता है कि इनका स्थायी कार्यक्षेत्र वैराट नगरका पार्श्वनाथ जिनालय रहा है। साथ ही कुछ ऐसे भी तथ्य उपलब्ध हुए हैं जो इस बात के साक्षी हैं कि ये बीच बीच में आगरा, मथुरा और नगौर आदि नगरों में भी न केवल अपना सम्पर्क बनाये हुए थे। बल्कि उन नगरों में आते-जाते रहते थे। इसमें संदेह नहीं कि ये अति ही उदारशय परोपकारी विद्वान् कवि थे। आत्मकल्याण के साथ इनके चित्त में जनकल्याणकी भावना सतत् जागृत रहती थी। एक ओर विशुद्धतर परिणाम और दूसरी ओर समीचीन सर्वोपकारिणी बुद्धि इन दो गुणों का सुमेल इनके बौद्धिक जीवन की सर्वोपरि विशेषता है। साहित्यिक जगत में वही इनकी सफलता का बीज है।

वे व्याकरण, छन्द शास्त्र, स्याद्वाद विद्या आदि सभी विद्याओं में पारंगत थे। और अध्यात्मका तो इन्होंने तलस्पर्शी गहन परिशीलन किया था। भगवन कुन्दकुन्द रचित समयसार और प्रवचन सार प्रभृति प्रमुख ग्रन्थ इनके कण्ठस्थ थे। इन ग्रन्थों में प्रतिपादित अध्यात्म तत्वके आधारसे जनमानसका निर्माण हो इस सद्भिप्राय से प्रेरित होकर इन्होंने मारवाड़ और मेवाड़ प्रदेशको अपना प्रमुख कायै क्षेत्र बनाया था। जहाँ भी ये जाते, सर्वत्र इनका सोत्साह स्वागत होता था। उत्तरकाल में अध्यात्म के चतुर्मुखी प्रचारमें इनकी साहित्यिक व अन्य प्रकार की सेवाएँ विशेष कारगर सिद्ध हुई।

कविवर बनारसीदास जी वि . १७ वीं . शताब्दीके प्रमुख विद्वान् हैं। जान पड़ता है कि कविवर राजमल्लजी ने उनसे कुछ ही काल पूर्व इस वसुधाको अलंकृत किया होगा। अध्यात्म गंगा को प्रवाहित करनेवाले इन दोनों मनीषियोंका साक्षात्कार हुआ है ऐसा तो नहीं जान पड़ता, किन्तु इन द्वारा रचित जम्बूस्वामीरचित और कविवर बनारसीदासजी की प्रमुख कृति अर्द्ध कथानकके अवलोकन से यह अवश्य ही ज्ञात होता है कि इनके इह लीला समाप्त करने के पूर्व ही कविवर बनारसीदास जी का जन्म हो चुका था।

रचनाएँ

इनकी प्रतिभा बहुमुखी थी इनका संकेत हम पूर्व में कर आये हैं। परिणाम स्वरूप इन्होंने जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया था टीकाएँ लिखीं वे महत्वपूर्ण हैं। उनका पूरा विवरण तो हमें प्राप्त नहीं, फिर भी इन द्वारा रचित साहित्यमें जो संकेत मिलते हैं उनके अनुसार इन्होंने इन ग्रन्थोंकी रचना की होगी ऐसा ज्ञात होता है। विवरण इसप्रकार है :—

१। जम्बूस्वामी रचित, २। पिंगल ग्रंथ—छंदोविद्या, ३। लाटिसंहिता, ४। अध्यात्मकमलमार्तण्ड, ५। तत्त्वार्थसूत्र टीका, ६। समयसारकलश बालबोध टीका और ७। पंचाध्यायी। ये उनकी प्रमुख रचनाएँ या टीका ग्रंथ हैं। यहाँ जो क्रम दिया गया है, संभवतः इसी क्रमसे इन्होंने जनकल्याणहेतु ये रचनाएँ लिपिबद्ध की होगी। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

१। कविवर अपने जीवन काल में अनेक बार मथुरा गये थे। जब वे प्रथम बार मथुरा गये तब तक इनकी विद्वत्ता के साथ कवित्वशक्ति पर्याप्त प्रकाश में आ गई थी। अतएव वहाँ की एक सभा में इनसे जम्बूस्वामीचरितको लिपिबद्ध करने की प्रार्थना की गई। इन ग्रन्थके रचे जाने का यह संक्षिप्त इतिहास है। यह ग्रंथ वि. सं. १६३३ के प्रारम्भ के प्रथम पक्ष में लिखकर पूर्ण हुआ है। इस ग्रंथ की रचना कराने में भटानियाँकोल [अलिगढ़] निवासी गर्गगोत्री अग्रवाल टोडरसाहु प्रमुख निमित्त हैं। ये वही टोडर साहु हैं जिन्होंने अपने जीवन काल में मथुराके जैन स्तूपोंका जीर्णोद्धार कराया था। इनका राजपुरुषोंके साथ अतिनिकटका संबंध [परिचय] था। उनमें कृष्णामंगल चौधरी और गढ़मल्ल साहू मुख्य थे।

२। इसके बाद पर्यटन करते हुए कविवर कुछ काल के लिये नगौर भी गये थे। वहाँ इनका संपर्क श्रीमालज्ञातीय राजा भारमल्ल से हुआ। ये अपने काल के वैभवशाली प्रमुख राजपुरुष थे इन्हीं की सत्य प्रेरणा पाकर कविवर ने पिंगल ग्रंथ—छंदोविद्या ग्रन्थका निर्माण किया था। यह ग्रंथ प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और तत्कालीन हिन्दीका सम्मिलित नमुना है।

३। तीसरा ग्रंथ लाटीसंहिता है। मुख्यरूपसे इसका प्रतिपाद्य विषय श्रावकाचार है। जैसे कि मैं पूर्वमें निर्देश कर आया हूँ कि ये भट्टारक परम्परा के प्रमुख विद्वान् थे। यही कारण है कि इनमें भट्टारकों द्वारा प्रचारित परम्पराके अनुरूप श्रावकाचार का विवेचन प्रमुखरूपसे हुआ है। २८ मूलगुणोंमें जो षडावश्यक कर्म हैं, पूर्वकालमें ब्रती श्रावकोंके लिये वे ही षडावश्यक कर्म देश व्रतके रूपमें स्वीकृत थे। उनमें दूसरे कर्मका नाम चतुर्विंशतिस्तव और तीसरा कर्म वन्दना है। वर्तमान कालमें जो दर्शन—पूजनविधि प्रचलित है, यह उन्हीं दो आवश्यक कर्मोंका रूपान्तर है। मूलाचरमें वन्दनाके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद दृष्टिगोचर होते हैं।

उनमेंसे लोकोत्तर वन्दनाको कर्म क्षपणका हेतु बतलाया गया है। स्पष्ट है कि लौकिक वन्दनामात्र पूण्य बंधका हेतु है। इन तथ्यों पर दृष्टिपात करने से विदित हो ता है कि पूर्वकाल में ऐसी ही लौकिक विधि प्रचलित थी जिसका लोकोत्तर विधिके साथ सुमेल था। इस समय उसमें जो विशेष फेरफार होता है वह भट्टारकीय युग की देन है। लाटीसंहिताकी रचना वैराटनगरके श्री दि. जैन पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर की गई थी। रचनाकाल वि. सं. १६४१ है। इसकी रचना कराने में साहू फामन और उनके वंशका प्रमुख हाथ रहा है।

४। चौथाग्रंथ अध्यात्मकमलमार्तण्ड है। यह भी कविवर की रचना मानी जाती है। इनकी रचना अन्य किसी व्यक्तिके निमित्त से न होकर स्वसंवित्ति को प्रकाशित करने के अभिप्राय से की गई है। यही कारण है कि इसमें कविवर ने न तो किसी व्यक्ति विशेषका उल्लेख किया है और न अपने संबन्धमें ही कुछ लिखा है। इसके सवाध्याय से विदित होता है कि इसकी रचना के काल तक कविवर ने अध्यात्म में पर्याप्त निपुणता प्राप्त कर ली थी। यह इसी से स्पष्ट है कि वें इसके दूसरे अध्याय का प्रारम्भ करते हुए यह स्पष्ट संकेत करते हैं कि पुण्य और पाप का आस्रव और बन्ध तत्व में अन्तर्भाव होनेके कारण इन दो तत्वोंका अलगसे विवेचन नहीं किया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टिसे जो प्रौढ़ता पंचाध्यायी में दृष्टिगोचर होती है उसकी इसमें एक प्रकार से न्यूनता ही कही जायेगी। आश्चर्य नहीं कि यह ग्रन्थ अध्यात्म प्रवेशकी पूर्णपीठिकाके रूप में लिखा गया हो। अस्तु,

५ से ७ जान पड़ता है कि कविवरने पूर्वोक्त चार ग्रन्थोंके सिवाय तत्त्वार्थसूत्र और समयसार कलशकी टीकाएँ लिखने के बाद पंचाध्यायी की रचना की होगी। समयसार कलश की टीका का परिचय तो हम आगे कराने वाले हैं, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र टीका हमारे देखने में नहीं आई, इसलिये यह कितनी अर्थगर्भ है यह लिखना कठिन है। रहा पंचाध्यायी ग्रंथराज सो इसमें संदेह नहीं कि अपने कालकी संस्कृत रचनाओं में विषय प्रतिपादन और शैली इन दोनों दृष्टियोंसे यह ग्रन्थ सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसे तो समाज का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये कि कविवरके द्वारा ग्रंथके प्रारम्भमें की गई प्रतिज्ञा के अनुसार पांच अध्यायोंमें पूरा किया जानेवाला यह ग्रन्थराज केवल डेढ़ अध्यायमात्र लिखा जा सका। इसे भगवान् कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रकी रचनाओंका अविकल दोहन कहना अधिक उप्युक्त है। कविवरने इसमें जिस विषय को स्पर्श किया है उसकी आत्मा को स्वच्छ दर्पण के समान खोलकर रख दिया है। इसमें प्रतिपादित अध्यात्मनयों और सम्यक्त्व की प्ररूपणा में जो अद्भुत विशेषता दृष्टिगोचर होती है उसने ग्रन्थराज की महिमाको अत्यधिक बढ़ा दिया है इसमें संदेह नहीं।

श्री समयसार परमागम

कविवर और उनकी रचनाओं के सम्बंधमें इतना लिखने के बाद समयसार कलश बालबोध टीका का प्राकृत में विशेष विचार करना है। यह कविवर की अध्यात्मरससे ओतप्रोत तत्सम्बन्धी समस्त विषयों पर सांगोपांग तथा विशद प्रकाश डालने वाली अपने काल की कितनी सरल, सरस और अनुपम रचना है यह आगे दिये जाने वाले उसके परिचय से भलीभाँति स्पष्ट हो जायेगा।

इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं कि श्रीसमयसार परमागम एक ऐसे आत्मज्ञानी महात्माकी वाणीका सुखद प्रसाद है जिनका आत्मा आत्मानुभूति स्वरूप निश्चय सम्यक्दर्शनसे सुवासित था, जो अपने जीवन काल में ही निरंतर पुनः पुनः अप्रमत्त भाव को प्राप्त कर ध्यान, ध्याता और ध्येय के विकल्पसे रहित परम समाधिरूप आत्मीक सुखका रसास्वादन करते रहते थे, जिन्हें अरिहंत भट्टारक भगवान् महावीर की वाणी का सारभूत रहस्य गुरु परम्परासे भले प्रकार अवगत था, जिन्होंने अपने वर्तमान जीवन काल में ही पूर्व महाविदेह स्थित भगवान् सीमन्धर स्वामीके साक्षात् दर्शन के साथ उनकी दिव्य ध्वनिको आत्मसात् किया था तथा अप्रमत्त भाव से प्रमत्त भाव में आनेपर जिनका शीतल और विवेकी चित्त करुणा भाव से ओतप्रोत होने के कारण संसारी प्राणियोंके परमार्थ स्वरूप हित साधन में निरंतर सन्नद्ध रहता था। आचार्यवरने श्री समयसार परमागममें अनादि मिथ्यात्व से प्लावित चित्तवाले मिथ्यादृष्टियोंके गृहीत ओर अगृहीत मिथ्यात्वको छुड़ाने के सद्भिप्रायवश द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे भिन्न एकत्वस्वरूप जिस आत्माके दर्शन कराये हैं और उसकी प्राप्तिका मार्ग सुस्पष्ट किया है वह पुरे जैन शासन का सार है। जिसके प्राप्त होने पर सिद्धस्वरूप आत्मा की साक्षात् प्राप्ति है ओर जिनके न प्राप्त होने पर भव बन्धनका रखड़ना है।

आत्मख्यातिवृत्ति

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस प्रकार साररूप अपूर्व प्रमेयको सुस्पष्ट करनेवाला यह ग्रंथराज है उसीप्रकार इसके हार्द को सरल, भावमयी और सुमधुर किन्तु सुस्पष्ट रचना द्वारा प्रकाशित करनेवाली तथा बुधजनों द्वारा स्मरणीय आचार्यवर अमृतचंद्र की आत्मख्याति वृत्ति है। यदि इसे वृत्ति न कह कर नय विशेष से श्री समयसार परमागमके स्वरूपको प्रकाशित करने वाला उसका आत्मभूत लक्षण कहा जाये तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्री समयसार परमागम की यह वृत्ति किस प्रयोजन से निबद्ध की गई है इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचंद्र तीसरे कलश में स्वयं लिखते हैं कि इस द्वारा शुद्धचिन्मात्र मूर्तिस्वरूप मेरे अनुभवरूप परिणतिकी परम विशुद्धि अर्थात् रागादि विभाव परिणति रहित उत्कृष्ट निर्मलता होओ। स्पष्ट है कि उन द्वारा स्वयं आत्मख्याति वृत्तिके विषय में ऐसा भाव व्यक्त करना उसी तथ्यको सूचित करता है जिसका हम पूर्व में निर्देश कर आये हैं। वस्तुतः आत्मख्याति वृत्ति का प्रतिपाद्य विषय श्री समयसार परमागम में प्रतिपादित रहस्य को सुस्पष्ट करता है।

इसलिये श्री समयसार परमागम का आत्मभूत लक्षण कहना उचित ही है। इसकी रचना की अपनी मौलिक विशेषता है। जहाँ यह श्री समयसार परमागम की प्रत्येक गाथाके गूढ़तम अध्यात्म विषयको एकलोली भावेस आत्मसात् करने में दक्ष हैं वहाँ यह बीच बीच में प्रतिपादित श्री जिनमन्दिरके कलशस्वरूप कलशों द्वारा विषय को साररूप में प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। कलशकाव्यों की रचना आसन्न भव्य जीवोंके हृदय रूपी कुमुद को विकसित करने वाली चन्द्रिका के समान इसी मनोहारिणी शैली का सुपरिणाम है। यह अमृत का निर्झर है और इसे निर्झरित करने वाले चन्द्रोपम आचार्य अमृतचंद्र हैं। लोक में जो अमरता प्रदान करनेवाले अमृत की प्रसिद्धि है, जान पड़ता है कि अमृत के निर्झर स्वरूप इस आत्मख्यातिवृत्ति से प्राप्त होनेवाली अमरता को दृष्टि में रखकर ही उक्त ख्याति ने लोक में प्रसिद्धि पाई है। अन्य हैं वे भगवन् कुन्दकुन्द, जिन्होंने समग्र परमागम का दोहन कर श्री समयसार परमागम द्वारा पुरे जिनशासन का दर्शन कराया। और धन्य हैं वे आचार्य अमृतचंद्र, जिन्होंने आत्मख्यातिवृत्ति की रचना कर पुरे जिनशासन का दर्शन कराया। और धन्य हैं वे आचार्य अमृतचंद्र, जिन्होंने आत्मख्यातिवृत्ति की रचना कर पुरे जिनशासनके दर्शन कराने में अपूर्व योगदान प्रदान किया।

समयसारकलश बालबोध टीका ----

ऐसे हैं ये दोनों श्री समयसार परमागम और उसके हार्द को सुस्पष्ट करनेवाली आत्मख्यातिवृत्ति। यह अपूर्व योग है कि कविवर राजमल्लजीने परोपदेशपूर्वक या तदनयरूप पूर्व संस्कारवश निसर्गतः उनके हार्द को हृदयंगम करके अपने जीवनकाल में प्राप्त विद्वत्ता का सदुपयोग साररूपसे निबद्ध कलशोंकी बालबोध टीकाको लिपिबद्ध करने में किया। यह टीका मोक्षमार्ग के अनुरूप अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करती है, इसलिये तो प्रमाण है ही। साथ ही वह जिनागम, गुरु-उपदेश, युक्ति और स्वानुभव प्रत्यक्षको प्रमाण कर लिखी गई है, इसलिये भी प्रमाण है; क्योंकि जो स्वरूपसे प्रमाण न हो उसमें परतः प्रमाणता नहीं आती ऐसा न्याय है। यद्यपि यह ढूँढ़ारी भाषा में लिखी गई है, फिर भी गद्य काव्य सम्बन्धी शैली और पदलालिप्त आदि सब विशेषताओं से ओत-प्रोत होने के कारण वह भव्यजनों के चित्तको आह्लाद उत्पन्न करने में समर्थ है। वस्तुतः इसकी रचना शैली और पदलालिप्त अपनी विशेषता है।

इसकी रचनाओं में कविवर सर्व प्रथम कलशगत अनेक पदोंके समुदायरूप वाक्यको स्वीकार कर आगे उसके प्रत्येक पदका पदगत शब्दका अर्थ स्पष्ट करते हुए उसका मथितार्थ क्या है वह लिपिबद्ध करनेके अभिप्राय से 'भावार्थ इस्यो' यह लिखकर उस वाक्य में निहित रहस्यको स्पष्ट करते हैं। टीका में यह पद्धति प्रायः सर्वत्र अपनाई गई है। यथा --

तत् नः अयं एकः आत्मा अस्तु -----तत् कहतां तिहि कारण तहि। नः कहतां हम कहं
अयं कहतां विद्यमान छै, एकः कहतां शुद्ध, आत्मा कहतां चेतन पदार्थ, अस्तु कहतां होउ।

भावार्थ इस्यो—जो जीव वस्तु चेतना लक्षण तौ सहज ही छै। परि मिथ्यात्व परिणाम करि भम्यो
होतो अपना स्वरूप कहु नहीं जाने छै। तिहिं सहि अज्ञानी ही कहिजे। तहि तहि इसौ कह्यौ जो
मिथ्या परिणमाके गया थी यौ ही जीव अपना स्वरूप कौ अनुभवन शीली होहु। कलश ६।

स्वभावतः खण्डान्वयरूपसे अर्थ लिखने की पद्धति में विशेषणों और तत्सम्बन्धी संदर्भ का
स्पष्टीकरण बाद में किया जाता है। ज्ञात होता है कि इस कारण उत्तर काल में प्रत्येक कलश के
प्रकृत अर्थको 'खण्डान्वय सहित अर्थ' पद द्वारा उल्लिखित किया जाने लगा है। किन्तु इसे स्वयं
कविवर ने स्वीकार किया होगा ऐसा नहीं जान पड़ता, क्योंकि इस पद्धति से अर्थ लिखते समय जो
शैली स्वीकार की जाती है वह इस टीका में अविकलरूप से दृष्टिगोचर नहीं होती।

टीका में दूसरी विशेषता अर्थ करने की पद्धति से सम्बंध रखती है, क्योंकि कविवर ने प्रत्येक
शब्दका अर्थ प्रायः शब्दानुगामिनी पद्धति से न करके भावानुगामिनी पद्धति से किया है। इससे प्रत्येक
कलश में कौन सा शब्द किस भावको लक्ष्य में रखकर प्रयुक्त किया गया है इसे समझने में बड़ी
सहायता मिलती है। इसप्रकार यह टीका प्रत्येक कलश के मात्र शब्दानुगामी अर्थ को स्पष्ट करने
वाली टीका न होकर उसके रहस्य को प्रकाशित करने वाली भाव प्रणव टीका है।

इसमें जो तीसरी विशेषता पाई जाती है वह आध्यात्मिक रहस्य को न समझनेवाले
महानुभवोंको उतनी रुचिकर प्रतीत भले ही न हो पर इतने मात्रसे उसकी महत्ता कम नहीं की जा
सकती। उदाहरणार्थ तीसरे कलश को लीजिये। इसमें षष्ठ्यन्त 'अनुभूतेः' पद और उसके
विशेषणरूप प्रयुक्त हुआ पद स्त्रीलिंग होनेपर भी उसे 'मम' का विशेषण बनाया गया है। कविवरने
ऐसा करते हुए 'जो जिस समय जिस भाव से परिणत होता है, तन्मय होता है' इस सिद्धान्त को
ध्यान में रखा है। प्रकृत में सार बात यह है कि कवि अपने द्वारा किये गये अर्थ द्वारा यह सूचित
करते हैं कि यद्यपि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मा चिन्मात्रमूर्ति है, तथापि अनुभूति में कल्मशता शेष है
तत्सवरूप मेरी परम विशुद्धि होओ अर्थात् राग का विकल्प दूर होकर स्वभाव लक्ष्य से उत्पन्न हुई
पर्याय को तन्मयरूपसे ही अनुभवता है। आचार्य अमृतचंद्र द्वारा भेद विवक्षा से किये गये कथन में
यह अर्थ गर्भित है यह कविवरके उक्त प्रकारसे किये गये अर्थका तात्पर्य है। यह गूढ़ रहस्य है जो
तत्त्वदृष्टि के अनुभव में ही आ सकता है।

इसप्रकार यह टीका यहाँ अर्थगत अनेक विशेषताओंको लिये हुए हैं वहाँ इस द्वारा अनेक रहस्यों पर भी सुन्दर प्रकाश डाला गया है। तथा -----

नमः समयसाराय [क . १] -----समयसारको नमस्कार हो। अन्य पुद्गलादि द्रव्यों और संसारी जीवोंको नमस्कार न कर अमुक विशेषणोंसे युक्त समयसारको ही क्यों नमस्कार किया है? यह रहस्य क्या है? प्रयोजन को जाने बिना मन्द पुरुष भी प्रवृत्ति नहीं करता ऐसा न्याय है। कविवर के सामने यह समस्या थी। उसी समस्या के समाधान स्वरूप वे 'समयसार' पद में आये हुए 'सार' पद से व्यक्त होनेवाले रहस्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-----

‘शुद्धजीवके सारपना घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी। जो हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुःख जानना। कारण की अजीव पदार्थ पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल के और संसारी जीव के सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं है और उनका स्वरूप जानने पर जाननहारे जीव को भी सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, इसलिये इनके सारपना घटता नहीं। शुद्ध जीव के सुख है, ज्ञान भी है, उनको जानने पर---अनुभवने पर जाननहारे को सुख है, ज्ञान भी है, इसलिये शुद्ध जीव के सारपना घटता है।’

ये कविवर के सप्रयोजन भाव भरे शब्द हैं। इन्हें पढ़ते ही कविवर दौलतरामजीके छह-ढालाके ये वचन चित्तको आकर्षित कर लेते हैं---

तीन भुवन के सार वीतराग विज्ञानता ।
शिवस्वरूप शिवकार नमहुँ त्रियोग सम्हारके ॥ १॥
आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिवमांहि न, तातें शिवमग लाग्यो चाहिये ॥

मालूम पड़ता है कि कविवर दौलतरामजी के समक्ष यह टीका वचन था। उसे लक्ष्य में रखकर ही उन्होंने इन साररूप छन्दों की रचना की।

प्रत्यगात्मनः [क . २]-----दूसरे कलश द्वारा अनेकान्त स्वरूप भाववचन के साथ स्याद्वादमयी दिव्यध्वनिकी स्तुति की गई है। अतएव प्रश्न हुआ कि वाणी तो पुद्गलरूप अचेतन है, उसे नमस्कार कैसा? इस समस्त प्रसंग को ध्यान में रख कर कविवर कहते हैं---

‘ कोई वितर्क करेगा कि दिव्यध्वनी तो पुद्गलात्मक है, अचेतन है, अचेतन को नमस्कार निषिद्ध है। उसके प्रति समाधान करने के निमित्त यह अर्थ कहा कि वाणी सर्वज्ञस्वरूप-अनुसारिणी है। ऐसा माने बिना भी बने नहीं। उसका विवरण---वाणी तो अचेतन है। उसको सुनने पर जीवादि पदार्थ का स्वरूप ज्ञान जिस प्रकार उपजता है उसी प्रकार जानना---वाणी का पूज्यपना भी है।’

कविवर के इस वचनों से दो बातें ज्ञात होती हैं---प्रथम तो यह कि दिव्यध्वनि उसीका नाम जो सर्वज्ञके स्वरूपके अनुरूप वस्तुस्वभावका प्रतिपादन करती है। इसी तथ्यको स्पष्ट करने के अभिप्रायसे कविवरने ‘प्रत्यगात्मन्’ शब्दका अर्थ सर्वज्ञ वीतराग किया है जो युक्त है।

दूसरी बात यह ज्ञात होती है कि सर्वज्ञ वीतराग और दिव्यध्वनि इन दोनोंके मध्य निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध हैं। दिव्यध्वनि की प्रामाणिकताभी इसी कारण व्यवहार पदवी को प्राप्त होती है। स्वतः सिद्ध इसी भाव को व्यक्त करने वाला कविवर दौलतरामजी का यह वचन ज्ञातव्य है।-----

भविभागनि जोगे वसाय।
तुम धुनि है सुनि विभ्रम नसाय ॥

जिनवचसी रमन्ते [क . ४]----- इस पदका भाव स्पष्ट करते हुए कविवर ने जो कुछ अपूर्व अर्थका उद्घाटन किया है वह हृदयंगम करने योग्य है। वे लिखते हैं-----

‘वचन पुद्गल है उसकी रुचि करने पर स्वरूप की प्राप्ति नहीं। इसलिये वचन के द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेय वस्तु उसका अनुभव करने पर फल प्राप्ति है।’

कविवर ने ‘जिनवचनसी रमन्ते’ पद का यह अर्थ उसी कलश के उत्तरार्द्ध को दृष्टि में रखकर किया। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों नयों के विषयों को जानना एक बात है और जानकर निश्चय नयके विषयभूत शुद्ध वस्तुका आश्रय लेकर उसमें रममाण होना दूसरी बात है। कविवर ने उक्त शब्दों द्वारा इसी आशय को अभिव्यक्त किया है।

प्राक्पदव्यां [क . ५]-----अर्वाचीनपदव्यां१ -----व्यवहारपदव्यां२। ज्ञानी जीवकी दो अवस्थाएँ होती है---सविकल्प दशा और निर्विकल्प दशा। प्रकृतमे ‘प्रक्पदवीं’ पद का अर्थ ‘सविकल्प दशा’ है। इस द्वारा यह अर्थ स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि सविकल्प दशा में व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, परन्तु अनुभूति अवस्था में [निर्विकल्प दशा में] उसका कोई प्रयोजन नहीं। इस भाव को कविवर इन शब्दों में स्पष्ट करते हुए लिखते हैं-----

‘जो कोई सहज रूप से, अज्ञानी [मन्दज्ञानी] हैं, जीवादि पदार्थोंका द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप जानने के अभिलाषी हैं, उनके लिये गुण-गुणी भेदरूप कथन योग्य है।’

नवतत्त्वगत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति [क . ७]-----जीववस्तु नौ तत्त्वरूप होकर भी अपने एकत्वका त्याग नहीं करती इस तथ्यको समझानेका कविवरका दृष्टिकोण अनूठा है। उन्हीं के शब्दों में पढ़िये-----

‘जैसे अग्नि दाहक लक्षणवाली है, वह काष्ठ, तृण, कण्डा आदि समस्त दाह्यको दहाती है, दहाती हुई अग्नि दाह्यकार होती है, पर उसका विचार है कि जो उसे काष्ठ, तृण और कण्डे की आकृति में देखा जाये तो काष्ठ की अग्नि, तृणकी अग्नि और कण्डे की अग्नि ऐसा कहना साँचा ही है। और जो अग्नि की उष्णता मात्र विचारा जाये तो उष्ण-मात्र है। काष्ठ की अग्नि, तृण की अग्नि और कण्डेकी अग्नि ऐसे समस्त विकल्प झूठे हैं। उसीप्रकार नौ तत्त्वरूप जीवके परिणाम हैं। वे परिणाम कितने ही शुद्धरूप हैं, कितने ही अशुद्धरूप हैं। जो नौ परिणाममें ही देखा जाये तो नौ ही तत्त्व साँचे हैं ओ जो चेतनमात्र अनुभव किया जाये तो नौ ही विकल्प झूठे हैं।’

इसी तथ्य को कलश ८ में स्वर्ण और वानभेदको दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत कर कविवर ने और भी आलंकारिक भाषा द्वारा समझाया है। यथा-----

‘स्वर्णमात्र न देखा जाय, वानभेदमात्र देखा जाये तो वान भेद है; स्वर्ण की शक्ति ऐसी भी है। जो वान भेद न देखा जाय, केवल स्वर्णमात्र देखा जाय तो वानभेद झूठा है। इसीप्रकार जो शुद्ध जीव वस्तुमात्र न देखी जाय, गुणपर्याय मात्र या उत्पाद-व्यय-धौव्य-मात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय हैं तथा उत्पाद-व्यय-धौव्य हैं; जीव वस्तु ऐसी भी है। जो गुण पर्याय भेद या उत्पाद-व्यय-धौव्य भेद न देखा जाय, वस्तु मात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।’

उदयति न नयश्रीः [क . ९]----- अनुभव क्या है और अनुभवके कालमें जीवकी कैसी अवस्था होती है उसे स्पष्ट करते हुए कविने जो वचन प्रयोग किया है वह अद्भुत है। रसास्वाद कीजिए-----

‘अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान है अर्थात् वेद्य-वेदकभाव से आस्वादरूप है और वह अनुभव परसहाय से निरपेक्ष है। ऐसा अनुभव यद्यपि ज्ञान विशेष है तथापि सम्यक्त्व के साथ अविनाभूत है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टि के होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता है ऐसा निश्चय है। ऐसा अनुभव होने पर जीव वस्तु अपने शुद्धस्वरूप को प्रत्यक्ष रूप से आस्वादती है, इसलिये जितने काल तक अनुभव होता है उतने काल तक वचन व्यवहार सहज ही बन्द रहता है।’

इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए वे आगे लिखते हैं-----

‘जो अनुभव के आने पर प्रमाण-नय-निक्षेप ही झूठा है। वहाँ रागादि विकलपोंकी क्या कथा। भावार्थ इसप्रकार है-जो रागादि तो झूठे ही हैं, जीव स्वरूप से बाह्य हैं। प्रमाण-नय-निक्षेप बुद्धिके द्वारा एक ही जीवद्रव्य का द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-धौव्य भेद किया जाया है, वे समस्त झूठे हैं। इन सबके झूठे होने पर जो कुछ वस्तुका स्वाद है सो अनुभव है।’

इसी तथ्य को कलश १० की टीका में इन शब्दों में व्यक्त किया है-----

‘समस्त संकल्प-विकल्प से रहित वस्तुस्वरूपका अनुभव सम्यक्त्व है।’

रागादि परिणाम अथवा सुण-दुःख परिणाम स्वभाव परिणति से बाह्य कैसे हैं इसका ज्ञान कराते हुए कलश ११ की टीका में कविवर कहते हैं-----

‘यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जीवको तो शुद्धस्वरूप कहा और वह ऐसा ही है परन्तु राग-द्वेष मोहरूप परिणामोंको अथवा सुख-दुःख आदि रूप परिणामों को कौन करता है, कौन भोगता है? उत्तर इस प्रकार है कि इन परिणामोंको करे तो जीव करता है और जीव भोगता है। परन्तु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है। इस कारण निज स्वरूप विचारने पर यह जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा कहा जाता है।’

शुद्धात्मानुभव किसे कहते हैं इसका स्पष्टीकरण कलश १३ की टीका में पढ़िये-----

‘निरूपाधिरूप से जीव द्रव्य जैसा है वैसा ही प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद आवे इसका नाम शुद्धात्मानुभव है।’

द्वादशांगज्ञान और शुद्धात्मानुभव में क्या अंतर है इसका जिन सुन्दर शब्दोंमें कविवर ने कलश १४ की टीका में स्पष्टीकरण किया है वह ज्ञातव्य है-----

‘इस प्रसंग में और भी संशय होता है कि द्वादशांगज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिये शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।’

मोक्ष जाने में द्रव्यान्तर का सहारा क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण कविवर ने कलश १५ की टीकामें धन शब्दों में किया है-----

‘एक ही जीव द्रव्य कारण रूप भी अपने में ही परिणमता है और कार्यरूप भी अपने में परिणमता है। इस कारण मोक्ष जाने में किसी द्रव्यान्तरका सहारा नहीं है, इसलिये शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिये।’

शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है मात्र ऐसा जानना कार्यकारी नहीं। तो क्या है इसका स्पष्टीकरण कलश २३ की टीका में पढ़िये -----

‘शरीर तो अचेतन है, विनश्वर है। शरीर से भिन्न तो पुरुष है ऐसा जानपना ऐसी प्रतीति मिथ्यादृष्टि जीव के भी होती है पर साध्यसिद्धि तो कुछ नहीं। जब जीव द्रव्यका द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप प्रत्यक्ष आस्वाद आता है तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है, सकल कर्मक्षय मोक्ष लक्षण भी है।’

जो शरीर सुख-दुःख राग-द्वेष-मोह की त्यागबुद्धिको कारण और चिद्रूप आत्मानुभवको कार्य मानते हैं उनको समझाते हुए कविवर कलश २९ में क्या कहते हैं यह उन्हीं के सम्पर्क शब्दों में पढ़िये -----

‘कोई जानेगा कि जितना भी शरीर, सुख, दुःख, राग, द्वेष, मोह है उसकी त्यागबुद्धि कुछ अन्य है---कारणरूप है। तथा शुद्ध चिद्रूपमात्रका अनुभव कुछ अन्य है ---कार्यरूप है। उसके प्रति उत्तर इसप्रकार है कि राग, द्वेष, मोह, शरीर, सुख, दुःख आदि विभाव पर्यायरूप परिणति हुए जीवका जिस काल में ऐसा अशुद्ध परिणामरूप संस्कार छूट जाता है उसी काल में इसके अनुभव है। उसका विवरण---जो शुद्धचेतनामात्र का अस्वाद आये बिना अशुद्ध भावरूप परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता नहीं। इसलिये जो कुछ है सो एक ही काल, एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान, एक ही स्वाद है।’

जो समझाते हैं कि जैन सिद्ध का बार बार अभ्यास करने से जो दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है। कविवर उनकी इस धारणाको कलश ३० में ठीक न बतलाते हुए लिखते हैं-----

‘कोई जानेगा कि जैन सिद्धान्तका बारबार अभ्यास करनेसे दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है। कविवर उनका नाम अनुभव है सो ऐसा नहीं है। मिथ्यात्वकर्मका रसपाक मिटने पर मिथ्यात्वभावरूप परिणमन मिटता है तो वस्तुस्वरूपका प्रत्यक्षरूप से आस्वाद आता है, उसका नाम अनुभव है।’

विधि प्रतिषेधरूपसे जीवका स्वरूप क्या है इसे स्पष्ट लरते हुए कलश ३३ की टीका में बतलाया है--

‘शुद्ध जीव है। टंकोत्कीर्ण है, चिद्रूप है ऐसा कहना विधि कही जाती है। जीवका स्वरूप गुणस्थान नहीं, कर्म-नोकर्म जीव नहीं, भावकर्म जीवका नहीं ऐसा कहना प्रतिषेध कहलाता है।’

हेय उपाधेय का ज्ञान कराते हुए कलश ३६ की टीका में कहा है---

‘जितनी कुछ कर्म जाति है वह समस्त हेय है। उसमें कोई कर्म उपादेय नहीं है।’

इसलिये क्या कर्तव्य है इस बात को स्पष्ट करते हुए उसी में बतलाया है---

‘जितने भी विभाव परिणाम हैं वे सब जीव के नहीं हैं। शुद्ध चैतन्यमात्र जीव है ऐसा अनुभव कर्तव्य है।’

कलश ३७ की टीका में इसी तथ्य को पुनः स्पष्ट करते हुए लिखा है-----

‘वर्णादिक और रागादि विद्यमान दिखाई पड़ते हैं। तथापि स्वरूप अनुभवने पर स्वरूप मात्र है, विभाव-परिणतिरूप वस्तु तो कुछ नहीं।’

कर्म बन्ध पर्याय से जीव कैसे भिन्न है इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कलश ४४ की टीका में कहा है---

‘जिसप्रकार पानी कीचड़ के मिलने पर मैला है। सो वह मैलापन रंग है, सो रंग को अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो पानी है। उसीप्रकार जीव की कर्मबन्ध पर्यायरूप अवस्था में रागादि भाव रंग हैं, सो रंग को अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो चेतन धातुमात्र वस्तु है। इसीका नाम शुद्ध स्वरूप अनुभव जानना जो सम्यग्दृष्टि के होता है।’

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए कलश ४५ की टीका में लिखा है-----

‘जिसप्रकार स्वर्ण और पाषाण मिले हुए चले आ रहे हैं और भिन्न भिन्न रूप हैं। तथापि अग्निका संयोग जब ही पाते हैं तभी तत्काल भिन्न भिन्न होते हैं। उसी प्रकार जीव और कर्मका संयोग अनादि से चला आ रहा है और जीव कर्म भिन्न भिन्न हैं। तथापि शुद्ध स्वरूप अनुभव बिना प्रगटरूपसे भिन्न भिन्न होते नहीं, जिस काल शुद्ध स्वरूप अनुभव होता है उस काल भिन्न-भिन्न होते हैं।’

विपरीत बुद्धि और कर्म बन्ध मिटने के उपायका निर्देश करते हुए कलश ४७ की टीका में लिखा है---

‘जैसे सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार को अवसर नहीं, वैसे शुद्धस्वरूप अनुभव होने पर विपरीत रूप मिथ्यात्वबुद्धिका प्रवेश नहीं। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि शुद्धज्ञान का अनुभव होने पर विपरीत बुद्धिमात्र मिटती है कि कर्मबन्ध मिटता है? उत्तर इसप्रकार है कि विपरीत बुद्धि मिटती है, कर्मबन्ध भी मिटता है।’

कर्ता-कर्म का विस्तार करते हुए कलश ४९ की टीका में लिखा है---

‘जैसे उपचारमात्र से द्रव्य अपने परिणाममात्र का कर्ता है, वही परिणाम द्रव्यका किया हुआ है वैसे अन्य द्रव्य उपचारमात्र से भी नहीं है, क्योंकि एकसत्त्व नहीं, भिन्न सत्त्व है।’

जीव और कर्मका परस्पर क्या सम्बन्ध है इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कलश ५० की टीका में लिखा है---

‘जीवद्रव्य ज्ञाता है, पुद्गलकर्म ज्ञेय है ऐसा कर्म को ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, तथापि वयाप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं है, द्रव्योंका अत्यन्त भिन्नपना है, एकपना नहीं है।’

कर्ता-कर्म-क्रिया का ज्ञान कराते हुए कलश ५१ की टीका में पुनः लिखा है---

‘कर्ता-कर्म-क्रियाका स्वरूप तो इसप्रकार है, इसलिये ज्ञानावरणादि द्रव्य पिण्डरूप कर्मका कर्ता जीवद्रव्य है ऐसा जानना झूठा है, क्योंकि जीवद्रव्यका और पुद्गलद्रव्यका एक सत्त्व नहीं; कर्ता-कर्म-क्रिया की कौन घटना?’

इसी तथ्य को कलश ५२-५३ में पुनः स्पष्ट किया है---

‘ज्ञानावरणादि द्रव्यरूप पुद्गलपिण्ड कर्मका कर्ता जीववस्तु है ऐसा जानपना मिथ्याज्ञान है, क्योंकि इस सत्त्व में कर्ता-कर्म-क्रिया उपचार मात्र से कहा जाता है। भिन्न सत्त्वरूप है जो जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य उनको कर्ता-कर्म-क्रिया कहाँ से घटेगा?’

‘जीवद्रव्य-पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्त्वरूप हैं सो जो पहले भिन्न सत्तापन छोड़कर एक सत्त्वरूप हों तो पकें कर्ता-कर्म-क्रियापना घटित हो। सो तो एकरूप होते नहीं, इसलिये जीव-पुद्गलका आपसमें कर्ता-कर्म-क्रियापना घटित नहीं होता।’

जीव अज्ञान से विभाव का कर्ता है इसे स्पष्ट करते हुए कलश ५८ की टीका में लिखा है —

‘जैसे समुद्र का स्वरूप निश्चल है, वायु से प्रेरित होकर उछलता है और उछलने का कर्ता भी होता है, वैसे ही जीव द्रव्यस्वरूपसे अकर्ता है। कर्म संयोगसे विभावरूप परिणमता है, इसलिये विभावपनेका कर्ता भी होता है। परन्तु अज्ञानसे, स्वभाव तो नहीं।’

जीव अपने परिणामका कर्ता क्यों है और पुद्गल कर्मका कर्ता क्यों नहीं इसका स्पष्टीकरण कलश ६१ की टीका में इसप्रकार किया है-----

‘जीवद्रव्य अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है, शुद्ध चेतनारूप परिणमता है, इसलिये जिस काल में जिस चेतना रूप परिणमता है उस काल में उसी चेतना के साथ व्याप्य-व्यापकरूप है, इसलिये उस काल में उसी चेतना का कर्ता है। तो भी पुद्गल पिण्डरूप जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उसके साथ तो व्याप्य-व्यापकरूप तो नहीं है। इसलिये उसका कर्ता नहीं है।’

जीवके रागादिभाव और कर्मपरिणाम में निमित्त-नैमित्तिक भाव क्यों है, कर्ता-कर्मपना क्यों नहीं इसका स्पष्टीकरण कलश ६८ की टीका में इसप्रकार किया है---

‘जैसे कलशरूप मृत्तिका परिणमती है, जैसे कुम्हारका परिणाम उसका बाह्य निमित्त कारण है, व्याप्य-व्यापकरूप नहीं है उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म पिण्डरूप पुद्गल स्वयं व्याप्य-व्यापकरूप है। तथापि जीवका अशुद्धचेतनारूप मोह, राग, द्वेषादि परिणाम बाह्य निमित्त कारण है, व्याप्य-व्यापकरूप तो नहीं है।’

वस्तुमात्रका अनुभवशीली जीव परम सुखी कैसे है इसे स्पष्ट करते हुए कलश ६९ को टीका में कहा है---

‘जो एक सत्त्वरूप वस्तु है, उसका द्रव्य-गुण-पर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-धौव्यरूप विचार करने पर विकल्प होता है, उस विकल्प के होने पर मन आकुल होता है, आकुलता दुःख है, इसलिये वस्तुमात्र के अनुभवने पर विकल्प मिटता है, विकल्प के मिटने पर आकुलता मिटती है, आकुलता के मिटने पर दुःख मिटता है। इससे अनुभवशीली जीव परम सुखी है।’

स्वभाव और कर्मोपाधिमें अंतरको दिखलाते हुए कलश ९१ की टीका में लिखा है—

‘जैसे सूर्यका प्रकाश होने पर अंधकार फट जाता है उसीप्रकार शुद्धचैतन्यमात्रका अनुभव होने पर यावत् समस्त विकल्प मिट जाते हैं। ऐसी शुद्धचैतन्य वस्तु है सो मेरा स्वभाव, अन्य समस्त कर्म की उपाधि है।’

नय विकल्पके मिटने के उपायका निर्देश करते हुए कलश ९२-९३ की टीका में लिखा है—

‘शुद्धस्वरूपका अनुभव होने पर जिसप्रकार नयविकल्प मिटते हैं उसीप्रकार समस्त कर्मके उदय से होनेवाले जितने भाव हैं वे भी अवश्य मिटते हैं ऐसा स्वभाव है।’

जीव अज्ञान भाव का कब कर्ता है कब अकर्ता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश ९४ की टीका में लिखा है—

‘कोई ऐसा मानेगा की जीव द्रव्य सदा अकर्ता है उसके प्रति ऐसा समाधान कि जितने काल तक जीवका सम्यक्त्व गुण प्रगट नहीं होता उतने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि हो तो अशुद्ध परिणाम का कर्ता होता है। सो जब सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है तब अशुद्ध परिणाम मिटता है, तब अशुद्ध परिणाम का कर्ता नहीं होता।’

अशुभ कर्म बुरा और शुभ कर्म भला ऐसी मान्यता अज्ञानका फल है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०० की टीका में लिखा है—

‘जैसे अशुभ कर्म जीव को दुःख करता है उसीप्रकार शुभकर्म भी जीवको दुःख करता है। कर्म में तो भला कोई नहीं है। अपने मोह को लिये हुए मिथ्यादृष्टि जीव कर्मको भला करके मानता है। ऐसी भेद प्रतीति शुद्ध स्वरूपका अनुभव हुआ तबसे पाई जाती है।’

शुभोपयोग भला, उससे क्रम से कर्म निर्जरा होकर मोक्ष प्राप्ति होती है यह मान्यता कैसे झूठी है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०१ की टीका में लिखा है—

‘कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ यतिक्रिया में मग्न होता हुआ शुद्धोपयोग को नहीं जानता, केवल यतिक्रियामात्र मग्न है। वह जीव ऐसा मानता है कि मैं तो मुनीश्वर, हमको विषय-कषाय सामग्री निषिद्ध है। ऐसा जानकर विषय-कषाय सामग्री को छोड़ता है, आपको धन्यपना मानता है, मोक्षमार्ग मानता है। सो विचार करने पर ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्मबन्ध को करता है, कोई भलापन तो नहीं है।’

क्रिया संस्कार छूटने पर ही शुद्धस्वरूपका अनुभव संभव है इसका स्पष्टीकरण कलश १०४ की टीका में इसप्रकार किया है-----

‘शुभ-अशुभ क्रिया में मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है, इससे दुःखी है। क्रिया संस्कार छूटकर शुद्धस्वरूपका अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है, इससे सुखी है।’

कैसा अनुभव होने पर मोक्ष होता है इसका स्पष्टीकरण कलश १०५ की टीका में इसप्रकार किया है-----

‘जीवका स्वरूप सदा कर्म से मुक्ति है। उसको अनुभवने पर मोक्ष होता है ऐसा घटता है, विरुद्ध तो नहीं।’

स्वरूपाचरण चारित्र क्या है इसका स्पष्टीकरण कलश १०६ की टीका में इस प्रकार किया है—

‘कोई जानेगा कि स्वरूपाचरण चारित्र ऐसा कहा जाता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूपको विचारे अथवा चिन्तवे अथवा एकाग्ररूपसे मग्न होकर अनुभवे। सो ऐसा तो नहीं, उसके करने पर बन्ध होता है, क्योंकि ऐसा तो स्वरूपाचरण चारित्र नहीं है। तो स्वरूपाचरण चारित्र कैसा है? जिप्रकार पन्ना [सुवर्णपत्र] पकाने से सुवर्णमें की कालीमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है उसी प्रकार जीवके अनादि से अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणम था, वह जाता है, शुद्ध स्वरूपमात्र शुद्ध चेतनारूप जीव द्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र कहा जाता है, ऐसा मोक्षमार्ग है।’

शुभ-अशुभ क्रिया आदि बन्धका कारण है इसका निर्देश करते हुए कलश १०७ की टीका में लिखा है-----

‘जो शुभ-अशुभ क्रिया, सूक्ष्म-स्थूल अंतर्जल्प बहिर्जल्परूप जितना विकल्परूप आचरण है वह सब कर्मका उदयरूप परिणमन है, जीवका शुद्ध परिणमन नहीं है, इसलिये समस्त ही आचरण मोक्षका कारण नहीं है, बन्धका कारण है।’

विषय-कषाय के समान व्यवहार चारित्र दुष्ट है इसका स्पष्टीकरण करते हुए कलश १०८ में लिखा है-----

‘यहाँ कोई जानेगा कि शुभ-अशुभ क्रियारूप में जो आचरणरूप चारित्र है सो करने योग्य नहीं है उसी प्रकार वर्जन करने योग्य भी नहीं है? उत्तर इसप्रकार है---वर्जन करने योग्य है। कारण कि व्यवहार चारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसलिये विषय-कषाय के समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है।’

[कलश १०९] ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहनेका कारण—

‘कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र इन तीन का मिला हुआ है, यहाँ ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहा सो क्यों कहा? उसका समाधान ऐसा है—शुद्धस्वरूप ज्ञानमें सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र सहज ही गर्भित हैं, इसलिये दोष तो कुछ नहीं, गुण है।’

[कलश ११०] मिथ्यादृष्टि के समान सम्यग्दृष्टिका शुभ क्रियारूप यतिपना भी मोक्षका कारण नहीं है इसका खुलासा—

‘यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा जो मिथ्यादृष्टि यतिपना क्रियारूप है सो बन्धका कारण है, सम्यग्दृष्टि है जो यतिपना शुभ क्रियारूप सो मोक्षका कारण है। कारण कि अनुभव ज्ञान तथा दया व्रत तप संयमरूप क्रिया दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मका क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं। वहाँ समाधान ऐसा—जितनी शुभ—अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप अथवा दोनोंका विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूपका विचार इत्यादि समस्त कर्म बन्धका कारण है। ऐसी क्रिया का ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिका ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूति से ऐसा बन्ध है। शुद्धस्वरूप परिणमनमात्र से मोक्ष है। यद्यपि एक ही काल में सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणाम भी हैं। तथापि क्रियारूप है जो परिणाम उससे अकेला बन्ध होता है। ऐसा वस्तुका स्वरूप, सहारा किसका। उसी समय शुद्धस्वरूप अनुभव ज्ञान भी है। उसी समय ज्ञानसे कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी बन्ध नहीं होता है। वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है।’

[कलश ११२] समस्त क्रियामें ममत्वके त्यागके उपायका कथन—

‘जितनी क्रिया है वह सब मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान समस्त क्रिया में ममत्वका त्याग कर शुद्ध ज्ञान मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ।’

[कलश ११४] स्वभावप्राप्ति और विभावत्याग का एक ही काल है—

‘जिस काल शुद्ध चैतन्य वस्तुकी प्राप्ति होती है उसी काल मिथ्यात्व—राग—द्वेषरूप जीवका परिणाम मिटता है, इसलिये एक ही काल है, समयका अन्तर नहीं है।’

[कलश ११५] सम्यग्दृष्टि जीवके द्रव्यास्रव और भावास्रवसे रहित होनेके कारणका निर्देश—

‘आस्रव दो प्रकारका है। विवरण—एक द्राव्यास्रव है। एक भावास्रव है। द्रव्यास्रव कहने पर कर्मरूप बैठे हैं आत्मामें प्रदेशों में पुद्गलपिण्ड, ऐसे द्रव्यास्रवसे जीव स्वभाव ही से रहित है। यद्यपि जीव के प्रदेश, कर्मपुद्गलपिण्ड के प्रदेश एक ही क्षेत्र में रहते हैं तथापि परस्पर एक द्रव्यरूप नहीं होते, अपने अपने द्रव्य—गुण—पर्याय रूप रहते हैं। इसलिये पुद्गलपिण्ड से जीव भिन्न है।’

भावास्रव कहने पर मोह, राग, द्वेषरूप विभाव अशुद्ध चेतन परिणाम सो ऐसा परिणाम यद्यपि जीव के मिथ्यादृष्टि अवस्थामें विद्यमान ही था तथापि सम्यक्त्वरूप परिणमने पर अशुद्ध परिणाम मिटा। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव भावास्रव से रहित है। इससे ऐसा अर्थ निपजा कि सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है।’

[कलश ११९] सम्यग्दृष्टि कर्मबन्ध कर्ता क्यों नहीं इसका निर्देश-----

‘कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्रमोहका उदय तो है, वह उदयमात्र होनेपर आगामी ज्ञानावरणादि कर्म का बन्ध होता होगा? समाधान इस प्रकार है--- चारित्रमोह का उदयमात्र होने पर बन्ध नहीं है। उदय होनेपर जो जीवके राग, द्वेष, मोह परिणाम हो तो कर्मबन्ध होता है, अन्यथा सहस्र कारण हो तो भी कर्मबन्ध नहीं होता। राग, द्वेष, मोह परिणाम भी मिथ्यात्व कर्म के उदयके सहारा है, मिथ्यात्व के जाने पर अकेले चारित्रमोह के उदय के सहाराका राग, द्वेष, मोह परिणाम नहीं है। इस कारण सम्यग्दृष्टिके राग, द्वेष, मोह परिणाम होता नहीं, इसलिये कर्मबन्धका कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता।’

[कलश १२१] सम्यग्दृष्टिके बन्ध नहीं है तात्पर्य-----

‘जब जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब चारित्रमोहके उदयमें बन्ध होता है, परन्तु बन्धशक्ति हीन होती है, इसलिये बन्ध नहीं कहलाता।’

[कलश १२४] निर्विकल्पका अर्थ काष्ठ के समान जड़ नहीं इस तथ्यका खुलासा-----

‘शुद्धस्वरूपके अनुभवके काल जीव काष्ठके समान जड़ है ऐसा भी नहीं है, सामान्यतया सविकल्पी जीवके समान विकल्पी भी नहीं है, भावश्रुतज्ञानके द्वारा कुछ निर्विकल्प वस्तुमात्रको अवलम्बता है।’

[कलश १२५] शुद्धज्ञान में जतिपना कैसे घटता है-----

‘आस्रव तथा संवर परस्पर अति ही वैरी है, इसलिये अनन्त कालसे लेकर सर्व जीवराशि विभाव मिथ्यात्वरूप परिणमता है, इस कारण शुद्ध ज्ञान का प्रकाश नहीं है। इसलिये आस्रव के सहारे सर्व जीव हैं। काललब्धि पाकर कोई आसन्न भव्य जीव सम्यक्त्वरूप स्वभाव परिणति परिणमता है, इससे शुद्ध प्रकाश प्रगट होता है, इससे कर्मका आस्रव मिटता है, इससे शुद्ध ज्ञानका जीतपना घटित होता है।’

[कलश १३०] भेदज्ञान भी विकल्प है इसका सकारण निर्देश-----

‘निरन्तर शुद्ध स्वरूपका अनुभव कर्तव्य है। जिस काल सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष होगा उस काल समस्त विकल्प सहज ही छूट जायेंगे। वहाँ भेदविज्ञान भी एक विकल्प रूप है, केवलज्ञानके समान जीवका शुद्ध स्वरूप नहीं है, इसलिये सहज ही विनाशीक है।’

[कलश १३३] निर्जरा का स्वरूप-----

‘संवरपूर्वक जो निर्जरा सो निर्जरा, क्योंकि जो संवर के बिना होती है सब जीवों को उदय देकर कर्मकी निर्जरा सो निर्जरा नहीं है।’

[कलश १३९] हेयोपदेय विचार-----

शुद्धचिद्रूप उपादेय, अन्य समस्त हेय।

[कलश १४१] विकल्प का कारण-----

‘कोई ऐसा मानेगा कि जितनी ज्ञानकी पर्याय है वे समस्त अशुद्धरूप हैं सो ऐसा तो नहीं, कारण कि जिस प्रकार ज्ञान शुद्ध है उसी प्रकार ज्ञानकी पर्याय वस्तुका स्वरूप है, इसलिये शुद्धस्वरूप है। परन्तु एक विशेष-----पर्यायमात्र का अवधारण करने पर विकल्प उत्पन्न होता है, अनुभव निर्विकल्प है, इसलिये वस्तुमात्र अनुभवने पर समस्त पर्याय भी ज्ञानमात्र है, इसलिये ज्ञानमात्र अनुभव योग्य है।’

[कलश १४४] अनुभव ही चिन्तामणि रत्न है-----

‘जिसप्रकार किसी पुण्यवान् जीव के हाथमें चिन्तामणी रत्न होता है, उससे सब मनोरथ पूरा होता है, वह जीव लोहा, ताँबा, रूपा ऐसे धातुका संग्रह करता नहीं उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके पास शुद्ध स्वरूप अनुभव ऐसा चिन्तामणी रत्न है, उसके द्वारा सकल कर्मक्षय होता है। परमात्मपद की प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति होती है। वह सम्यग्दृष्टि जीव शुभ अशुभ रूप अनेक क्रियाविकल्प का संग्रह करता नहीं, कारण कि इनसे कायर सिद्धि होती नहीं।’

[कलश १६३] कर्मबन्ध के मेटने का उपाय-----

‘जिसप्रकार किसी जीवको मदिरा पिला कर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पद से भ्रष्ट किया जाता है उसी प्रकार अनादि काल से लेकर सर्व जीव राशि राग-द्वेष-मोह रूप अशुद्ध परिणाम से मतवाली हुई है। इससे ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध होता है। ऐसे बन्धको शुद्ध ज्ञानका अनुभव मेटन शील है, इसलिये शुद्धज्ञान उपादेय है।’

[कलश १७५] द्रव्यके परिणामके कारणों का निर्देश-----

‘द्रव्य के परिणाम का कारण दो प्रकार है-----एक उपादान कारण है, एक निमित्त कारण है। उपादान कारण द्रव्यके अंतर्गमित है अपने परिणाम पर्याय रूप परिणमन शक्ति वह तो जिस द्रव्यकी उसी द्रव्य में होती है, ऐसा निश्चय है।

निमित्त कारण—जिस द्रव्यका संयोग प्राप्त होनेसे अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है, वह तो जिस द्रव्य की उस द्रव्य में होती है, अन्य द्रव्य गोचर नहीं होती ऐसा निश्चय है। जैसे मिट्टी घट पर्याय रूप परिणमती है। उसका उपादान कारण है। मिट्टी में घट रूप परिणमन शक्ति है। निमित्त कारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि। वैसे ही जीव द्रव्य अशुद्ध परिणाम मोह, राग, द्वेष रूप परिणमता है। उसका उपादान कारण है जीवद्रव्य में अन्तर्गर्भित विभाव रूप अशुद्ध परिणमन शक्ति।’

[कलश १७६-१७७] अकर्ता-कर्ता विचार-----

‘सम्यग्दृष्टि जीव के रागादि अशुद्ध परिणामोंका स्वामित्वपना नहीं है, इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं है’

‘मिथ्यादृष्टि जीव के रागादि अशुद्ध परिणामोंका स्वामित्वपना है, इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता है।’

[कलश १८०] मात्र भेदज्ञान उपादेय है-----

‘जिसप्रकार करोंत के बार बार चालू करने से पुद्गलवस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाती है उसीप्रकार भेदज्ञानके द्वारा जीव पुद्गल को बारबार भिन्न भिन्न अनुभव करने पर भिन्न भिन्न हो जाते हैं, इसलिये भेदज्ञान उपादेय है।’

[कलश १८१] जीव कर्मको भिन्न करनेका उपाय-----

‘जिसप्रकार यद्यपि लोहसार की छैनी अति पैनी होती है तो भी सन्धिका विचार देनेपर छेद कर देती है उसीप्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि जविका ज्ञान अत्यन्त तीक्ष्ण है तथापि जीव-कर्मकी है जो भीतर में सन्धि उसमेह प्रवेश करने पर प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर दो के देता है। पश्चात् सकल कर्मका क्षय होने से साक्षात् छेदकर भिन्न भिन्न करता है।’

[कलश १९१] मोक्षमार्ग का स्वरूप निरूपण-----

‘सर्व अशुद्धपना के मिटने से शुद्धपना होता है। उसके सहाराका है शुद्ध चिद्रूपका अनुभव, ऐसा मोक्षमार्ग है।’

[कलश १९३] स्वरूप विचार की अपेक्षा जीव न बद्ध है न मुक्त है-----

‘एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव द्रव्य जहाँ तहाँ द्रव्य स्वरूप विचारकी अपेक्षा बन्ध ऐसे मुक्त ऐसे बिकल्प से रहित है। द्रव्यका स्वरूप जैसे है वैसा ही है।’

[कलश १९६] कर्मका [भावकर्मका] कर्तापन—भोक्तापन जीवका स्वभाव नहीं-----

‘जिसप्रकार जीव द्रव्यका अनन्तचतुष्टय स्वरूप है उस प्रकार कर्मका कर्तापन भोक्तापन स्वरूप नहीं है। कर्म की उपाधि से विभावरूप अशुद्ध परिणतिरूप विकार है। इसलिये विनाशीक है। उस विभाव परिणति के विनाश होने पर जीव अकर्ता है अभोक्ता है।’

[कलश २०३] भोक्ता और कर्ता का अन्योन्य सम्बन्ध है-----

‘जो द्रव्य जिस भाव का कर्ता होता है वह उसका भोक्ता भी होता है। ऐसा होने पर रागादि अशुद्ध चेतन परिणाम जो जीव कर्म दोनोंने मिलकर किया होवे तो दोनों भोक्ता होंगे सो दोनों तो भोक्ता नहीं हैं। कारण कि जीव द्रव्य चेतन है तिस कारण सुख दुःखका भोक्ता होवे ऐसा घटित होता है, पुद्गल द्रव्य अचेतन होनेसे सुख दुःखका भोक्ता घटित नहीं होता। इसलिये रागादि अशुद्ध चेतन परिणमनका अकेला संसारी जीव कर्ता है, भोक्ता भी है।’

[कलश २०९] विकल्प अनुभव करने योग्य नहीं-----

‘जिसप्रकार कोई पुरुष मोती की मालाको पोना जानता है, माला गूँथता हुआ अनेक विकल्प करता है सो वे समस्त विकल्प झूठे हैं, विकल्पोंमें शोभा करने की शक्ति नहीं है। शोभा तो मोतीमात्र वस्तु है, उसमें है। इसलिये पहिनने वाला पुरुष मोती की माला जानकर पहिनता है, गूँथनेके बहुत विकल्प जानकर नहीं पहिनता है, देखनेवाला भी मोतीकी माला जानकर शोभा देखता है, गूँथने के विकल्पोंको नहीं देखता उसीप्रकार शुद्ध चेतना मात्र सत्ता अनुभव करने योग्य है। उसमें घटते हैं जो अनेक विकल्प उन सबकी सत्ता अनुभव करने योग्य नहीं है।’

[कलश २१२] जानते समय ज्ञान ज्ञेय रूप नहीं परिणमता-----

‘जीवद्रव्य समस्त ज्ञेय वस्तु को जानता है ऐसा तो स्वभाव है, परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है, ज्ञेय भी ज्ञानद्रव्यरूप नहीं परिणमता है ऐसी वस्तु की मर्यादा है।’

[कलश २१४] एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको करता है यह झूठा व्यवहार है-----

‘जीव ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म को करता है, भोगता है। उसका समाधान इस प्रकार है कि झूठे व्यवहार से कहने को है। द्रव्य के इस रूप का विचार करने पर परद्रव्य का कर्ता जीव नहीं है।’

[कलश २२२] ज्ञेय को जानना विकार का कारण नहीं-----

‘कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करेगा कि जीव द्रव्य ज्ञायक है, समस्त ज्ञेय को जानता है, इसलिये परद्रव्यको जानते हुए कुछ थोड़ा बहुत रागादि अशुद्ध परिणति का विकार होता होगा ? उत्तर इसप्रकार है कि परद्रव्य को जानते हुए तो एक निरंश मात्र भी नहीं है, अपनी विभाव परिणति करने से विकार है। अपनी शुद्ध परिणति होने पर निर्विकार है।’

इत्यादि रूपसे अनेक तथ्यों का अनुभव पूर्ण वाणी द्वारा स्पष्टीकरण इस टीका में किया गया है। टीका का स्वाध्याय करने से ज्ञात होता है कि आत्मानुभूति पूर्वक निराकुलत्व लक्षण सुख का रसास्वादन करते हुए कविवर ने यह टीका लिखी है। यह जितनी सुगम और सरल भाषा में लिखी गई है उतनी ही भव्य जनो के चित्तको आल्हाद उत्पन्न करने वाली है। कविवर बनारसी दास जी ने इसे बालबोध टीका इस नाम से सन्मुख करने के अभिप्राय से लिखी गई है। इसलिये इसका बालबोध यह नाम सार्थक है। कविवर राजमल्लजी और इस टीका के सम्बन्ध में बनारसीदास जी लिखते हैं—

पांडे राजमल्ल जिन धर्मी। समयसार नाटक के मर्मी ॥
तिन्हें ग्रंथ की टीका कीन्ही। बालबोध सुगम करि दीन्ही ॥
इस विधि बोध वचनिका फैली। समै पाइ अध्यात्म सैली ॥
प्रगटी जगत माहीं जिनवाणी। घर घर नाटक कथा बखानी ॥

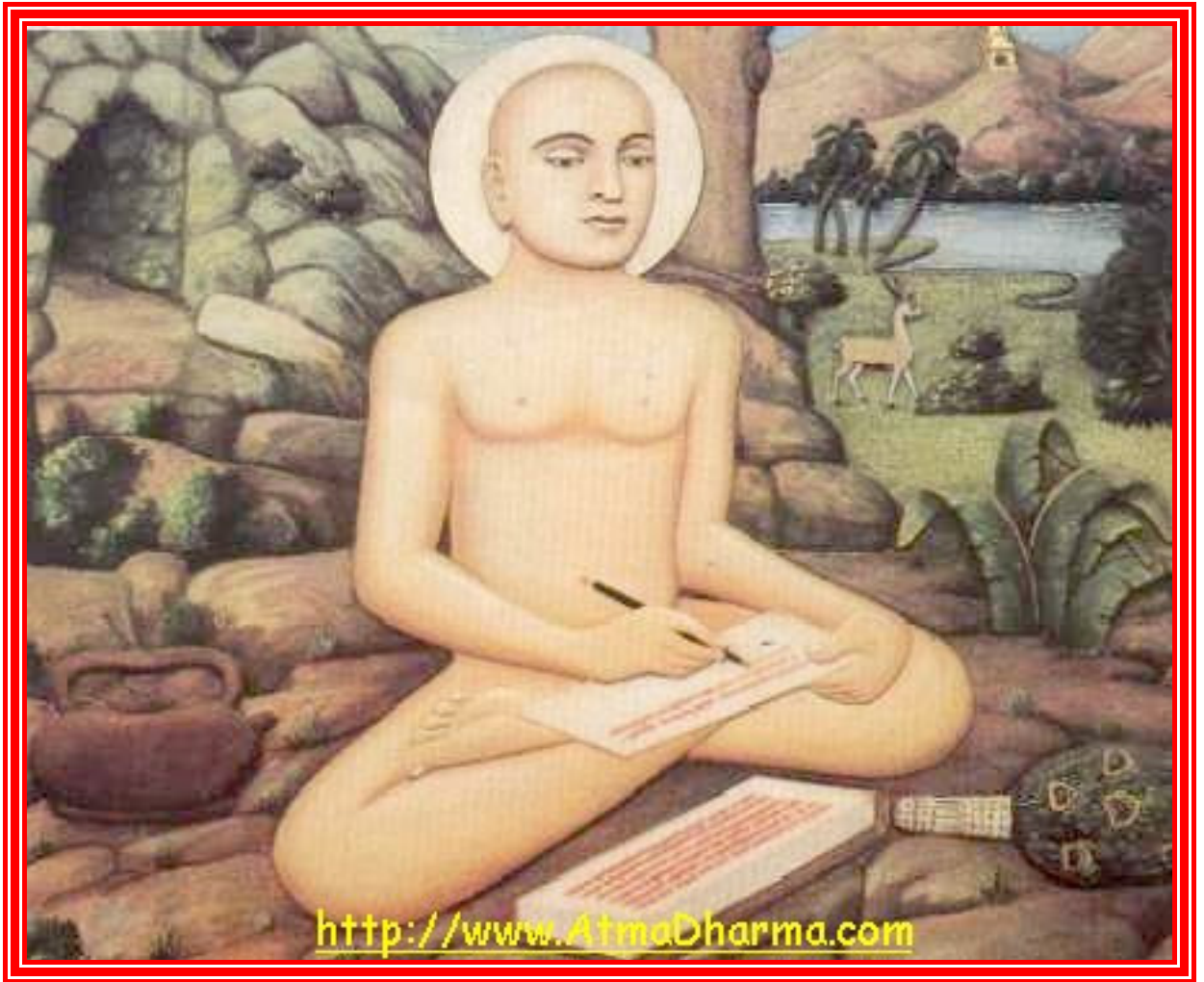
कवि बनारसीदास जी ने कविवर राजमल्ल जी और उनकी इस टीका के सम्बन्ध में थोड़े शब्दों में जो कुछ कहना था, सब कुछ कह दिया है। कविवर बनारसीदास जी ने छन्दों में नाटक समयसार की रचना इसी टीका के आधार से की है। अपने इस भाव को व्यक्त करते हुए कविवर स्वयं लिखते हैं—

नाटक समयसार हितजी का, सुगम राजमल टीका ।
कवितबद्ध रचना जो होई, भाषा ग्रंथ पढ़ै सब कोई ॥
तब बनारसी मन में आनी, कीजे तो प्रगटे जिनवाणी ।
पंच पुरुषकी आज्ञा लीनी। कवितबन्ध की रचना कीनी ॥

जिन पांच पुरुषोंको साक्षी करके कविवर बनारसीदास जी ने छन्दों में नाटक समयसारकी रचना की है। वे हैं—१. पं. रूपचंदजी, २. चतुर्भुज जी, ३. कविवर भैया भगवती दास जी, ४. कोरपाल जी और ५. धर्मदास जी। इनमें पं. रूपचंद जी और भैया भगवती दास जी का विशेष रूप से उल्लेखनीय है। स्पष्ट है कि इन पाँचों विद्वानों ने कविवर बनारसी दास जी के साथ मिल कर कविवर राजमल्ल जी की समयसार कलश बाल बोध टीका का अनेक बार स्वाध्याय किया होगा। यह टीका अध्यात्म के प्रचार में काफी सहायक हुई यह इसी से स्पष्ट है। पं. श्री रूपचंद जी जैसे सिद्धान्ती विद्वान्को यह टीका अक्षरशः मान्य थी यह भी इससे सिद्ध होता है।

यह तो मैं पूर्व में ही लिख आया हूँ कि यह टीका ढूँढारी भाषामें लिखी गई है। सर्व प्रथम मूल रूप में इसके प्रचारित करने का श्रेय श्रीमान् सेठ नेमीचंद बालचंद जर् वकील उसमानाबादवालोंको है। यह वीर सं. २४५७ में स्व श्रीमान् ब्र. शीतलप्रसाद जी के आग्रह से प्रकाशित हुई थी। प्रकाशक श्री मूलचंद किसनदास जी कपाड़िया [दि . जैन पुस्तकालय] सूरत है। ईमान् नेमचंदजी वकील से मेरा निकट का सम्बन्ध था। वे उदाराशय और विद्याव्यासंगी विचारक वकील थे। अध्यात्ममें तो उनका प्रवेश था ही, कर्मशास्त्रका भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। उनकी यह सेवा सराहनीय है। मेरा विश्वास है कि बहुजन प्रचारित हिन्दी में इसका अनुवाद हो जाने के कारण अध्यात्म जैसे गूढ़तम तत्वके प्रचार में यह टीका अधिक सहायक होगी।
विज्ञेषु किमधिकम् ।

फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री



श्रीमद् आचार्यवर अमृतचंद्र

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥

[—श्री समयसार, गाथा ११]

अर्थ:— व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है ऐसा ऋषियों ने दिखाया है; जो जीव भूतार्थका आश्रय करते हैं वे जीव निश्चयसे सम्यग्दृष्टि हैं।

*

श्री समयसार-कलशकी विषय-सूची

क्रम सं०	विषय	पृष्ठ सं०
१	जीव अधिकार	१-३४
२	अजीव अधिकार	३५-४६
३	कर्ता-कर्म अधिकार	४७-८१
४	पुण्य-पाप अधिकार	८२-९४
५	आस्रव अधिकार	९५-१०७
६	संवर अधिकार	१०८-११५
७	निर्जरा अधिकार	११६-१४४
८	बंध अधिकार	१४५-१५८
९	मोक्ष अधिकार	१५९-१७२
१०	सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार	१७३-२१६
११	स्याद्वाद अधिकार	२१७-२३७
१२	साध्य-साधक अधिकार	२३८-२५२



श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नमः

शास्त्र-स्वाध्यायका प्रारंभिक मंगलाचरण

*

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैवओंकाराय नमो नमः ॥ १ ॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

॥ श्रीपरमगुरवे नमः , परम्पराचार्यगुरवे नमः ॥

सकलकलुषविध्वंसकं , श्रेयसां परिवर्धकं , धर्मसम्बन्धकं , भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं , पुण्यप्रकाशकं ,
पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री समयसारनामधेयं , अस्य मूलग्रन्थकर्तारः
श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य
आचार्यश्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवविरचितं , श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥ ९ ॥

सर्वमङ्गलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं ।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥ २ ॥

इस विशेषणका यह भावार्थ — सार पदार्थ जानकर चेतन पदार्थको नमस्कार प्रमाण रखा। असारपना जानकर अचेतन पदार्थ को नमस्कार निषेधा। आगे कोई वितर्क करेगा कि ‘सर्व ही पदार्थ अपने अपने गुण—पर्याय विराजमान है, स्वाधीन है, कोई किसीके आधीन नहीं; जीव पदार्थका सारपना कैसे घटता है? उसका समाधान करने के लिये दो विशेषण कहे। और कैसा है ‘भाव’? “स्वानुभूत्या चकासते, सर्वभावान्तरच्छिदे” [स्वानुभूत्या] इस अवसर पर ‘स्वानुभूति’ कहनेसे निराकुलत्वलक्षण शुद्धात्मपरिणमनरूप अतीन्द्रिय सुख जानना, उसरूप [चकासते] अवस्था है जिसकी। [सर्वभावान्तरच्छिदे] ‘सर्व भाव’ अर्थात् अतीत—अनागत—वर्तमान पर्याय सहित अनन्त गुण विराजमान जितने जीवादि पदार्थ, उनका ‘अन्तरछेदी’ अर्थात् एक समयमें युगपद् प्रत्यक्षरूपसे जाननशील जो कोई शुद्ध जीववस्तु, उसको मेरा नमस्कार। शुद्ध जीवके सारपना घटता है। सार अर्थात् हितकारी, असार अर्थात् अहितकारी। सो हितकारी सुख जानना, अहितकारी दुःख जानना। कारण कि अजीव पदार्थ—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, कालके और संसारी जीवके सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, और उनका स्वरूप जाननेपर जाननहारे जीवको भी सुख नहीं, ज्ञान भी नहीं, इसलिए इनके सारपना घटता नहीं। शुद्ध जीवके सुख है, ज्ञान भी है, उसको जाननेपर—अनुभवनेपर जाननहारेको सुख है, ज्ञान भी है, इसलिए शुद्ध जीवके सारपना घटता है॥ १॥

[अनुष्टुप]

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।

अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्॥ २॥

[सोरठा]

देखे पर से भिन्न अगणित गुणमय आत्मा।

अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे॥ २॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “नित्यमेव प्रकाशताम्” [नित्यं] सदात्रिकाल [प्रकाशताम्] प्रकाशको करो। इतना कहकर नमस्कार किया। वह कौन? “अनेकान्तमयी मूर्तिः” [अनेकान्तमयी] ‘न एकान्तः अनेकान्तः’ अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद, उसमयी अर्थात् वही है [मूर्तिः] स्वरूप जिसका, ऐसी है सर्वज्ञकी वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि। इस अवसर पर आशंका उपजती है कि कोई जानेगा कि अनेकान्त तो संशय है, संशय मिथ्या है। उसके प्रति ऐसा समाधान करना—अनेकान्त तो संशयको दूरीकरणशील है और वस्तुस्वरूपको साधनशील है। उसका विवरण— जो कोई सत्तास्वरूप वस्तु है वह द्रव्य—गुणात्मक है। उसमें जो सत्ता अभेदरूपसे द्रव्यरूप कहलाती है वही सत्ता भेदरूपसे गुणरूप कहलाती है। इसका नाम अनेकान्त है। वस्तुस्वरूप अनादि—निधन ऐसा ही है। किसीका सहारा नहीं। इसलिये ‘अनेकान्त’ प्रमाण है। आगे जिस वाणीको नमस्कार किया वह वाणी कैसी है? “प्रत्यगात्मनस्तत्त्वं पश्यन्ती” [प्रत्यगात्मनः] सर्वज्ञ वीतराग। उसका विवरण—‘प्रत्यक्’ अर्थात् भिन्न; भिन्न

अर्थात् द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्मसे रहित, ऐसा है 'आत्मा'— जीवद्रव्य जिसका वह कहलाता है 'प्रत्यगात्मा'; उसका [तत्त्वं] स्वरूप, उसको [पश्यन्ती] अनुभवनशील हैं। भावार्थ इस प्रकार है— कोई वितर्क करेगा कि दिव्यध्वनि तो पुद्गलात्मक है, अचेतन है, अचेतनको नमस्कार निषिद्ध है। उसके प्रति समाधान करने के निमित्त यह अर्थ कहा कि वाणी सर्वज्ञस्वरूप— अनुसारिणी है, ऐसा माने बिना भी बने नहीं। उसका विवरण— वाणी तो अचेतन है। उसको सुननेपर जीवादि पदार्थका स्वरूपज्ञान जिस प्रकार उपजता है उसी प्रकार जानना— वाणीका पूज्यपना भी है। कैसे हैं सर्वज्ञ वीतराग? "अनन्तधर्मणः" [अनन्त] अति बहुत हैं [धर्मणः] गुण जिनके ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है— कोई मिथ्यावादी कहता है कि परमात्मा निर्गुण है, गुण विनाश होनेपर परमात्मपना होता है। सो ऐसा मानना झूठा है, कारण कि गुणोंका विनाश होनेपर द्रव्यका भी विनाश है॥ २॥

[मालिनी]

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः॥ ३॥

[रोला]

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से॥
परमविशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से॥३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- "मम परमविशुद्धिः भवतु" शास्त्रकर्ता है अमृतचंद्रसूरि। वह कहता है—[मम] मुझे [परमविशुद्धिः] शुद्धस्वरूपप्राप्ति। उसका विवरण— परम—सर्वोत्कृष्ट विशुद्धि—निर्मलता [भवतु] होओ। किससे? "समयसारव्याख्यया" [समयसार] शुद्ध जीव, उसके [व्याख्यया] उपदेशसे हमको शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होवो। भावार्थ इस प्रकार है— यह शास्त्र परमार्थरूप है, वैराग्य—उत्पादक है। भारत—रामायण के समान रागवर्धक नहीं है। कैसा हूँ मैं? "अनुभूतेः" अनुभूति—अतीन्द्रिय सुख, वही है स्वरूप जिसका ऐसा हूँ। और कैसा हूँ? "शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः" [शुद्ध] रागादि—उपाधिरहित [चिन्मात्र] चेतनामात्र [मूर्तेः] स्वभाव है जिसका ऐसा हूँ। भावार्थ इस प्रकार है — द्रव्यार्थिकनयसे द्रव्यस्वरूप ऐसा ही है। और कैसा हूँ मैं? "अविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः" [अविरतं] निरंतरपने अनादि सन्तानरूप [अनुभाव्य] विषय—कषायादिरूप अशुद्ध चेतना, उसके साथ है [व्याप्ति] व्याप्ति अर्थात् उसरूप है विभावपरिणमन, ऐसा है [कल्माषितायाः] कलंकपना जिसका ऐसा हूँ।

भावार्थ इस प्रकार है— पर्यायार्थिकनयसे जीववस्तु अशुद्धरूपसे अनादिकी परिणमी है। उस अशुद्धताके विनाश होनेपर जीववस्तु ज्ञानस्वरूप सुखस्वरूप है। आगे कोई प्रश्न करता है कि जीववस्तु अनादिसे अशुद्धरूप परिणमी है, वहाँ निमित्तमात्र कुछ

है कि नहीं है? उत्तर इस प्रकार— निमित्तमात्र भी है। वह कौन वही कहते हैं—
 “मोहनाम्नोऽनुभावात्” [मोहनाम्न] पुद्गलपिंडरूप आठ कर्मोंमें मोह एक कर्मजाति है, उसका
 [अनुभावात्] उदय अर्थात् विपाकअवस्था। भावार्थ इस प्रकार है— रागादि—अशुद्ध—परिणामरूप
 जीवद्रव्य व्याप्य—व्यापकरूप परिणाम है, पुद्गलपिंडरूप मोहकर्मका उदय निमित्तमात्र है। जैसे कोई
 धतूरा पीनेसे घुमता है, निमित्तमात्र धतूराका उसको है। कैसा है मोहनामक कर्म?
 “परपरिणतिहेतोः” [पर] अशुद्ध [परिणति] जीवका परिणाम, जिसका [हेतोः] कारण है।
 भावार्थ इस प्रकार है— जीवके अशुद्ध परिणामके निमित्त ऐसा रस लेकर मोहकर्म बँधता है, बादमें
 उदयसमयमें निमित्तमात्र होता है॥ ३॥

[मालिनी]

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्गे
 जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
 सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
 रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥ ४॥

[रोला]

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
 स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं॥
 मेह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
 स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ते समयसारं ईक्षन्ते एव” [ते] आसन्नभव्य जीव [समयसारं]
 शुद्ध जीवको [ईक्षन्ते एव] प्रत्यक्षपने प्राप्त होते हैं। “सपदि” थोड़े ही कालमें। कैसा है शुद्ध
 जीव? “उच्चैः परं ज्योतिः” अतिशयमान ज्ञानज्योति है। और कैसा है? “अनवम्” अनादिसिद्ध
 है। और कैसा है? “अनयपक्षाक्षुण्णम्” [अनयपक्ष] मिथ्यावादसे [अक्षुण्णम्] अखंडित है।
 भावार्थ इस प्रकार है— मिथ्यावादी बौद्धादि झूठी कल्पना बहुत प्रकार करते हैं, तथापि वे ही झूठे
 हैं। आत्मतत्त्व जैसा है वैसा ही है। आगे वे भव्य जीव क्या करते हुए शुद्ध स्वरूप पाते हैं, वही
 कहते हैं— “ये जिनवचसि रमन्ते” [ये] आसन्नभव्य जीव [जिनवचसि] दिव्यध्वनि द्वारा कही है
 उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु, उसमें [रमन्ते] सावधानपने रुचि—श्रद्धा—प्रतीति करते हैं। विवरण—
 शुद्ध जीववस्तुका प्रत्यक्षपने अनुभव करते हैं उसका नाम रुचि—श्रद्धा—प्रतीति है। भावार्थ इस प्रकार
 है— वचन पुद्गल है, उसकी रुचि करने पर स्वरूपकी प्राप्ति नहीं। इसलिए वचन द्वारा कही
 जाती है जो कोई उपादेय वस्तु, उसका अनुभव करनेपर फलप्राप्ति है। कैसा है जिनवचन?
 “उभयनयविरोधध्वंसिनि” [उभय] दो [नय] पक्षपात [विरोध] परस्पर वैरभाव। विवरण— एक
 सत्त्वको द्रव्यार्थिकनय द्रव्यरूप, उसी सत्त्वको पर्यायार्थिकनय पर्यायरूप कहता है; इसलिए परस्पर
 विरोध है; उसका [ध्वंसिनि] मेटनशील है। भावार्थ इस प्रकार है— दोनों नय विकल्प हैं, शुद्ध
 जीवस्वरूपका

अनुभव निर्विकल्प है, इसलिए शुद्ध जीववस्तुका अनुभव होनेपर दोनों नयविकल्प झूठे हैं। और कैसा है जिनवचन? “**स्यात्पदाङ्गेः**” [**स्यात्पद**] स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्त— जिसका स्वरूप पीछे कहा है, वही है [**अङ्गे**] चिह्न जिसका, ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है— जो कुछ वस्तुमात्र है वह तो निर्भेद है। वह वस्तुमात्र वचनके द्वारा कहनेपर जो कुछ वचन बोला जाता है वही पक्षरूप है। कैसे हैं आसन्नभव्य जीव? “**स्वयं वान्तमोहाः**” [**स्वयं**] सहजपने [**वान्त**] वमा है [**मोहाः**] मिथ्यात्व—विपरीतपना, ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है— अनन्त संसार जीवके भ्रमते हुए जाता है। वे संसारी जीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमें अभव्यराशि जीव त्रिकालही मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं। भव्य जीवोंमें कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य है। उनके मोक्ष पहुँचनेका कालपरिमाण है। विवरण— यह जीव इतना काल बीतनेपर मोक्ष जायगा ऐसी नोंध केवलज्ञानमें है। वह जीव संसार में भ्रमते भ्रमते जभी अर्धपुद्गलपरावर्तनमात्र रहता है तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है तथापि काललब्धिके बिना करोड़ उपाय जो किये जायँ तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्व—वस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है॥ ४॥

[मालिनी]

**व्यवहारणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥ ५॥**

[रोला]

**ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उनलोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घनमें॥ ५॥**

खंडान्वय सहित अर्थः— “**व्यवहारणनयः यद्यपि हस्तावलम्बः स्यात्**” [**व्यवहारणनयः**] जितना कथन। उसका विवरण—जीववस्तु निर्विकल्प है। वह तो ज्ञानगोचर है। वही जीववस्तुको कहना चाहें, तब ऐसे ही कहने में आता है कि जिसके गुण दर्शन—ज्ञान—चारित्र वह जीव। जो कोई बहु साधिक [अधिक बुद्धिमान] हो तो भी ऐसे ही कहना पड़े। इतने कहने का नाम व्यवहार है। यहाँ कोई आशंका करेगा कि वस्तु निर्विकल्प है, उसमें विकल्प उपजाना अयुक्त है। वहाँ समाधान इस प्रकार है कि व्यवहारणनय हस्तावलम्ब है। [**हस्तावलम्बः**] जैसे कोई नीचे पड़ा हो तो हाथ पकड़कर ऊपर लेते हैं वैसे ही गुण—गुणीरूप भेदकथन ज्ञान उपजने का एक अंग है। उसका विवरण— जीवका लक्षण चेतना इतना कहनेपर पुद्गलादि अचेतन द्रव्यसे भिन्नपने की प्रतीति उपजती है। इसलिए जबतक अनुभव होता है तबतक गुण—गुणीभेदरूप कथन

ज्ञानका अंग है। व्यवहारनय जिनका हस्तावलम्ब है वे कैसे है? “**प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां**” [**इह**] विद्यमान ऐसी जो [**प्राक्पदव्याम्**] ज्ञान उत्पन्न होनेपर प्रारंभिक अवस्था उसमें [**निहितपदानां**] निहित—रखा है पद—सर्वस्व जिन्होंने ऐसे हैं। भावार्थ इसप्रकार है— जो कोई सहजरूपसे अज्ञानी है, जीवादि पदार्थोंका द्रव्य—गुण—पर्यायस्वरूप जानने के अभिलाषी हैं, उनके लिए गुण—गुणी भेदरूप कथन योग्य है। “**हन्त तदपि एषः न किञ्चित्**” यद्यपि व्यवहारनय हस्तावलम्ब है तथापि कुछ नहीं, ‘नोंध’ [ज्ञान, समझ] करनेपर झूठा है। वे जीव कैसे हैं जिनके व्यवहारनय झूठा है? “**चिद्यमत्कारमात्रं अर्थं अन्तः पश्यतां**” [**चित्**] चेतना [**चमत्कार**] प्रकाश [**मात्रं**] इतनी ही है [**अर्थं**] शुद्ध जीववस्तु, उसको [**अन्तः पश्यतां**] प्रत्यक्षपने अनुभवते हैं। भावार्थ इस प्रकार है— वस्तुका अनुभव होनेपर वचनका व्यवहार सहज ही छूट जाता है। कैसी है वस्तु? “**परमं**” उत्कृष्ट है, उपादेय है। और कैसी है वस्तु? “**परविरहितं**” [**पर**] द्रव्यकर्म—नोकर्म—भावकर्मसे [**विरहितं**] भिन्न है॥ ५॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः॥ ६॥**

[हरिगीत]

**नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से।
वह ज्ञानका घन पिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से॥
नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये।
इस आत्मा का दर्श दर्शन आत्मा ही चाहिए॥ ६॥**

खंडान्वय सहित अर्थः— “**तत् नः अयं एकः आत्मा अस्तु**” [**तत्**] इस कारण [**नः**] हमें [**अयं**] यह विद्यमान [**एकः**] शुद्ध [**आत्मा**] चेतनपदार्थ [**अस्तु**] होओ। भावार्थ इस प्रकार है— जीववस्तु चेतनालक्षण तो सहज ही है। परन्तु मिथ्यात्वपरिणामके कारण भ्रमित हुआ अपने स्वरूपको नहीं जानता, इससे अज्ञानी ही कहना। अतएव ऐसा कहा कि मिथ्या परिणामके जानेसे यही जीव अपने स्वरूपका अनुभवशीली होओ। क्या करके? “**इमाम् नवतत्त्वसन्ततिम् मुक्त्वा**” [**इमाम्**] आगे कहे जानेवाले [**नवतत्त्व**] जीव—अजीव—आस्रव—बंध—संवर—निर्जरा—मोक्ष—पुण्य—पापके [**सन्ततिम्**] अनादि संबंधको [**मुक्त्वा**] छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है— संसार—अवस्थामें जीवद्रव्य नौ तत्त्वरूप परिणमा है, वह तो विभाव परिणति है, इसलिए नौ तत्त्वरूप वस्तुका अनुभव मिथ्यात्व है।

✽ पंडित श्री राजमल्लजी कृत टीकामें यहाँ “**पूर्णज्ञानघनस्य**” पदका अर्थ करने का रह गया है, जो अर्थ इस प्रकार करा जा सकता है—और कैसा है शुद्ध जीव? “**पूर्णज्ञानघनस्य**” पूर्ण स्व—पर ग्राहकशक्तिका पुंज है।

“यदस्यात्मनः इह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम् नियमात् एतदेव सम्यग्दर्शनम्” [यत्] जिस कारण [अस्यात्मनः] यही जीवद्रव्य [द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्] सकल कर्मोपाधिसे रहित जैसा है [इह दर्शनम्] वैसा ही प्रत्यक्षपने उसका अनुभव [नियमात्] निश्चयसे [एतदेव सम्यग्दर्शनम्] यही सम्यग्दर्शन है। भावार्थ इस प्रकार है— सम्यग्दर्शन जीवका गुण है। वह गुण संसार—अवस्थामें विभावरूप परिणमा है। वही गुण जब स्वभावरूप परिणमे तब मोक्षमार्ग है। विवरण— सम्यक्त्वभाव होनेपर नूतन ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मास्रव मिटता है, पूर्वबद्ध कर्म निर्जरता है ; इस कारण मोक्षमार्ग है। यहाँपर कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र इन तीनोंके मिलने से होता है। उत्तर इस प्रकार है— शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव करनेपर तीनों ही हैं। कैसा है शुद्ध जीव ? “शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य” [शुद्धनयतः] निर्विकल्प वस्तुमात्र की दृष्टिसे देखते हुए [एकत्वे] शुद्धपना [नियतस्य] उस रूप है। भावार्थ इस प्रकार है —जीवका लक्षण चेतना है। वह चेतना तीन प्रकारकी है— एक ज्ञानचेतना, एक कर्मचेतना, एक कर्मफलचेतना। उनमेंसे ज्ञानचेतना शुद्ध चेतना है, शेष अशुद्ध चेतना है। उनमेंसे अशुद्ध चेतनारूप वस्तुका स्वाद सर्व जीवोंको अनादिसे प्रगट ही है। उसरूप अनुभव सम्यक्त्व नहीं। शुद्ध चेतनामात्र वस्तुस्वरूपका आस्वाद आवे तो सम्यक्त्व है। * और कैसी है जीववस्तु ? “व्याप्तुः” अपने गुण—पर्यायोंको लिये हुए है। इतना कहकर शुद्धपना दृढ़ किया है। कोई आशंका करेगा कि सम्यक्त्व—गुण और जीववस्तुका भेद है कि अभेद है ? उत्तर ऐसा है कि अभेद है—“आत्मा च तावानयम्” [अयम्] यह [आत्मा] जीववस्तु [तावान्] सम्यक्त्वगुणमात्र है ॥ ६ ॥

[अनुष्टुप]

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥ ७ ॥

[दोहा]

शुद्ध नयाश्रित आत्मा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ॥ ७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अतः तत् प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति” [अतः] यहाँ से आगे [तत्] वही [प्रत्यग्ज्योतिः] शुद्ध चेतनामात्र वस्तु [चकास्ति] शब्दों द्वारा युक्तिसे कही जाती है। कैसी है वस्तु ? “शुद्धनयायत्तम्” [शुद्धनय] वस्तुमात्रके [आयत्तं] आधीन है। भावार्थ इस प्रकार है — जिसका अनुभव करनेपर सम्यक्त्व होता है उस शुद्ध स्वरूपको कहते हैं:- “यदेकत्वं न मुञ्चति” [यत्] जो शुद्ध वस्तु [एकत्वं] शुद्धपनेको [न मुञ्चति] नहीं छोड़ती है। यहाँपर कोई आशंका करेगा कि जीववस्तु जब संसारसे छूटती है तब शुद्ध होती है। उत्तर इस प्रकार है — जीववस्तु द्रव्यदृष्टिसे विचार करनेपर त्रिकाल ही शुद्ध है। वही कहते हैं:- “नवतत्त्वगतत्वेऽपि” [नवतत्त्व] जीव—अजीव—आस्रव—बंध—संवर—निर्जरा—मोक्ष—पुण्य—पाप [गतत्वेऽपि] उसरूप परिणत है तथापि शुद्धस्वरूप है। भावार्थ इस प्रकार है — जैसे अग्नि दाहक लक्षण वाली है, वह काष्ठ, तृण, कण्डा आदि समस्त दाह्यको दहती है, दहती हुई अग्नि दाह्याकार होती है, पर उसका विचार है कि जो

उसे काष्ठ, तृण और कण्डेकी आकृतिमें देखा जाय तो काष्ठकी अग्नि, तृणकी अग्नि और कण्डेकी अग्नि ऐसा कहना सच्चा ही है और जो अग्निकी उष्णतामात्र विचारा जाय तो उष्णमात्र है। काष्ठकी अग्नि, तृणकी अग्नि और कण्डेकी अग्नि ऐसे समस्त विकल्प झूठे हैं। उसी प्रकार नौ तत्त्वरूप जीवके परिणाम है। वे परिणाम कितने ही शुद्धरूप हैं, कितने ही अशुद्धरूप हैं। जो नौ परिणाममें ही देखा जाय तो नौ ही तत्त्व सच्चे हैं और जो चेतनामात्र अनुभव कियाजाय तो नौ ही विकल्प झूठे हैं।।

७।।

[मालिनी]

**चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८ ॥**

[रोला]

**शुद्ध कनक ज्यों छुपा हुआ है बानभेद में।
नवतत्त्वों में छुपी हुई त्यों आत्मज्योति है।।
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह।
अरे भव्यजन ! पद-पद पर तुम उसको जानों ॥ ८ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘आत्मज्योतिः दृश्यताम्’’ [आत्मज्योतिः] आत्मज्योति अर्थात् जीवद्रव्यका शुद्ध ज्ञानमात्र, [दृश्यताम्] सर्वथा अनुभवरूप हो। कैसी है आत्मज्योति? ‘‘चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नं अथ सततविविक्तं’’ इस अवसर पर नाट्यरसके समान एक जीववस्तु आश्चर्यकारी अनेक भावरूप एक ही समयमें दिखलाई देती है। इसी कारणसे इस शास्त्रका नाम नाटक समयसार है। वही कहते हैं— [चिरम्] अमर्याद कालसे [इति] जो विभावरूप रागादि परिणाम—पर्यायमात्र विचारा जाय तो ज्ञानवस्तु [नवतत्त्वच्छन्नं] पूर्वोक्त जीवादि नौ तत्त्वरूपसे आच्छादित है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीववस्तु अनादि कालसे धातु और पाषाणके संयोगके समान कर्म पर्याय से मिली ही चली आरही है सो मिली हुई होकर वह रागादि विभाव परिणामोंके साथ व्याप्य—व्यापकरूपसे स्वयं परिणमन कर रही है। वह परिणमन देखा जाय, जीवका स्वरूप न देखा जाय तो जीववस्तु नौ तत्त्वरूप है ऐसा दृष्टिमें आता है। ऐसा भी है, सर्वथा झूठ नहीं है, क्योंकि विभावरूप रागादि परिणामशक्ति जीवमें ही है। ‘‘अथ’’ अब ‘अथ’ पद द्वारा दूसरा पक्ष दिखलाते हैं:— वही जीववस्तु द्रव्यरूप है, अपने गुण—पर्यायोंमें विराजमान है। जो शुद्ध द्रव्यस्वरूप देखा जाय, पर्यायस्वरूप न देखा जाय तो वह कैसी है? ‘‘सततविविक्तम्’’ [सतत] निरंतर [विविक्तं] नौ तत्त्वोंके विकल्पसे रहित है, शुद्ध वस्तुमात्र है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव सम्यक्त्व है। और कैसी है वह आत्मज्योति? ‘‘वर्णमालाकलापे कनकमिव निमग्नं’’ ‘वर्णमाला’ पदके दो अर्थ हैं— एक तो बनवारी ^१ और दूसरा भेदपंक्ति। भावार्थ इस प्रकार है कि गुण—गुणीके भेदरूप भेदप्रकाश।

‘कलाप’का अर्थ समूह है। इसलिए ऐसा अर्थ निष्पन्न हुआ कि जैसे एक ही सोना वानभेदसे^१ अनेकरूप कहा जाता है वैसे एक ही जीववस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूपसे अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे अनेकरूप कही जाती है। ‘अथ’ अब ‘अथ’ पद द्वारा पुनः दूसरा पक्ष दिखलाते हैं:-
 “प्रतिपदम् एकरूपं” [प्रतिपदम्] गुण-पर्यायरूप, अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अथवा दृष्टांतकी अपेक्षा वानभेदरूप जितने भेद हैं उन सब भेदोंमें भी [एकरूपं] आप [एक] ही है। वस्तुका विचार करनेपर भेदरूप भी वस्तु ही है, वस्तुसे भिन्न भेद कुछ वस्तु नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि सुवर्णमात्र न देखा जाय, वानभेदमात्र देखा जाय तो वानभेद है; सुवर्णकी शक्ति ऐसी भी है। जो वानभेद न देखा जाय, केवल सुवर्णमात्र देखा जाय, तो वानभेद झूठा है। इसी प्रकार जो शुद्ध जीववस्तुमात्र न देखी जाय, गुण-पर्यायमात्र या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय है तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है; जीववस्तु ऐसी भी है। जो गुण-पर्यायभेद या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभेद न देखा जाय, वस्तुमात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है। और कैसी है आत्मज्योति? “उन्नीयमानं” चेतनालक्षणसे जानी जाती है, इसलिए अनुमानगोचर भी है। अब दूसरा पक्ष-“उद्योतमानम्” प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर है। भावार्थ इस प्रकार है - जो भेदबुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतनालक्षणसे जीवको जानती है; वस्तु विचारनेपर इतना विकल्प भी झूठा है, शुद्ध वस्तुमात्र है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है।। ८।।

[मालिनी]

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
 क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
 किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वकषेऽस्मिन्
 अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।। ९।।

[रोला]

निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते।
 अर प्रमाण के भाव असत हो जाते भाई।।
 अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो।
 शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर भाई।। ९।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अस्मिन् धाम्नि अनुभवमुपयाते द्वैतमेव न भाति” [अस्मिन्] इस-स्वयंसिद्ध [धाम्नि] चेतनात्मक जीववस्तुका [अनुभवम्] प्रत्यक्षरूप आस्वाद [उपयाते] आनेपर [द्वैतम् एव] सूक्ष्म-स्थूल अन्तर्जल्प और बहिर्जल्परूप सभी विकल्प [न भाति] नहीं शोभते हैं।

१ बनवारी = सुनार की मूस

२ दस वान, चौदह वान आदि स्वर्णमें जो भेद है उसको वानभेद कहते हैं।

भावार्थ इस प्रकार है — अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान है अर्थात् वेद्य—वेदकभावसे आस्वादरूप है और वह अनुभव परसहायसे निरपेक्ष है। ऐसा अनुभव यद्यपि ज्ञानविशेष है तथापि सम्यक्त्वके साथ अविनाभूत है, क्योंकि यह सम्यग्दृष्टिके होता है, मिथ्यादृष्टिके नहीं होता है ऐसा निश्चय है। ऐसा अनुभव होनेपर जीववस्तु अपने शुद्ध स्वरूपको प्रत्यक्षरूपसे आस्वादती है। इसलिए जितने कालतक अनुभव होता है उतने कालतक वचनव्यवहार सहज ही बन्द रहता है, क्योंकि वचनव्यवहार तो परोक्षरूपसे कथक है। यह जीव तो प्रत्यक्षरूप अनुभवशील है, इसलिए [अनुभवकालमें] वचनव्यवहार पर्यंत कुछ रहा नहीं। कैसी है जीववस्तु? “**सर्वकषे**” [**सर्व**] सब प्रकारके विकल्पोंका [**कषे**] क्षयकरणशील [क्षय करनेरूप स्वभाववाली] है। भावार्थ इस प्रकार है — जैसे सूर्यप्रकाश अंधकारसे सहजही भिन्न है वैसे अनुभव भी समस्त विकल्पोंसे रहित ही है। यहाँपर कोई प्रश्न करेगा कि अनुभवके होनेपर कोई विकल्प रहता है कि जिनका नाम विकल्प है वे समस्त ही मिटते हैं? उत्तर इस प्रकार है कि समस्त ही विकल्प मिट जाते हैं, उसीको कहते हैं— “**नयश्रीरपि न उदयति, प्रमाणमपि अस्तमेति, न विद्वः निक्षेपचक्रमपि क्वचित् याति, अपरम् किम् अभिदध्मः**” जो अनुभवके आनेपर प्रमाण—नय—निक्षेप ही झूठा है। वहाँ रागादि विकल्पोंकी क्या कथा। भावार्थ इस प्रकार है कि— जो रागादि तो झूठा ही है, जीवस्वरूपसे बाह्य है। प्रमाण—नय—निक्षेपरूप बुद्धिके द्वारा एक ही जीवद्रव्यका द्रव्य—गुण—पर्यायरूप अथवा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप भेद किया जाता है, वे समस्त झूठे हैं। इन सबके झूठे होनेपर जो कुछ वस्तुका स्वाद है सो अनुभव है। [**प्रमाण**] युगपद् अनेक धर्मग्राहक ज्ञान, वह भी विकल्प है, [**नय**] वस्तुके किसी एक गुणका ग्राहक ज्ञान, वह भी विकल्प है और [**निक्षेप**] उपचारघटनारूप ज्ञान, वह भी विकल्प है। भावार्थ इस प्रकार है कि अनादि कालसे जीव अज्ञानी है, जीवस्वरूपको नहीं जानता है। वह जब जीवसत्त्वकी प्रतीति आनी चाहे तब जैसे ही प्रतीति आवे तैसे ही वस्तु—स्वरूप साधा जाता है। सो साधना गुण—गुणीज्ञान द्वारा होती है, दूसरा उपाय तो कोई नहीं है। इसलिए वस्तुस्वरूपका गुण—गुणीभेदरूप विचार करनेपर प्रमाण—नय—निक्षेपरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। वे विकल्प प्रथम अवस्थामें भले ही हैं, तथापि स्वरूपमात्र अनुभवनेपर झूठे हैं॥ १॥

[उपजाति]

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-
मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं
प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥ १० ॥

[हरिगीत]

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अनत विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है- ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥ १० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ शुद्धनयः अभ्युदेति ” [शुद्धनयः] निरुपाधि जीववस्तुस्वरूपका उपदेश [अभ्युदेति] प्रगट होता है। क्या करता हुआ प्रगट होता है? “ एकम् प्रकाशयन् ” [एकम्] शुद्धस्वरूप जीववस्तुको [प्रकाशयन्] निरूपण करता हुआ। कैसा है शुद्ध जीवस्वरूप? “ आद्यन्तविमुक्तम् ” [आद्यन्त] समस्त पिछले और आगामी कालसे [विमुक्तम्] रहित है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध जीववस्तुकी आदि भी नहीं है, अंत भी नहीं है। जो ऐसे स्वरूपको सूचित करता है उसका नाम शुद्धनय है। पुनः कैसी है जीववस्तु? “ विलीनसंकल्पविकल्पजालं ” [विलीन] विलयको प्राप्त हो गया है [संकल्प] रागादि परिणाम और [विकल्प] अनेक नयविकल्परूप ज्ञानकी पर्याय जिसके ऐसी है। भावार्थ इस प्रकार है कि समस्त संकल्प—विकल्पसे रहित वस्तुस्वरूपका अनुभव सम्यक्त्व है। पुनः कैसी है शुद्ध जीववस्तु? “ परभावभिन्नम् ” रागादि भावोंसे भिन्न है। और कैसी है? “ आपूर्णम् ” अपने गुणोंसे परिपूर्ण है। और कैसी है? “ आत्मस्वभावं ” आत्माका निज भाव है ॥ १० ॥

[मालिनी]

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

[हरिगीत]

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव हैं ॥
जो हैं प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥ ११ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ जगत् तमेव स्वभावम् सम्यक् अनुभवतु ” [जगत्] सर्व जीवराशि [तम् एव] निश्चयसे पूर्वोक्त [स्वभावम्] शुद्ध जीववस्तुको [सम्यक्] जैसी है वैसी [अनुभवतु] प्रत्यक्षपनेसे स्वसंवेदनरूप आस्वादो। कैसी होकर आस्वादे? “ अपगतमोहीभूय ” [अपगत] चली गई है [मोहीभूय] शरीरादि परद्रव्य सम्बन्धी एकत्वबुद्धि जिसकी ऐसी होकर। भावार्थ इस प्रकार है कि संसारी जीवको संसारमें बसते हुए अनंतकाल गया। शरीरादि परद्रव्य—स्वभाव था, परंतु यह जीव अपना ही जानकर प्रवृत्तहुआ, सो जभी यह विपरीत बुद्धि छूटती है तभी यह जीव शुद्धस्वरूपका अनुभव करनेके योग्य होता है। कैसा है शुद्धस्वरूप? “ समन्तात् द्योतमानं ” [समन्तात्] सब प्रकार से [द्योतमानं] प्रकाशमान है। भावार्थ इस प्रकार है कि अनुभवगोचर होनेपर कुछ भ्रान्ति नहीं रहती। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जीवको तो शुद्धस्वरूप कहा और वह ऐसा ही है, परंतु राग—द्वेष—मोहरूप परिणामोंको अथवा सुख—दुःख आदिरूप परिणामोंको कौन करता है, कौन भोगता है? उत्तर इस प्रकार है कि इन परिणामोंको करे तो जीव करता है और जीव भोगता है परंतु यह परिणति विभावरूप है, उपाधिरूप है। इस कारण निजस्वरूप विचारनेपर यह जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा कहा जाता है। कैसा है शुद्धस्वरूप? “ यत्र अमी बद्धस्पृष्टभावादयः प्रतिष्ठां न हि विदधति ” [यत्र] जिस शुद्धात्मस्वरूपमें [अमी] विद्यमान [बद्ध] अशुद्ध रागादिभाव, [स्पृष्ट] परस्पर पिंडरूप एकक्षेत्रावगाह और [भावादयः] आदि शब्दसे गृहित अन्यभाव, अनियतभाव, विशेषभाव और संयुक्तभाव इत्यादि जो विभावपरिणाम हैं वे समस्त भाव शुद्धस्वरूपमें [प्रतिष्ठां] शोभाको [न हि विदधति] नहीं धारण करते हैं। नर, नारक, तिर्यच और देवपर्यायरूप भावका नाम अन्यभाव है। असंख्यात प्रदेशसंबन्धी संकोच और विस्ताररूप परिणमनका नाम अनियतभाव है। दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप भेदकथनका नाम विशेषभाव है तथा रागादि उपाधि सहितका नाम संयुक्तभाव है। भावार्थ इस प्रकार है कि बद्ध, स्पृष्ट, अन्य, अनियत, विशेष और संयुक्त ऐसे जो छह विभाव परिणाम हैं वे समस्त संसार अवस्थायुक्त जीवके हैं, शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव करनेपर जीवके नहीं हैं। कैसे हैं बद्ध—स्पृष्ट आदि विभावभाव? “ स्फुटं ” प्रगटरूपसे “ एत्य अपि ” उत्पन्न होते हुए विद्यमान ही हैं तथापि “ उपरि तरन्तः ” उपर ही उपर रहते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका ज्ञानगुण त्रिकालगोचर है उस प्रकार रागादि विभावभाव जीववस्तुमें त्रिकालगोचर नहीं हैं। यद्यपि संसार अवस्थामें विद्यमान ही है तथापि मोक्ष अवस्थामें सर्वथा नहीं है, इसलिए ऐसा निश्चय है कि रागादि जीवस्वरूप नहीं है॥ ११॥

[शार्दूलविक्रीडित]

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
 र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् ।
 आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
 नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

[रोला]

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत् ।
 मान के कर्मबन्ध से भिन्न लखे बुध ॥
 तो निज अनुभवगम्य आत्मा सदा विराजित ।
 विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥ १२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अयम् आत्मा व्यक्तः आस्ते” [अयम्] इस प्रकार [आत्मा] चेतनालक्षण जीव [व्यक्तः] स्वस्वभावरूप [आस्ते] होता है। कैसा होता है? “नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलः” [नित्यं] त्रिकालगोचर [कर्म] अशुद्धतारूप [कलङ्कपङ्क] कलुषता—कीचड़से [विकलः] सर्वथा भिन्न होता है। और कैसा है? “ध्रुवं” चार गतिमें भ्रमता हुआ रह [रुक] गया। और कैसा है? “देवः” त्रेलोक्यसे पूज्य है। और कैसा है? “स्वयं शाश्वतः” द्रव्यरूप विद्यमान ही है। और कैसा होता है? “आत्मानुभवैकगम्यमहिमा” [आत्मा] चेतन वस्तुके [अनुभव] प्रत्यक्ष—आस्वादके द्वारा [एक] अद्वितीय [गम्य] गोचर है [महिमा] बड़ाई जिसकी ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका जिस प्रकार एक ज्ञानगुण है उसी प्रकार एक अतीन्द्रिय सुखगुण है सो सुखगुण संसार अवस्थामें अशुद्धपनेसे प्रगट आस्वादरूप नहीं है। अशुद्धपनाके जानेपर प्रगट होता है। वह सुख अतीन्द्रिय परमात्माके होता है। उस सुखको कहने लिये कोई दृष्टान्त चारों गतियोंमें नहीं है, क्योंकि चारों ही गतियाँ दुःखरूप है, इसलिए ऐसा कहा कि जिसको शुद्धस्वरूपका अनुभव है सो जीव परमात्मारूप जीवके सुखको जानने के योग्य है। क्योंकि शुद्धस्वरूप अनुभवनेपर अतीन्द्रिय सुख है—ऐसा भाव सूचित किया है। कोई प्रश्न करता है कि कैसा कारण करनेसे जीव शुद्ध होता है? उत्तर इस प्रकार है कि शुद्धका अनुभव करनेसे जीव शुद्ध होता है। “किल यदि कोऽपि सुधीः अन्तः कलयति” [किल] निश्चयसे [यदि] जो [कोऽपि] कोई जीव [अन्तः कलयति] शुद्धस्वरूपको निरन्तर अनुभवता है। कैसा है जीव? [सुधीः] शुद्ध है बुद्धि जिसकी। क्या करके अनुभवता है? “रभसा बन्धं निर्भिद्य” [रभसा] उसीकाल [बन्धं] द्रव्यपिंडरूप मिथ्यात्वकर्मके [निर्भिद्य] उदयनको मेट करके अथवा मूलसे सत्ता मेट करके, तथा “हठात् मोहं व्याहृत्य” [हठात्] बलसे [मोहं] मिथ्यात्वरूप जीवके परिणामको [व्याहृत्य] समूल नाश करके।

भावार्थ इस प्रकार है कि अनादि कालका मिथ्यादृष्टि ही जीव काललब्धिके प्राप्त होनेपर सम्यक्त्वके ग्रहणकाल के पूर्व तीन करण करता है। वे तीन करण अन्तर्मुहूर्तमें होते हैं। करण करनेपर द्रव्यपिंडरूप मिथ्यात्वकर्मकी शक्ति मिटती है। उस शक्तिके मिटनेपर भावमिथ्यात्वरूप जीवका परिणाम मिटता है। जिस प्रकार धतूराके रसका पाक मिटनेपर गहलपना मिटता है। कैसा है बंध अथवा मोह? “**भूतं भान्तम् अभूतम् एव**” [एव] निश्चयसे [भूतं] अतीत कालसंबंधी, [भान्तम्] वर्तमान कालसंबंधी, [अभूतम्] आगामी कालसंबंधी। भावार्थ इस प्रकार है — त्रिकाल संस्काररूप है जो शरीरादिसे एकत्वबुद्धि उसके मिटनेपर जो जीव शुद्ध जीवको अनुभवता है वह जीव निश्चयसे कर्मोंसे मुक्त होता है॥ १२॥

[वसन्ततिलका]

**आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥ १३ ॥**

[रोला]

**निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो ।
शुद्ध आत्मा का अनुभव होने पर भाई ॥ १३ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “**आत्मा सुनिष्प्रकम्पम् एकोऽस्ति**” [आत्मा] चेतन द्रव्य [सुनिष्प्रकम्पम्] अशुद्ध परिणमनसे रहित [एकः] शुद्ध [अस्ति] होता है। कैसा है आत्मा? “**नित्यं समन्तात् अवबोधघनः**” [नित्यम्] सदा काल [समन्तात्] सर्वाङ्ग [अवबोधघनः] ज्ञानगुणका समूह है— ज्ञानपुंज है। क्या करके आत्मा शुद्ध होता है? “**आत्मना आत्मनि निवेश्य**” [आत्मना] अपनेसे [आत्मनि] अपने ही में [निवेश्य] प्रविष्ट होकर। भावार्थ इस प्रकार है कि आत्मानुभव परद्रव्यकी सहायतासे रहित है। इस कारण अपने ही में अपनेसे आत्मा शुद्ध होता है। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि इस अवसरपर तो ऐसा कहा कि आत्मानुभव करनेपर आत्मा शुद्ध होता है और कहींपर यह कहा है कि ज्ञानगुण—मात्र अनुभव करनेपर आत्मा शुद्ध होता है सो इसमें विशेषता क्या है? उत्तर इस प्रकार है कि विशेषता तो कुछ भी नहीं है। वही कहते हैं— “**या शुद्धनयात्मिका आत्मानुभूतिः इति किल इयम् एव ज्ञानानुभूतिः इति बुद्ध्वा**” [या] जो [आत्मानुभूतिः] आत्म—अनुभूति अर्थात् आत्मद्रव्यका प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद है। कैसी है अनुभूति? [शुद्धनयात्मिका] शुद्धनय अर्थात् शुद्ध वस्तु सो ही है आत्मा अर्थात् स्वभाव जिसका ऐसी है।

भावार्थ इस प्रकार है — निरुपाधिरूपसे जीवद्रव्य जैसा है वैसा ही प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद आवे इसका नाम शुद्धात्मानुभव है। [किल] निश्चयसे [इयम् एव ज्ञानानुभूतिः] यह जो आत्मानुभूति कही वही ज्ञानानुभूति है [इति बुद्ध्या] इतनामात्र जानकर। भावार्थ इस प्रकार है कि जीववस्तुका जो प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद, उसको नामसे आत्मानुभव ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव ऐसा कहा जाय। नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है। इस प्रसंगमें और भी संशय होता है कि, कोई जानेगा कि द्वादशाङ्गज्ञान कुछ अपूर्व लब्धि है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि द्वादशाङ्गज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, इसलिए शुद्धात्मानुभूतिके होनेपर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है॥ १३॥

[पृथ्वी]

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि-
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥ १४ ॥

[रोला]

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥ १४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् महः नः अस्तु” [तत्] वही [महः] शुद्ध ज्ञानमात्र वस्तु [नः] हमारे [अस्तु] हो। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्धस्वरूपका अनुभव उपादेय है, अन्य समस्त हेय है। कैसा है वह ‘महः’ [ज्ञानमात्र आत्मा]? “परमम्” उत्कृष्ट है। और कैसा है ‘महः’? “अखण्डितम्” खंडित नहीं है— परिपूर्ण है। भावार्थ इस प्रकार है कि इन्द्रियज्ञान खंडित है सो यद्यपि वर्तमान कालमें उसरूप परिणत हुआ है तथापि स्वरूपसे ज्ञान अतीन्द्रिय है। और कैसा है? “अनाकुलं” आकुलता से रहित है। भावार्थ इस प्रकार है कि यद्यपि संसार अवस्थामें कर्मजनित सुख—दुःखरूप परिणमता है तथापि स्वाभाविक सुखस्वरूप है।* और कैसा है? “अन्तर्बहिर्ज्वलत्” [अन्तः] भीतर [बहिः] बाहर [ज्वलत्] प्रकाशरूप परिणत हो रहा है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जीववस्तु असंख्यातप्रदेशी है, ज्ञानगुण सब प्रदेशोंमें एक समान परिणम रहा है। कोई प्रदेशमें घट—बढ़ नहीं है। और कैसा है? “सहजं” स्वयंसिद्ध है। और कैसा है? “उद्विलासं” अपने गुण—पर्यायसे धाराप्रवाहरूप परिणमता है। और कैसा है? “यत् [महः] सकलकालम् एकरसम् आलम्बते” [यत्] जो [महः] ज्ञानपुंज [सकलकालम्] त्रिकाल ही [एकरसम्] चेतनास्वरूपको [आलम्बते] आधारभूत है। कैसा है एकरस? “चिदुच्छलननिर्भरं” [चित्] ज्ञान [उच्छलन] परिणमन उससे [निर्भरं] भरितावस्थ है। और कैसा है एकरस? “लवणखिल्यलीलायितम्” [लवण] क्षाररसकी [खिल्य] काँकरीकी [लीलायितम्] परिणति के समान जिसका स्वभाव है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार नमक की काँकरी सर्वाङ्ग ही क्षार है उसी प्रकार चेतनद्रव्य सर्वाङ्ग ही चेतन है॥१४॥

[अनुष्टुप]

**एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्य-साधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्॥ १५॥**

[हरिगीत]

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय अतमा अपनाइये॥
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमात्मा बन जाइये॥१५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सिद्धिमभीप्सुभिः एषः आत्मा नित्यम् समुपास्यताम्” [सिद्धिम्] सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षको [अभीप्सुभिः] उपादेयरूपसे अनुभव करनेवाले जीवोंको [एषः आत्मा] उपादेय ऐसा अपना शुद्ध चैतन्यद्रव्य [नित्यम्] सदा काल [समुपास्यताम्] अनुभवना। कैसा है आत्मा? “ज्ञानघनः” [ज्ञान] स्व—परग्राहक शक्तिका [घनः] पुञ्ज है। और कैसा है? “एकः” समस्त विकल्प रहित है। और कैसा है? “साध्य-साधकभावेन द्विधा” [साध्य] सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष [साधक] मोक्षका कारण शुद्धोपयोगलक्षण शुद्धात्मानुभव [भावेन] ऐसी जो दो अवस्था उनके भेदसे [द्विधा] दो प्रकारका है। भावार्थ इस प्रकार है कि एक ही जीवद्रव्य कारणरूप भी अपनेमें ही परिणमता है और कार्यरूप भी अपनेमें ही परिणमता है। इस कारण मोक्ष जानेमें किसी द्रव्यान्तरका सहारा नहीं है, इसलिए शुद्ध आत्माका अनुभव करना चाहिए॥ १५॥

✽ पं श्री राजमल्लजीकी टीकामें यहाँ “अनन्तम्” पदका अर्थ करना रह गया है।

[अनुष्टुप]

**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥**

[हरिगीत]

मेचक कहा है आत्मा दृग ज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमात्मा बस है अमेचक स्वयं से ॥
परमाण से मेचक-अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलोकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥ १६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “आत्मा मेचकः” [आत्मा] चेतन द्रव्य [मेचकः] मलिन है। किसकी अपेक्षा मलिन है? “दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वात्” सामान्यरूपसे अर्थग्राहक शक्तिका नाम दर्शन है, विशेषरूपसे अर्थग्राहक शक्तिका नाम ज्ञान है और शुद्धत्वशक्तिका नाम चारित्र है। इस प्रकार शक्तिभेद करनेपर एक जीव तीन प्रकार होता है। इससे मलिन कहनेका व्यवहार है। “आत्मा अमेचकः” [आत्मा] चेतनद्रव्य [अमेचकः] निर्मल है। किसकी अपेक्षा निर्मल है? “स्वयम् एकत्वतः” [स्वयम्] द्रव्यका सहज [एकत्वतः] निर्भेदपना होनेसे, ऐसा निश्चयनय कहा जाता है। “आत्मा प्रमाणतः समम् मेचकः अमेचकोऽपि च” [आत्मा] चेतनद्रव्य [समम्] एक ही काल [मेचकः अमेचकोऽपि च] मलिन भी है और निर्मल भी है। किसकी अपेक्षा? [प्रमाणतः] युगपत् अनेक धर्मग्राहक ज्ञानकी अपेक्षा। इसलिए प्रमाणदृष्टिसे देखनेपर एक ही काल जीवद्रव्य भेदरूप भी है, अभेदरूप भी है ॥ १६ ॥

[अनुष्टुप]

**दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद्भव्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥**

[हरिगीत]

आत्मा है एक यद्यपि किन्तु नयव्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आत्मा जिनमार्ग में ।
अर इसे जाने बिन जगतजन ना लगे सन्मार्ग में ॥ १७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एकोऽपि व्यवहारेण मेचकः” [एकोऽपि] द्रव्यदृष्टिसे यद्यपि जीवद्रव्य शुद्ध है तो भी [व्यवहारेण] गुण-गुणीरूप भेददृष्टिसे [मेचकः] मलिन है। सो भी किसकी अपेक्षा? “त्रिस्वभावत्वात्” [त्रि] दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये तीन हैं [स्वभावत्वात्] सहज गुण जिसके, ऐसा होनेसे । वह भी कैसा होनेसे? “दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः” क्योंकि वह दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीन गुणरूप परिणमता है, इसलिए भेदबुद्धि भी घटित होती है ॥ १७ ॥

[अनुष्टुप]

**परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥**

[हरिगीत]

आत्मा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
है शुद्ध ऐकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से ॥ १८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ तु परमार्थेन एककः अमेचकः ’’ [तु] ‘ तु ’ पद द्वारा दूसरा पक्ष क्या है यह व्यक्त किया है । [परमार्थेन] शुद्ध द्रव्यदृष्टिसे [एककः] शुद्ध जीववस्तु [अमेचकः] निर्मल है—निर्विकल्प है । कैसा है परमार्थ ? ‘‘ व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषा ’’ [व्यक्त] प्रगट है [ज्ञातृत्व] ज्ञानमात्र [ज्योतिषा] प्रकाश—स्वरूप जिसमें ऐसा है । भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध—निर्भेद वस्तुमात्रग्राहक ज्ञान निश्चयनय कहा जाता है । उस निश्चयनयसे जीवपदार्थ सर्वभेद रहित शुद्ध है । और कैसा होनेसे शुद्ध है ? ‘‘ सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वात् ’’ [सर्व] समस्त द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म अथवा ज्ञेयरूप परद्रव्य ऐसे जो [भावान्तर] उपाधिरूप विभावभाव उनका [ध्वंसि] मेटनशील है [स्वभावत्वात्] निजस्वरूप जिसका, ऐसा स्वभाव होनेसे शुद्ध है ॥ १८ ॥

[अनुष्टुप]

**आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥ १९ ॥**

[हरिगीत]

मेचक अमेचक आत्मा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या ॥
हो साध्य सिद्धि एक बस सदज्ञान दर्शनचरणसे ।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचे संसरण से ॥ १९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ मेचकामेचकत्वयोः आत्मनः चिन्तया एव अलं ’’ आत्मा [मेचक] मलिन है और [अमेचक] निर्मल है, इस प्रकार ये दोनो नय पक्षपातरूप हैं । [आत्मनः] चेतनद्रव्यके ऐसे [चिन्तया] विचारसे [अलं] बस हो । ऐसा विचार करनेसे तो साध्यकी सिद्धि नहीं होती [एव] ऐसा निश्चय जानना । भावार्थ इस प्रकार है कि श्रुतज्ञानसे आत्मस्वरूप विचारनेपर बहुत विकल्प उत्पन्न होते हैं । एक पक्षसे विचारनेपर आत्मा अनेकरूप है, दूसरे पक्षसे विचारनेपर आत्मा अभेदरूप है । ऐसे विचारते हुए तो स्वरूप अनुभव नहीं । यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि विचारते हुए तो अनुभव नहीं, तो अनुभव कहाँ है ? उत्तर इस प्रकार है कि प्रत्यक्षरूपसे वस्तुको आस्वादते हुए अनुभव है । वही कहते हैं—‘‘ दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः साध्यसिद्धिः ’’ [दर्शन] शुद्धस्वरूपका अवलोकन,

[ज्ञान] शुद्धस्वरूपका प्रत्यक्ष जानपना, [चारित्र] शुद्धस्वरूपका आचरण— ऐसे कारण करने से [साध्य] सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षकी [सिद्धिः] प्राप्ति होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्धस्वरूपका अनुभव करनेपर मोक्षकी प्राप्ति है। कोई प्रश्न करता है कि इतना ही मोक्षमार्ग है कि कुछ और भी मोक्षमार्ग है? उत्तर इस प्रकार है कि इतना ही मोक्षमार्ग है। “न च अन्यथा” [च] पुनः [अन्यथा] अन्य प्रकारसे [न] साध्यसिद्धि नहीं होती ॥ १९ ॥

[मालिनी]

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः
अपतितमिदमात्मज्योतिरुदगच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

[हरिगीत]

त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को।
यह शुद्ध निर्मल आत्म ज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का।
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धिना ॥ २० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदम् आत्मज्योतिः सततम् अनुभवामः” [इदम्] प्रगट [आत्मज्योतिः] चैतन्यप्रकाशको [सततम्] निरंतर [अनुभवामः] प्रत्यक्षरूपसे हम आस्वादते हैं। कैसी है आत्मज्योति? “कथमपि समुपात्तत्रित्वम् अपि एकतायाः अपतितम्” [कथम् अपि] व्यवहारदृष्टिसे [समुपात्तत्रित्वम्] ग्रहण किया है तीन भेदों को जिसने ऐसी है तथापि [एकतायाः] शुद्धतासे [अपतितम्] गिरती नहीं है। और कैसी है आत्मज्योति? “उदगच्छत्” प्रकाशरूप परिणमती है। और कैसी है? “अच्छम्” निर्मल है। और कैसी है? “अनन्तचैतन्यचिह्नं” [अनन्त] अति बहुत [चैतन्य] ज्ञान है [चिह्नं] लक्षण जिसका ऐसी है। कोई आशंका करता है कि अनुभवको बहुतकर दृढ़ किया सो किस कारण? वही कहते हैं—“यस्मात् अन्यथा साध्यसिद्धिः न खलु न खलु” [यस्मात्] जिस कारण [अन्यथा] अन्य प्रकार [साध्यसिद्धिः] स्वरूपकी प्राप्ति [न खलु न खलु] नहीं होती नहीं होती , ऐसा निश्चय है ॥ २० ॥

[मालिनी]

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

[रोला]

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से।
 भेदज्ञान मूलक अविचल अनुभूति हुई हो॥
 ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी।
 अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी॥२१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ये अनुभूतिं लभन्ते” [ये] जो कोई निकट संसारी जीव [अनुभूतिं] शुद्ध जीववस्तुके आस्वादको [लभन्ते] प्राप्त करते हैं। कैसी है अनुभूति? “भेदविज्ञानमूलाम्” [भेद] स्वस्वरूप—परस्वरूपको द्विधा करना ऐसा जो [विज्ञान] जानपना वही है [मूलाम्] सर्वस्व जिसका ऐसी है। और कैसी है? “अचलितम्” स्थिरतारूप है। ऐसी अनुभूति कैसे प्राप्त होती है, वही कहते हैं—“कथमपि स्वतो वा अन्यतो वा” [कथमपि] अनंत संसारमें भ्रमण करते हुए कैसे ही करके काललब्धि प्राप्त होती है तब सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। तब अनुभव होता है; [स्वतः वा] मिथ्यात्वकर्मका उपशम होनेपर उपदेशके विना ही अनुभव होता है, अथवा [अन्यतः वा] अंतरङ्गमें मिथ्यात्वकर्मका उपशम होनेपर और बहिरङ्गमें गुरुके समीप सूत्रका उपदेश मिलनेपर अनुभव होता है। कोई प्रश्न करता है कि जो अनुभवको प्राप्त करते हैं वे अनुभवको प्राप्त करनेसे कैसे होते हैं? उत्तर इस प्रकार है कि वे निर्विकार होते हैं, वही कहते हैं—“त एव सन्ततं मुकुरवत् अविकाराः स्युः” [त एव] अर्थात् वे ही जीव [सन्ततं] निरन्तर [मुकुरवत्] दर्पणके समान [अविकाराः] रागद्वेष रहित [स्युः] हैं। किनसे निर्विकार हैं? “प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैः” [प्रतिफलन] प्रतिबिम्बरूपसे [निमग्न] गर्भित जो [अनन्तभाव] सकल द्रव्योंके [स्वभावैः] गुण—पर्याय, उनसे निर्विकार हैं। भावार्थ इस प्रकार है — जो जीवके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करता है उसके ज्ञानमें सकल पदार्थ उद्दीप्त होते हैं, उसके भाव अर्थात् गुण—पर्याय, उनसे निर्विकाररूप अनुभव है॥ २१॥

[मालिनी]

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
 रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
 इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
 किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्॥ २२॥

[हरिगीत]

आजन्म के इस मोह को हे जगत जन तुम छोड़ दो।
 अर रसिक जन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो॥
 तदात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं।
 अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं॥२२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “जगत् मोहम् त्यजतु” [जगत्] संसारी जीवराशि [मोहम्] मिथ्यात्वपरिणामको [त्यजतु] सर्वथा छोड़ो। छोड़ने का अवसर कौनसा? “इदानीं” तत्काल।

भावार्थ इस प्रकार है कि शरीरादि परद्रव्योंके साथ जीवकी एकत्वबुद्धि विद्यमान है, वह सूक्ष्मकालमात्र भी आदर करने योग्य नहीं है। कैसा है मोह? “आजन्मलीढं” [आजन्म] अनादिकालसे [लीढं] लगाहुआ है। “ज्ञानम् रसयतु” [ज्ञानम्] शुद्ध चैतन्यवस्तुको [रसयतु] स्वानुभव प्रत्यक्षरूपसे आस्वादो। कैसा है ज्ञान? “रसिकानां रोचनं” [रसिकानां] शुद्धस्वरूपके अनुभवशील सम्यग्दृष्टि जीवोंको [रोचनं] अत्यंत सुखकारी है। और कैसा है ज्ञान? “उद्यत्” त्रिकाल ही प्रकाशरूप है।

कोई प्रश्न करता है कि ऐसा करनेपर कार्यसिद्धि कैसी होती है?

उत्तर कहते हैं—“इह किल एकः आत्मा अनात्मना साकम् तादात्म्यवृत्तिम् क्वापि काले कथमपि न कलयति” [इह] मोहका त्याग, ज्ञानवस्तुका अनुभव—ऐसा बारंबार अभ्यास करनेपर [किल] निःसंदेह [एकः] शुद्ध [आत्मा] चेतनद्रव्य [अनात्मना] द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म आदि समस्त विभावपरिणामोंके [साकम्] साथ [तादात्म्यवृत्तिम्] जीव और कर्मके बंधात्मक एकक्षेत्रसंबंधरूप [क्वापि] किसी अतीत, अनागत और वर्तमानसंबंधी [काले] समय—घड़ी—प्रहर—दिन—वर्षमें [कथमपि] किसी भी तरह [न कलयति] नहीं ठहरता हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य धातु और पाषाणके संयोगके समान पुद्गलकर्मके साथ मिला हुआ चला आरहा है, और मिला हुआ होनेसे मिथ्यात्व—राग—द्वेषरूप विभाव चेतनपरिणामसे परिणमता ही आरहा है। ऐसे परिणमते हुए ऐसी दशा नीपजी कि जीवद्रव्यका निजस्वरूप जो केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रिय सुख और केवलवीर्य, उससे यह जीवद्रव्य भ्रष्ट हुआ तथा मिथ्यात्वरूप विभावपरिणामसे परिणमते हुए ज्ञानपना भी छूट गया। जीवका निज स्वरूप अनंतचतुष्टय है, शरीर, सुख, दुःख, मोह, राग, द्वेष इत्यादि समस्त पुद्गलकर्मकी उपाधि है, जीवका स्वरूप नहीं ऐसी प्रतीति भी छूट गई। प्रतीति छूटनेपर जीव मिथ्यादृष्टि हुआ। मिथ्यादृष्टि होता हुआ ज्ञानावरणादि कर्मबंध करणशील हुआ। उस कर्मबंधका उदय होनेपर जीव चारों गतियोंमें भ्रमता है। इस प्रकार संसारकी परिपाटी है। इस संसारमें भ्रमण करते हुए किसी भव्य जीवका जब निकट संसार आ जाता है तब जीव सम्यक्त्व को ग्रहण करता है। सम्यक्त्व को ग्रहण करनेपर पुद्गलपिंडरूप मिथ्यात्वकर्माका उदय मिटता है तथा मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम मिटता है। विभावपरिणामके मिटनेपर शुद्धस्वरूपका अनुभव होता है। ऐसी सामग्री मिलनेपर जीवद्रव्य पुद्गलकर्मसे तथा विभावपरिणामसे सर्वथा भिन्न होता है। जीवद्रव्य अपने अनंतचतुष्टयको प्राप्त होता है। दृष्टांत ऐसा है कि जिस प्रकार सुवर्णधातु पाषाणमें ही मिली चली आ रही है तथापि अग्नि का संयोग पाकर पाषाण से सुवर्ण जुदा होता है॥ २२॥

[मालिनी]

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
 नुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
 पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
 त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

[हरिगीत]

निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ोसी बन देह का।
 हे आत्मन! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
 जब भिन्नपर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही।
 तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ॥२३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘अयि मूर्तेः पार्श्ववर्ती भव, अथ मुहूर्तं पृथक् अनुभव’’ [अयि] हे भव्यजीव! [मूर्तेः] शरीरसे [पार्श्ववर्ती] भिन्नस्वरूप [भव] हो। भावार्थ इस प्रकार है कि अनादिकालसे जीवद्रव्य [शरीर के साथ] एक संस्काररूप होकर चला आरहा है, इसलिए जीवको ऐसा कहकर प्रतिबोधित किया जाता है कि भो जीव! ये जितनी शरीरादि पर्याय हैं वे सब पुद्गलकर्मकी है तेरी नहीं। इसलिए इन पर्यायोंसे अपनेको भिन्न जान। [अथ] भिन्न जानकर [मुहूर्तम्] थोड़े ही काल [पृथक्] शरीरसे भिन्न चेतनद्रव्यरूप [अनुभव] प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद ले। भावार्थ इस प्रकार है कि शरीर तो अचेतन है, विनश्वर है। शरीरसे भिन्न कोई तो पुरुष है ऐसा जानपना— ऐसी प्रतीति मिथ्यादृष्टि जीवके भी होती है पर साध्यसिद्धि तो कुछ नहीं। जब जीवद्रव्यका द्रव्य—गुण—पर्यायस्वरूप प्रत्यक्ष आस्वाद आता है तब सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्य है, सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष भी है। कैसा है अनुभवशील जीव? ‘‘तत्त्वकौतूहली सन्’’ [तत्त्व] शुद्ध चैतन्यवस्तुका [कौतूहली सन्] स्वरूपको देखना चाहता है, ऐसा होता हुआ। और कैसा होकर? ‘‘कथमपि मृत्वा’’ [कथमपि] किसी प्रकार — किसी उपायसे [मृत्वा] मरकरके भी शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव करो।

भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध चैतन्यका अनुभव तो सहजसाध्य है, यत्नसाध्य तो नहीं है पर इतना कहकर अत्यंत उपादेयपनेको दृढ़ किया है। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि अनुभव तो ज्ञानमात्र है, उससे क्या कुछ कार्यसिद्धि है? वह भी उपदेश द्वारा कहते हैं—‘‘येन मूर्त्या साकम् एकत्वमोहम् झगिति त्यजसि’’ [येन] जिस शुद्ध चैतन्यके अनुभव द्वारा [मूर्त्या साकम्] द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मात्मक समस्त कर्मरूप पर्याय के साथ [एकत्वमोहम्] एक संस्काररूप—‘मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यच हूँ, मैं नारकी हूँ आदि; मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ आदि; मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ आदि तथा मैं यति हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादिरूप प्रतीति’ ऐसा है मोह अर्थात् विपरीतपना, उसको [झगिति] अनुभवने मात्रपर [त्यजसि] भो जीव! अपनी बुद्धिसे तू ही छोड़ेगा। भावाथै इस प्रकार है कि अनुभव ज्ञानमात्र वस्तु है, एकत्वमोह मिथ्यात्वरूप द्रव्यका विभावपरिणाम है तो भी इनको [अनुभवको और मिथ्यात्वके मिटनेको] आपसमें कारण—कार्यपना है।

उसका विवरण— जिसकाल जीवको अनुभव होता है उसकाल मिथ्यात्व परिणमन मिटता है, सर्वथा अवश्य मिटता है। जिस काल मिथ्यात्व परिणमन मिटता है, उसकाल अवश्य अनुभवशक्ति होती है। मिथ्यात्व परिणमन जिस प्रकार मिटता है उसीको कहते हैं— “स्वं समालोक्य” [स्वं] अपनी शुद्ध चैतन्यवस्तुका [समालोक्य] स्वसंवेदनप्रत्यक्षरूपसे आस्वाद कर। कैसा है शुद्ध चेतन? “विलसन्तं” अनादिनिधन प्रगटरूपसे चेतनारूप परिणम रहा है। ॥२३॥

[शार्दूलविक्रीडित]

कान्त्यैव स्रपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः॥ २४॥

[हरिगीत]

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से।
जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से॥
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें।
उन सहस्र अठ लक्षण सहित जिन-सूरि को वंदन करें॥२४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ पर कोई मिथ्यादृष्टि कुवादी मतान्तरको स्थापता है कि जीव और शरीर एक ही वस्तु है। जैसाकि जैन मानते हैं कि शरीरसे जीवद्रव्य भिन्न है वैसा नहीं है, एक ही है, क्योंकि शरीरका स्तवन करनेपर आत्माका स्तवन होता है ऐसा जैन भी मानते हैं। उसीको बतलाते हैं— “ते तीर्थेश्वराः वन्द्याः” [ते] अवश्य विद्यमान हैं ऐसे, [तीर्थेश्वराः] तीर्थकरदेव [वन्द्याः] त्रिकाल नमस्कार करनेयोग्य है। कैसे हैं वे तीर्थकर? “ये कान्त्या एव दश दिशः स्रपयन्ति” [ये] तीर्थकर [कान्त्या] शरीरकी दीप्ति द्वारा [एव] निश्चयसे [दश दिशः] पूर्व—पश्चिम—उत्तर—दक्षिण ये चार दिशा, चार कोणरूप विदिशा तथा ऊर्ध्वदिशा और अधोदिशा इन दस दिशाओंको [स्रपयन्ति] प्रक्षालते हैं— पवित्र करते हैं। ऐसे हैं जो तीर्थकर उनको नमस्कार है। [जैनोंके यहाँ] ऐसा जो कहा सो तो शरीरका वर्णन किया, इसलिए हमें ऐसी प्रतीति उपजी कि शरीर और जीव एक ही है। और कैसे हैं तीर्थकर? “ये धाम्ना उद्दाममहस्विनां धाम निरुन्धन्ति” [ये] तीर्थकर [धाम्ना] शरीरके तेजद्वारा [उद्दाममहस्विनां] उग्र तेजवाले करोड़ों सूर्योंके [धाम] प्रतापको [निरुन्धन्ति] रोकते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि तीर्थकरके शरीरमें ऐसी दीप्ति है कि यदि कोटि सूर्य हों तो कोटि ही सूर्यकी दीप्ति रुकजावे। ऐसे वे तीर्थकर हैं। यहाँ भी शरीरकी ही बड़ाई की है।

और कैसे हैं तीर्थकर? “ये रूपेण जनमनो मुष्णन्ति” [ये] तीर्थकर [रूपेण] शरीरकी शोभा द्वारा [जन] सर्व जितने देव—मनुष्य—तिर्यच, उनके [मनः] अंतरंगको [मुष्णन्ति] चुरा लेते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव तीर्थकरके शरीरकी शोभा देखकर जैसा सुख मानते हैं वैसा सुख त्रैलोक्यमें अन्य वस्तुको देखनेसे नहीं मानते हैं। ऐसे वे तीर्थकर हैं। यहाँ भी शरीरकी बड़ाई की है। और कैसे हैं तीर्थकर? “ये दिव्येन ध्वनिना श्रवणयोः साक्षात् सुखं अमृतं क्षरन्तः” [ये] तीर्थकरदेव [दिव्येन] समस्त त्रैलोक्यमें उत्कृष्ट ऐसी [ध्वनिना] निरक्षरी वाणी के द्वारा [श्रवणयोः] सर्व जीवकी जो कर्णेन्द्रिय, उनमें [साक्षात्] उसीकाल [सुखं अमृतं] सुखमयी शान्तरसको [क्षरन्तः] बरसाते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि तीर्थकरकी वाणी सुननेपर सब जीवोंको वाणी रुचती है, जीव बहुत सुखी होते हैं। तीर्थकर ऐसे हैं। यहाँ भी शरीरकी बड़ाई की है। और कैसे हैं तीर्थकर? “अष्टसहस्रलक्षणधराः” [अष्टसहस्र] आठ अधिक एक हजार [लक्षणधराः] शरीरके चिह्नोंको सहज ही धारण करते हैं ऐसे तीर्थकर हैं।

भावार्थ इस प्रकार है कि तीर्थकरके शरीरमें शंख, चक्र, गदा, पद्म, कमल, मगर, मच्छ, ध्वजा आदिरूप आकारको लिये हुए रेखायें होती हैं जिन सबकी गिनती करनेपर वे सब एक हजार आठ होते हैं। यहाँ भी शरीरकी बड़ाई है। और कैसे हैं तीर्थकर? “सूरयः” मोक्षमार्गके उपदेष्टा हैं। यहाँ भी शरीरकी बड़ाई है। इससे जीव—शरीर एक ही है ऐसी मेरी प्रतीति है ऐसा कोई मिथ्यामतवादी मानता है सो उसके प्रति उत्तर इस प्रकार आगे कहेंगे। ग्रंथकर्ता कहते हैं कि वचनव्यवहारमात्रसे जीव—शरीरका एकपना कहनेमें आता है। इसी से ऐसा कहा है कि जो शरीरका स्तोत्र है सो वह तो व्यवहारमात्रसे जीवका स्तोत्र है। द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर जीव शरीर भिन्न भिन्न है। इसलिये जैसा स्तोत्र कहा है वह निज नामसे झूठा है [अर्थात् उसका नाम स्तोत्र घटित नहीं होता], क्योंकि शरीरके गुण कहनेपर जीवकी स्तुति नहीं होती है। जीवके ज्ञानगुणकी स्तुति करनेपर [जीवकी] स्तुति होती है। कोई प्रश्न करता है कि जिस प्रकार नगरका स्वामी राजा है, इसलिये नगरकी स्तुति करनेपर राजाकी स्तुति होती है, उसी प्रकार शरीरका स्वामी जीव है, इसलिये शरीरकी स्तुति करनेपर जीवकी स्तुति होती है, उत्तर ऐसा है कि इस प्रकार स्तुति नहीं होती है। राजाके निज गुणकी स्तुति करनेपर राजाकी स्तुति होती है उसी प्रकार जीवके निज चैतन्यगुणकी स्तुति करनेपर जीवकी स्तुति होती है। इसी को कहते हैं॥२४॥

[आर्या]

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

[हरिगीत]

प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को ।
अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को ॥
सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौन्दर्य से ।
अद्भुत अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से ॥ २५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदं नगरम् परिखावलयेन पातालम् पिबति इव” [इदं] प्रत्यक्ष [नगरम्] राजग्राम [परिखावलयेन] खाई के द्वारा घिरा होनेसे [पातालम्] अधोलोकको [पिबति इव] खाई इतनी गहरी है जिससे मालुम पड़ता है कि पी रहा है। कैसा है नगर? “प्राकारकवलिताम्बरम्” [प्राकार] कोटके द्वारा [कवलित] निगल लिया है [अम्बरम्] आकाशको जिसने ऐसा नगर है।

भावार्थ इस प्रकार है — कोट अति ही ऊँचा है। और कैसा है नगर? “उपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्” [उपवनराजी] नगरके समीप चारों ओर फैले हुए बागसे [निगीर्ण] रुँधी है [भूमितलम्] समस्त भूमि जिसकी ऐसा वह नगर है। भावार्थ इस प्रकार है कि नगरके बाहर घने बाग हैं। ऐसी नगरकी स्तुति करनेपर राजा की स्तुति नहीं होती है। यहाँपर खाई—कोट—बागका वर्णन किया सो तो राजाके गुण नहीं हैं। राजाके गुण हैं दान, पौरुष जानपना; उनकी स्तुति करनेपर राजा की स्तुति होती है ॥ २५ ॥

[आर्या]

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अङ्गोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

[हरिगीत]

गंभीर सागर के समान महान मानस मंग हैं ।
नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग हैं ॥
सहज ही अद्भुत अनूपम अपूरब लावण्य है ।
क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवर अंग हैं ॥ २६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “जिनेन्द्ररूपं जयति” [जिनेन्द्ररूपं] तीर्थकरके शरीरकी शोभा [जयति] जयवंत हो। कैसा है जिनेन्द्ररूप? “नित्यं” आयुपर्यन्त एकरूप है। और कैसा हैं? “अविकारसुस्थितसर्वाङ्गम्” [अविकार] जिसमें बालपन, युवापन, और बूढ़ापन न होनेसे [सुस्थित] समाधानरूप हैं [सर्वाङ्गम्] सर्व प्रदेश जिसके ऐसा है। और कैसा हैं जिनेन्द्रका रूप? “अपूर्वसहजलावण्यम्” [अपूर्व] आश्चर्यकारी तथा [सहज] विना यत्नके शरीरके साथ मिले हैं [लावण्यम्] शरीरके गुण जिसे ऐसा है।

और कैसा हैं? “समुद्रम् इव अक्षोभम्” [समुद्रम् इव] समुद्रके समान [अक्षोभम्] निश्चल है। और कैसा हैं? “परं” उत्कृष्ट है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार वायुके बिना समुद्र निश्चल होता है वैसे ही तीर्थकरका शरीर भी निश्चल है। इस प्रकार शरीरकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति नहीं होती है, क्योंकि शरीरके गुण आत्मामें नहीं हैं। आत्माका ज्ञानगुण है; ज्ञानगुणकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति होती है॥ २६॥

[शार्दूलविक्रीडित]

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चयात्
नः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवेत्
नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः॥ २७॥

[हरिगीत]

इस आत्मा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से।
यह शरीराआश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार है॥
परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन।
परमार्थसे तो भिन्न ही है देह अर चैतन्य घन॥२७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अतः तीर्थकरस्तवोत्तरबलात् आत्माङ्गयोः एकत्वं न भवेत्”
[अतः] इस कारण से, [तीर्थकरस्तव] ‘परमेश्वरके शरीरकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति होती है ऐसा जो मिथ्यामती जीव कहता है उसके प्रति [उत्तरबलात्] ‘शरीरकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति नहीं होती, आत्माके ज्ञानगुणकी स्तुति करनेपर आत्माकी स्तुति होती है।’ इस प्रकार उत्तरके बलसे अर्थात् उस उत्तरके द्वारा संदेह नष्ट हो जानेसे, [आत्मा] चेतनवस्तुको और [अङ्गयोः] समस्त कर्मकी उपाधिको [एकत्वं] एकद्रव्यपना [न भवेत्] नहीं होता है। आत्माकी स्तुति जिस प्रकार होती है उसे कहते हैं— “सा एवं” [सा] वह जीवस्तुति [एवं] मिथ्यादृष्टि जिस प्रकार कहता था उस प्रकार नहीं है। किन्तु जिस प्रकार अब कहते हैं उस प्रकार ही है — “कायात्मनोः व्यवहारतः एकत्वं, तु न निश्चयात्” [कायात्मनोः] शरीरादि अने चेतनद्रव्य इन दोनोंको [व्यवहारतः] कथनमात्रसे [एकत्वं] एकपना है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार सुवर्ण और और चाँदी इन दोनोंको ओटकर एक रैनी^१ बना लेते हैं सो उन सबको कहनेमें तो सुवर्ण ही कहते हैं उसी प्रकार जीव और कर्म अनादिसे एकक्षेत्र संबंधरूप मिले चले आरहे हैं, इसलिये उन सबको कथनमें तो जीव ही कहते हैं। [तु] दूसरे पक्षसे [न] जीव—कर्मको एकपना नहीं है। सो किस पक्षसे? [निश्चयात्] द्रव्यके निज स्वरूपको विचारनेपर। भावार्थ इस प्रकार है कि सुवर्ण और चाँदी यद्यपि एक क्षेत्रमें मिले हैं—एकपिंडरूप हैं। तथापि सुवर्ण पीला, भारी और चिकना ऐसे अपने गुणोंको लिए हुए है, चाँदी भी अपने श्वेतगुण को लिए हुए है। इसलिये एकपना कहना झूठा है,

१ रैनी = चाँदी या सोनेकी वह गुल्ली जो तार खींचनेके लिये बनाई जाती है।

उसी प्रकार जीव और कर्म भी यद्यपि अनादिसे एक बंधपर्यायरूप मिले चले आरहे हैं — एकपिंडरूप हैं। तथापि जीवद्रव्य अपने ज्ञानगुणसे बिराजमान है, कर्म—पुद्गलद्रव्य भी अपने अचेतन गुण को लिए हुए है। इसलिये एकपना कहना झूठा है। इस कारण स्तुतिमें भेद है। [उसी को दिखलाते हैं—] ‘‘व्यवहारतः वपुषः स्तुत्या नुः स्तोत्रं अस्ति, न तत् तत्त्वतः’’ [व्यवहारतः] बंधपर्यायरूप एक क्षेत्रावगाहदृष्टिसे देखनेपर [वपुषः] शरीरकी [स्तुत्या] स्तुति करनेसे [नुः] जीवकी [स्तोत्रं] स्तुति [अस्ति] होती है। [न तत्] दूसरे पक्षसे विचारनेपर, स्तुति नहीं होती है। किस अपेक्षासे नहीं होती है ? [तत्त्वतः] शुद्ध जीवद्रव्यस्वरूप विचारनेपर। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार ‘श्वेत सुवर्ण’ ऐसा यद्यपि कहने में आता है तथापि श्वेतगुण चाँदीका होता है, इसलिये श्वेत सुवर्ण ऐसा कहना झूठा है। उसी प्रकार—

‘‘ बे रत्ता बे सांवला बे नीलुप्पलवन्न ।

मरगजपन्ना दो वि जिन सोलह कंचनवन्न ।। ’’

भावार्थ—दो तीर्थंकर रक्तवर्ण, दो कृष्ण, दो नील, दो पन्ना और सोलह सुवर्ण रंग हैं, यद्यपि ऐसा कहने में आता है तथापि श्वेत, रक्त और पीत आदि पुद्गलद्रव्यके गुण हैं, जीवके गुण नहीं हैं। इसलिये श्वेत, रक्त अने पीत आदि कहनेपर जीव नहीं होता, ज्ञानगुण कहनेपर जीव है। कोई प्रश्न करता है कि शरीरकी स्तुति करनेपर तो जीवनी स्तुति नहीं होती, तो जीवकी स्तुति कैसे होती है ? उत्तर इस प्रकार है कि चिद्रूप कहनेपर होती है — ‘‘निश्चयतः चित्स्तुत्या एव चितः स्तोत्रं भवति’’ [निश्चयतः] शुद्ध जीवद्रव्यरूप विचारनेपर [चित्] शुद्ध ज्ञानादिका [स्तुत्या] बार बार वर्णन—स्मरण—अभ्यास करनेसे [एव] निःसंदेह [चितः स्तोत्रं] जीवद्रव्यकी स्तुति [भवति] होती है।

भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार ‘पीला, भारी और चीकना सुवर्ण’ ऐसा कहनेपर सुवर्णनी स्वरूपस्तुति होती है, उसी प्रकार केवली ऐसे हैं कि जिन्होंने प्रथम ही शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव किया अर्थात् इन्द्रिय—विषय—कषायको जीते हैं, बादमें मूलसे क्षपण किया है, सकल कर्म क्षय किया है अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलवीर्य और केवलसुखरूपसे बिराजमान प्रगट हैं; ऐसा कहनेपर—अनुभवनेपर केवलीकी गुणस्वरूप स्तुति होती है। इससे यह अर्थ निश्चित किया कि जीव और कर्म एक नहीं हैं, भिन्न—भिन्न हैं। विवरण— जीव और कर्म एक होते तो इतना स्तुतिभेद कैसे होता।। २७।।

[मालिनी]

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां
 नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम् ।
 अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य
 स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

[हरिगीत]

इस आत्मा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से ।
 निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवर देव ने ॥
 यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सदबोध हो ।
 भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सदबोध हो ॥ २८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ इति कस्य बोधः बोधम् अद्य न अवतरति ’’ [इति] इस प्रकार भेद द्वारा समझानेपर [कस्य] त्रैलोक्यमें ऐसा कौन जीव है जिसकी [बोधः] बोध अर्थात् ज्ञानशक्ति [बोधम्] स्वस्वरूपकी प्रत्यक्ष अनुभवशीलरूपतासे [अद्य] आज भी [न अवतरति] नहीं परिणमनशील होवे ? भावार्थ इस प्रकार है कि जीव—कर्मका भिन्नपना अति ही प्रगट कर दिखाया, उसे सुननेपर जिस जीवको ज्ञान नहीं उत्पन्न होता उसको उलाहना है। किस प्रकारसे भेद द्वारा समझानेपर ? उसी भेद—प्रकार को दिखलाते हैं—‘‘ आत्मकायैकतायां परिचिततत्त्वैः नयविभजनयुक्त्या अत्यन्तम् उच्छादितायाम् ’’ [आत्म] चेतनद्रव्य और [काय] कर्मपिंडका [एकतायां] एकत्वपनाको ।

[भावार्थ इस प्रकार है कि जीव—कर्म अनादि बंधपर्यायरूप एकपिंड है उसको ।]
 परिचिततत्त्वैः— सर्वज्ञैः, विवरण— [परिचित] प्रत्यक्ष जाना है [तत्त्वैः] जीवादि समस्तद्रव्योंके गुण—पर्यायोंको जिन्होंने ऐसे सर्वज्ञदेवके द्वारा [नय] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकरूप पक्षपातके [विभजन] विभाग—भेदनिरूपण, [युक्त्या] भिन्नस्वरूप वस्तुको साधना, उससे [अत्यन्तं] अति ही निःसंदेहरूपसे [उच्छादितायाम्] जिस प्रकार ढंकी हुई निधिको प्रगट करते हैं उसी प्रकार जीवद्रव्य प्रगट ही है, परन्तु कर्मसंयोगसे ढंका हुआ होनेसे मरणको प्राप्त हो रहा था सो वह भ्रान्ति परमगुरु श्री तीर्थकरदेवके उपदेश सुननेपर मिटती है, कर्मसंयोगसे भिन्न शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव होता है, ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है। कैसा है बोध ? ‘‘ स्वरसरभसकृष्टः ’’ [स्वरस] ज्ञानस्वभावका [रभस] उत्कर्ष—अति ही समर्थपना उससे [कृष्टः] पूज्य है। और कैसा है ? ‘‘ प्रस्फुटन् ’’ प्रगटरूप है। और कैसा है ? ‘‘ एकः एव ’’ निश्चयथी चैतन्यरूप है ॥ २८ ॥

[मालिनी]

अवतरति न यावद्धृत्तिमत्यन्तवेगा-
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

[हरिगीत]

परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े।
अर जब तलक हे आत्मन् वृत्ति नहो अति बलवती ॥
व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अति शिघ्र ही।
अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही ॥ २९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ इयम् अनुभूतिः तावत् झटिति स्वयम् आविर्बभूव ’’ [इयम्] यह विद्यमान [अनुभूतिः] अनुभूति अर्थात् शुद्धचैतन्यवस्तुका प्रत्यक्ष जानपना [तावत्] उतने काल तक [झटिति] उसी समय [स्वयम्] सहज ही अपने ही परिणमनरूप [आविर्बभूव] प्रगट हुआ। कैसी है वह अनुभूति ? ‘‘ अन्यदीयैः सकलभावैः विमुक्ता ’’ [अन्यदीयैः] शुद्ध चैतन्यस्वरूपसे अत्यंत भिन्न ऐसे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसंबंधी [सकलभावैः] ‘सकल’ अर्थात् जितने हैं गुणस्थान, मार्गणास्थानरूप जो राग, द्वेष, मोह इत्यादि अति बहुत विकल्प ऐसे जो ‘भाव’ अर्थात् विभावरूप परिणाम उनसे [विमुक्ता] सर्वथा रहित है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जितने भी विभाव परिणामस्वरूप विकल्प हैं, अथवा मन—वचनसे उपचार कर द्रव्य—गुण—पर्याय भेदरूप अथवा उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य भेदरूप विकल्प हैं उनसे रहित शुद्धचेतनामात्रका आस्वादरूप ज्ञान उसका नाम अनुभव कहा जाता है। वह अनुभव जिस प्रकार होता है उसीको बतलाते हैं—‘‘ यावत् अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः अत्यन्तवेगात् अनवम् वृत्तिम् न अवतरति ’’ [यावत्] जितने काल तक, जिस काल में [अपरभाव] शुद्ध चैतन्यमात्रसे भिन्न द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप जो समस्त भाव उनके [त्याग] ‘ये भाव समस्त झूठे हैं, जीवके स्वरूप नहीं हैं’ ऐसे प्रत्यक्ष आस्वादरूप ज्ञानके सूचक [दृष्टान्त] उदाहरणके समान।

विवरण जैसे किसी पुरुषने धोबीके घरेसे अपने वस्त्रके धोकेसे दूसरेका वस्त्र आनेपर बिना पहिचानके उसे पहिनकर उसे अपना जाना। बादमें उस वस्त्रका धनी जो कोई था उसने अञ्चल पकड़कर कहा कि 'यह वस्त्र तो मेरा है,' पुनः कहा कि 'मेरा ही है,' ऐसा सुननेपर उस पुरुषने चिह्न देखा, जानाकि मेरा चिह्न तो मिलता नहीं इससे निश्चयसे यह वस्त्र मेरा नहीं है, दूसरेका है।' उसके ऐसी प्रतीति होनेपर त्याग हुआ घटित होता है। वस्त्र पहने ही है तो भी त्याग घटित होता है, क्योंकि स्वामित्वपना छूट गया है। उसी प्रकार अनादि कालसे जीव मिथ्यादृष्टि है, इसलिए कर्मसंयोगजनित है जो शरीर, दुःख—सुख, राग—द्वेष आदि विभाव पर्याय, उन्हें अपना ही कर जानता है और उन्हींरूप प्रवर्तता है। हेय उपादेय नहीं जानता है। इस प्रकार अनंत कालतक भ्रमण करते हुए जब थोड़ा संसार रहता है और परमगुरुका उपदेश प्राप्त होता है। उपदेश ऐसा कि 'भो जीव! जितने हैं जो शरीर, सुख, दुःख, राग, द्वेष, मोह, जिनको तू अपनाकर जानता है और इनमें रत हुआ है वे तो सब ही तेरे नहीं हैं। अनादि कर्मसंयोगकी उपाधि हैं।' ऐसा बार बार सुननेपर जीववस्तुका विचार उत्पन्न हुआ कि जीवका लक्षण तो शुद्ध चिद्रूप है, इस कारण यह सब उपाधि तो जीवकी नहीं है, कर्मसंयोगकी उपाधि है। ऐसा निश्चय जिस काल हुआ उसी काल सकल विभावभावों का त्याग है। शरीर, सुख, दुःख जैसे ही थे, वैसे ही हैं, परिणामोंसे त्याग है, क्योंकि स्वामित्वपना छूट गया है। इसीका नाम अनुभव है, इसीका नाम सम्यक्त्व है। इस प्रकार दृष्टान्तके समान उत्पन्न हुई है दृष्टि अर्थात् शुद्ध चिद्रूपका अनुभव जिसके ऐसा जो कोई जीव है वह [अनवम्] अनादि कालसे चले आरहे [वृत्तिम्] कर्मपर्यायके साथ एकत्वपनेके संस्कार तद्रूप [न अवतरति] नहीं परिणमता है। भावार्थ इस प्रकार है—कोई जानेगा कि जितना भी शरीर, सुख, दुःख, राग, द्वेष, मोह है उसकी त्यागबुद्धि कुछ अन्य है—कारणरूप है। तथा शुद्ध चिद्रूपमात्रका अनुभव कुछ अन्य है—कार्यरूप है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार कि राग, द्वेष, मोह, शरीर, सुख, दुःख आदि विभाव पर्यायरूप परिणत हुए जीवका जिस कालमें ऐसा अशुद्ध परिणामरूप संस्कार छूट जाता है उसी कालमें इसके अनुभव है। उसका विवरण—जो शुद्ध चेतनामात्रका आस्वाद आये बिना अशुद्ध भावरूप परिणाम छूटता नहीं और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता नहीं। इसलिये जो कुछ है सो एक ही काल, एक ही वस्तु, एक ही ज्ञान, एक ही स्वाद है। आगे जिसको शुद्ध अनुभव हुआ है वह जीव जैसा है वैसा ही कहते हैं॥ २९॥

[स्वागता]

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं
चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः
शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥ ३० ॥

[हरिगीत]

सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ ।
मैं स्वयं ही इस लोक में निज भाव का अनुभव करूँ ॥
यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ ॥ ३० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इह अहं एकम् स्वम् स्वयम् चेतये” [इह] विभाव परिणाम छूट गये होनेसे [अहं] अनादिनिधन चिद्रूप वस्तु ऐसा मैं [एकं] समस्त भेदबुद्धिसे रहित शुद्ध वस्तुमात्र [स्वं] शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तुको [स्वयम्] परोपदेशके बिना ही अपनेमें स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूप [चेतये] आस्वादता हूँ—[द्रव्यदृष्टिसे] जैसे हम हैं ऐसा अब [पर्यायमें] आस्वाद आता है । कैसी है शुद्ध चिद्रूपवस्तु ? “सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं” [सर्वतः] असंख्यात प्रदेशोंमें [स्वरस] चैतन्यपनेसे [निर्भर] संपूर्ण है [भावं] सर्वस्व जिसका ऐसी है ।

भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि जैनसिद्धान्तका बार बार अभ्यास करनेसे दृढ़ प्रतीति होती है उसका नाम अनुभव है, सो ऐसा नहीं है। मिथ्यात्वकर्मका रस—पाक मिटनेपर मिथ्यात्वभावरूप परिणमन मिटता है तब वस्तुस्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद आता है, उसका नाम अनुभव है। और अनुभवशील जीव जैसे अनुभवता है वैसा कहते हैं—“मम कश्चन मोहः नास्ति नास्ति” [मम] मेरे [कश्चन] द्रव्य—पिंडरूप अथवा जीवसंबंधी भावपरिणमनरूप [मोहः] जितने विभावरूप अशुद्ध परिणाम [नास्ति नास्ति] सर्वथा नहीं हैं, नहीं हैं। अब ये जैसा है वैसा कहते हैं—“शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि” [शुद्ध] समस्त विकल्पोंसे रहित [चित्] चैतन्यके [घन] समूहरूप [महः] उद्योतका [निधिः] समुद्र [अस्मि] मैं हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि सर्व ही का नास्तिपना होता है, इसलिये ऐसा कहा कि शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तु प्रगट है ॥ ३० ॥

[मालिनी]

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
 स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
 प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
 कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

[हरिगीत]

बस इस तरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता ।
 तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया ।।
 प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञान वृत्त परिणत हुआ ।
 तब आत्मा के बाग में आत्म रमण करने लगा ॥३१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एव अयम् उपयोगः स्वयम् प्रवृत्तः” [एव] निश्चयसे जो अनादि निधन है ऐसा [अयम्] यही [उपयोगः] जीवद्रव्य [स्वयम्] जैसा द्रव्य था वैसा शुद्धपर्यायरूप [प्रवृत्तः] प्रगट हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य शक्ति रूपसे तो शुद्ध था परन्तु कर्म संयोगसे अशुद्धरूप परिणत हुआ था। अब अशुद्धपना जानेसे जैसा था वैसा हो गया। कैसा होनेपर शुद्ध हुआ ? “इति सर्वैः अन्यभावैः सह विवेके सति” [इति] पूर्वोक्त प्रकारसे [सर्वैः] शुद्ध चिद्रूपमात्रसे भिन्न जितने समस्त [अन्यभावैः सह] द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मसे [विवेके] शुद्ध चैतन्यका भिन्नपना [सति] होनेपर।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार सुवर्णपत्रके पकानेपर कालिमाके चले जानेसे सहज ही सुवर्णमात्र रह जाता है उसी प्रकार मोह—राग—द्वेषरूप विभाव परिणाममात्रके चले जानेपर सहज ही शुद्ध चैतन्यमात्र रह जाता है। कैसी होती हुई जीववस्तु प्रगट होती है ? “एकम् आत्मानम् बिभ्रत्” [एकम्] निर्भेद—निर्विकल्प चिद्रूप वस्तु ऐसा जो [आत्मानम्] आत्मस्वभाव उसरूप [बिभ्रत्] परिणत हुआ है। और कैसा है आत्मा ? “दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिः” [दर्शन] श्रद्धा—रुचि—प्रतीति, [ज्ञान] जानपना, [वृत्तैः] शुद्ध परिणति, ऐसा जो रत्नत्रय उसरूपसे [कृत] किया है [परिणतिः] परिणमन जिसने ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यात्व परिणतिका त्याग होनेपर, शुद्ध स्वरूपका अनुभव होनेपर साक्षात् रत्नत्रय घटित होता है। कैसे हैं दर्शन—ज्ञान—चारित्र ? “प्रकटितपरमार्थैः” [प्रकटित] प्रगट किया है [परमार्थैः] सकल कर्मक्षय लक्षण मोक्ष जिन्होंने ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि ‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ ऐसा कहना तो सर्व जैन सिद्धान्तमें है और यही प्रमाण है। और कैसा है शुद्धजीव ? “आत्माराम” [आत्म] आप ही है [आराम] क्रीड़ावन जिसका ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि चेतनद्रव्य अशुद्ध अवस्थारूप परके साथ परिणमता था सो तो मिटा, सांप्रत [वर्तमानकालमें] स्वरूप परिणमनमात्र है ॥ ३१ ॥

[वसन्ततिलका]

मञ्जुन्तु निर्भरममी सममेव लोका
 आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
 आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
 प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥ ३२ ॥

[हरिगीत]

सुख शान्त रस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
 विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ॥
 हे भव्यजन ! इस लोक के सब एक साथ नहाइये ।
 अर इसे ही अपनाइये इसमे मग्न हो जाइये ॥ ३२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ एष भगवान् प्रोन्मग्नः ’’ [एष] सदा काल प्रत्यक्षपनेसे चेतनस्वरूप है ऐसा [भगवान्] भगवान् अर्थात् जीवद्रव्य [प्रोन्मग्नः] शुद्धांगस्वरूप दिखलाकर प्रगट हुआ ।

भावार्थ इस प्रकार है कि इस ग्रंथका नाम नाटक अर्थात् अखाड़ा है। तहाँ भी प्रथम ही शुद्धाङ्ग नाचता है तथा यहाँ भी प्रथम ही जीवका शुद्ध स्वरूप प्रगट हुआ। कैसा है भगवान् ? ‘‘ अवबोधसिन्धुः ’’ [अवबोध] ज्ञानमात्रका [सिन्धुः] पात्र है। अखाड़ामें भी पात्र नाचता है, यहाँ भी ज्ञानपात्र जीव है। अब जिस प्रकार प्रगट हुआ उसे कहते हैं—‘‘ भरेण विभ्रमतिरस्करिणीं आप्लाव्य ’’ [भरेण] मूलसे उखाड़कर दूर किया। सो कौन ? [विभ्रम] विपरीत अनुभव—मिथ्यात्वरूप परिणाम वही है [तिरस्करिणी] शुद्धस्वरूपको आच्छादनशील अन्तर्जवनिका [अंदरका पड़दा] उसको, [आप्लाव्य] मूलसे ही दूर करके। भावार्थ इस प्रकार है कि अखाड़ेमें प्रथम ही अन्तर्जवनिका कपड़ेकी होती है। उसे दूर कर शुद्धाङ्ग नाचता है, यहाँ भी अनादि कालसे मिथ्यात्व परिणति है। उसके छूटनेपर शुद्धस्वरूप परिणमता है। शुद्धस्वरूप प्रगट होनेपर जो कुछ है वही कहते हैं—‘‘ अमी समस्ताः लोकाः शान्तरसे समम् एव मञ्जुन्तु ’’ [अमी] जो विद्यमान हैं ऐसे [समस्ताः] जितने [लोकाः] जीव [शान्तरसे] जो अतीन्द्रिय सुख गर्भित हैं शुद्धस्वरूपका अनुभव उसमें [समम् एव] एक ही काल [मञ्जुन्तु] मग्न होओ— तन्मय होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि अखाड़ेमें तो शुद्धाङ्ग दिखाता है। वहाँ जितने देखने वाले हैं वे सब एकही साथ मग्न होकर देखते हैं उसी प्रकार जीवका स्वरूप शुद्धरूप दिखलाया होनेपर सर्व ही जीवोंके द्वारा अनुभव करने योग्य है। कैसा है शान्तरस ? ‘‘ आलोकमुच्छलति ’’ [आलोकम्] समस्त त्रैलोक्यमें [उच्छलति] सर्वोत्कृष्ट है, उपादेय है अथवा लोकालोकका ज्ञाता है। अब अनुभव जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं । ‘‘ निर्भरम् ’’ अति मग्नस्वरूप है ॥ ३२ ॥



卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐
 卐 —२— 卐
 卐 अजीव अधिकार 卐
 卐 卐
 卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

[शार्दूलविक्रीडित]

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-
 नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
 आत्माराममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
 धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥ १-३३ ॥

[सवैया इकतीसा]

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो, ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
 अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और, दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता ॥
 जाने लोकालोक को पै निज में मगनरहे, विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता ।
 ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मनमें, स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥३३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानं विलसति” [ज्ञानं] ज्ञान अर्थात् जीवद्रव्य [विलसति]
 जैसा है वैसा प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि अब तक विधिरूपसे शुद्धाङ्ग तत्त्वरूप जीवका
 निरूपण किया अब आगे उसी जीवका प्रतिषेधरूपसे निरूपण करते हैं। उसका विवरण—शुद्ध जीव
 है, टङ्गोत्कीर्ण है, चिद्रूप है ऐसा कहना विधि कही जाती है। जीवका स्वरूप गुणस्थान नहीं, कर्म—
 नोकर्म जीवके नहीं, भावकर्म जीवका नहीं ऐसा कहना प्रतिषेध कहलाता है। कैसा होता हुआ ज्ञान
 प्रगट होता है? “मनो ह्लादयत्” [मनः] अन्तःकरणेन्द्रियको [ह्लादयत्] आनन्दरूप करता हुआ।
 और कैसा होता हुआ? “विशुद्धं” आठ कर्मोंसे रहितपने कर स्वरूपरूपसे परिणत हुआ। और
 कैसा होता हुआ? “स्फुटत्” स्वसंवेदनप्रत्यक्ष होता हुआ। और कैसा होता हुआ?
 “आत्मारामम्” [आत्म] स्वस्वरूप ही है [आरामम्] क्रीड़ावन जिसका ऐसा होता हुआ। और
 कैसा होता हुआ? “अनन्तधाम” [अनन्त] मर्यादासे रहित है [धाम] तेजपुञ्ज जिसका ऐसा होता
 हुआ। और कैसा होता हुआ? “अध्यक्षेण महसा नित्योदितं” [अध्यक्षेण] निरावरण प्रत्यक्ष
 [महसा] चैतन्यशक्ति के द्वारा [नित्योदितं] त्रिकाल शाश्वत है प्रताप जिसका ऐसा होता हुआ।
 और कैसा होता हुआ? “धीरोदात्तम्” [धीर] अडोल और [उदात्तम्] सबसे बड़ा ऐसा होता
 हुआ। और कैसा होता हुआ? “अनाकुलं” इन्द्रियजनित सुख—दुःखसे रहित अतीन्द्रिय सुखरूप
 बिराजमान होता हुआ। ऐसा जीव जैसे प्रगट हुआ उसे कहते हैं—
 “आसंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसात्” [आसंसार] अनादि कालसे [निबद्ध] जीवसे मिली हुई
 चली आई है ऐसी [बन्धनविधि] ज्ञानावरणकर्म, दर्शनावरणकर्म, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम,
 गोत्र, अन्तराय ऐसे हैं जो द्रव्यपिंडरूप आठ कर्म तथा भावकर्मरूप हैं जो राग, द्वेष, मोहपरिणाम
 इत्यादि हैं बहुत विकल्प उनका [ध्वंसात्] विनाशसे जीवस्वरूप जैसा कहा है वैसा है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार जल और कीचड़ जिस कालमें एकत्र मिले हुए हैं उसी काल जो स्वरूपका अनुभव किया जाय तो कीचड़ जलसे भिन्न है, जल अपने स्वरूप है, उसी प्रकार संसार—अवस्थामें जीव कर्म बंधपर्यायरूपसे एक क्षेत्रमें मिला है। उसी अवस्थामें जो शुद्ध स्वरूपका अनुभव किया जाय तो समस्त कर्म जीवस्वरूपसे भिन्न है। जीवद्रव्य स्वच्छस्वरूपरूप जैसा कहा वैसा है। ऐसी बुद्धि जिस प्रकासे उत्पन्न हुई उसी को कहते हैं—“यत्पार्षदान् प्रत्याययत्” [यत्] जिस कारणसे [पार्षदान्] गणधर मुनीश्वरोंको [प्रत्याययत्] प्रतीति उत्पन्न कराकर । किस कारणसे प्रतीति उत्पन्न हुई वही कहते हैं—

“ जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा ” [जीव] चेतन्यद्रव्य और [अजीव] जड़कर्म—नोकर्म—भावकर्म उनके [विवेक] भिन्न—भिन्नपनेसे [पुष्कल] विस्तीर्ण [दृशा] ज्ञानदृष्टिके द्वारा। जीव और कर्म का भिन्न—भिन्न अनुभव करने पर जीव जैसा कहा गया है वैसा है॥३३॥

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः॥ २-३४॥

[हरिगीत]

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से ।
अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से॥
यदि अनवरत छहमास हो निज आत्मा की साधना ।
तो आत्मा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना॥३४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ विरम अपरेण अकार्यकोलाहलेन किम् ” [विरम] भो जीव ! विरक्त हो, हठ मत कर, [अपरेण] मिथ्यात्वरूप हैं [अकार्य] कर्मबंधको करते हैं [कोलाहलेन किम्] ऐसे जो झूठे विकल्प उनसे क्या ? उसका विवरण—कोई मिथ्यादृष्टि जीव शरीरको जीव कहता है, कोई मिथ्यादृष्टि जीव आठ कर्मोंको जीव कहता है, कोई मिथ्यादृष्टि जीव रागादि सूक्ष्म अध्यवसायको जीव कहता है—इत्यादि रूपसे नाना प्रकारके बहुत विकल्प करता है। भो जीव ! उन समस्त ही विकल्पों को छोड़, क्योंकि वे झूठे हैं। “ निभृतः सन् स्वयं एकम् पश्य ” [निभृतः] एकाग्ररूप [सन्] होता हुआ [एकम्] शुद्ध चिद्रूपमात्रका [स्वयम्] स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूपसे [पश्य] अनुभव कर। “ षण्मासम् ” विपरीतपना जिस प्रकारसे छूटे उसी प्रकार छोड़कर। “ अपि ” बारंबार बहुत क्या कहें ? ऐसा अनुभव करनेपर स्वरूप प्राप्ति है, इसीको कहते हैं—“ ननु हृदयसरसि पुंसः अनुपलब्धिः किम् भाति ” [ननु] भो जीव !

[हृदयसरसि] मनरूपी सरोवरमें है [पुंसः] जो जीवद्रव्य उसकी [अनुपलब्धिः] अप्राप्ति [किं भाति] शोभती है क्या? भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव करनेपर स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती ऐसा तो नहीं है। “च उपलब्धिः” [च] है तो ऐसा ही है कि [उपलब्धिः] अवश्य प्राप्ति होती है। कैसा है जीवद्रव्य? “पुद्गलात् भिन्नधाम्नः” [पुद्गलात्] द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मसे [भिन्नधाम्नः] भिन्न है चेतनरूप है—तेजःपुञ्ज जिसका ऐसा है॥ २-३४॥

[अनुष्टुप]

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥ ३-३५ ॥

[हरिगीत]

चैतन्य शक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।
चैतन्य शक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धात्मा ।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यात्मा ॥ ३५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अयम् जीवः इयान्” [अयम्] विद्यमान है ऐसा [जीवः] चेतनद्रव्य [इयान्] इतना ही है। कैसा है? “चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारः” [चित्-शक्ति] चेतना मात्रसे [व्याप्त] मिला है [सर्वस्वसारः] दर्शन, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य इत्यादि अनंत गुण जिसके ऐसा है। “अमी सर्वे अपि पौद्गलिकाः भावाः अतः अतिरिक्ताः” [अमी] विद्यमान हैं ऐसे, [सर्वे अपि] द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मरूप जितने हैं उन सब, [पौद्गलिकाः] अचेतन पुद्गलद्रव्योंसे उत्पन्न हुए हैं ऐसे [भावाः] अशुद्ध रागादिरूप समस्त विभावपरिणाम [अतः] शुद्धचेतनामात्र जीववस्तुसे [अतिरिक्ताः] अति ही भिन्न है। ऐसे ज्ञानका नाम अनुभव कहते हैं॥ ३-३५॥

[मालिनी]

सकलमपि विहायाह्वय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥ ४-३६ ॥*

[दोहा]

चित् शक्ति सर्वस्व जिन केवल वे हैं जीव ।
उन्हें छोड़कर और सब पुद्गलमयी अजीव ॥ ३६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “आत्मा आत्मनि इमम् आत्मानम् कलयतु” [आत्मा] जीवद्रव्य [आत्मनि] अपनेमें [इमम् आत्मानम्] अपनेको [कलयतु] निरंतर अनुभवो। कैसा है अनुभवयोग्य आत्मा? “विश्वस्य साक्षात् उपरि चरन्तं” [विश्वस्य] समस्त त्रैलोक्यमें [उपरि चरन्तं] सर्वोत्कृष्ट है, उपादेय है। [साक्षात्] ऐसा ही है।, बड़ाई करके नहीं कह रहे हैं। और कैसा है? “चारु” सुखस्वरूप है। और कैसा है? “परम्” शुद्धस्वरूप है। और कैसा है? “अनन्तम्” शाश्वत है। अब जैसे अनुभव होता है वही कहते हैं— “चिच्छशक्तिरिक्तं सकलम् अपि अह्माय विहाय” [चित्-शक्तिरिक्तं] ज्ञानगुणसे शून्य ऐसे [सकलम् अपि] समस्त द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मको [अह्माय] मूलसे [विहाय] छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है कि जितनी कुछ कर्मजाति है वह समस्त हेय है, उसमें कोई कर्म उपादेय नहीं है। और अनुभव जैसे होता है वही कहते हैं— “चिच्छशक्तिमात्रम् स्वं च स्फुटतरम् अवगाह्य” [चित्-शक्तिमात्रम्] ज्ञानगुण ही है स्वरूप जिसका ऐसे [स्वं च] अपनेको [स्फुटतरम्] प्रत्यक्षरूपसे [अवगाह्य] आस्वादकर। भावार्थ इस प्रकार है कि जितने भी विभावपरिणाम हैं वे सब जीवके नहीं हैं। शुद्ध चैतन्यमात्र जीव है ऐसा अनुभव कर्तव्य है॥ ४-३६॥

[शालिनी]

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात्॥ ५-३७॥

[दोहा]

वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न।
अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य॥३७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अस्य पुंसः सर्वे एव भावाः भिन्नाः” [अस्य] विद्यमान है ऐसे [पुंसः] शुद्ध चैतन्य द्रव्यसे [सर्वे] जितने हैं वे सब [भावाः] भाव अर्थात् अशुद्ध विभाव परिणाम [एव] निश्चयसे [भिन्नाः] भिन्न हैं— जीवस्वरूपसे निराले हैं। वे कौनसे भाव? “वर्णाद्याः वा रागमोहादयः वा” [वर्णाद्याः] एक कर्म अचेतन शुद्ध पुद्गलपिंडरूप हैं वे तो जीवस्वरूपसे निराले ही हैं। [वा] एक तो ऐसा है कि [रागमोहादयः] विभावरूप—अशुद्धरूप है, देखनेपर चेतन जैसे दीखते हैं, ऐसे जो राग—द्वेष—मोहरूप जीवसंबंधी परिणाम वे भी शुद्ध जीवस्वरूपको अनुभवनेपर जीवस्वरूपसे भिन्न हैं। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि विभावपरिणामको जीवस्वरूपसे ‘भिन्न’ कहा सो ‘भिन्न’का भावार्थ तो मैं समझा नहीं। ‘भिन्न’ कहनेपर, ‘भिन्न’ हैं। सो वस्तुरूप हैं कि ‘भिन्न’ हैं सो अवस्तुरूप हैं? उत्तर इस प्रकार है कि अवस्तुरूप हैं। “तेन एव अन्तस्तत्त्वतः पश्यतः अमी दृष्टाः नो स्युः” [तेन एव] उसी कारणसे [अन्तःतत्त्वतः पश्यतः] शुद्ध स्वरूपका अनुभवशील है जो जीव उसको [अमी] विभाव परिणाम [दृष्टाः] दृष्टिगोचर [नो स्युः] नहीं होते ।

“ परं एकं दृष्टम् स्यात् ” [परं] उत्कृष्ट है ऐसा [एकं] शुद्ध चैतन्यद्रव्य [दृष्टम्] दृष्टिगोचर [स्यात्] होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि वर्णादिक और रागादिक विद्यमान दिखलाई पड़ते हैं तथापि स्वरूप अनुभवनेपर स्वरूपमात्र है, विभावपरिणतिरूप वस्तु तो कुछ नहीं ॥ ५-३७ ॥

[उपजाति]

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्
तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं
पश्यन्ति रुक्मं न कथंचनासिम् ॥ ६-३८ ॥

[दोहा]

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
स्वर्णम्यानतो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥ ३८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ अत्र येन यत् किञ्चित् निर्वर्त्यते तत् तत् एव स्यात्, कथञ्चन न अन्यत् ” [अत्र] वस्तुके स्वरूपका विचार करनेपर [येन] मूलकारणरूप वस्तुसे [यत् किञ्चित्] जो कुछ कार्य—निष्पत्तिरूप वस्तुका परिणाम [निर्वर्त्यते] पर्यायरूप नीपजता है, [तत्] जो नीपजा है वह पर्याय [तत् एव स्यात्] नीपजता हुआ जिस द्रव्यसे नीपजा है वही द्रव्य है। [कथञ्चन न अन्यत्] निश्चयसे अन्य द्रव्यरूप नहीं हुआ। वही दृष्टांत द्वारा कहते हैं—“ इह रुक्मेण असिकोशं निर्वृत्तम् ” [इह] प्रत्यक्ष है कि [रुक्मेण] चाँदी धातुसे [असिकोशं] तलवारकी म्यान [निर्वृत्तम्] घड़कर मौजूद की सो “ रुक्मं पश्यन्ति, कथञ्चन न असिम् ” [रुक्मं] जो म्यान मौजूद हुई वह वस्तु तो चाँदी ही है ऐसा [पश्यन्ति] प्रत्यक्षरूपसे सर्व लोक देखता है और मानता है। [कथञ्चन] ‘चाँदीकी तलवार’ ऐसा कहनेमें तो कहा जाता है तथापि [न असिम्] चाँदीकी तलवार नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि चाँदीकी म्यानमें तलवार रहती है। इस कारण ‘चाँदीकी तलवार’ ऐसा कहने में आता है। तथापि चाँदीकी म्यान है, तलवार लोहेकी है, चाँदीकी तलवार नहीं है ॥ ६-३८ ॥

[उपजाति]

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु
निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा
यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ॥ ७-३९ ॥

[दोहा]

वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गल जन्य ।
एक शुद्ध विज्ञानघन आत्म इनसे भिन्न ॥३९॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ हि इदं वर्णादिसामग्र्यम् एकस्य पुद्गलस्य निर्माणम् विदन्तु ’’ [हि] निश्चयसे [इदं] विद्यमान [वर्णादिसामग्र्यम्] गुणस्थान, मार्गणास्थान, द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म इत्यादि जितनी अशुद्ध पर्यायें हैं वे समस्त ही [एकस्य पुद्गलस्य] अकेले पुद्गल द्रव्यका [निर्माणम्] कार्य है अर्थात् पुद्गल द्रव्यका चित्राम जैसा है ऐसा [विदन्तु] भो जीव! निःसंदेहरूपसे जानो। ‘‘ ततः इदं पुद्गलः एव अस्तु, न आत्मा ’’ [ततः] उस कारणसे [इदं] शरीरादि सामग्री [पुद्गलः] जिस पुद्गल द्रव्यसे हुई वही पुद्गल द्रव्य है । [एव] निश्चयसे [अस्तु] वही है। [न आत्मा] आत्मा अजीव द्रव्यरूप नहीं हुआ। ‘‘ यतः सः विज्ञानघनः ’’ [यतः] जिस कारणसे [सः] जीवद्रव्य [विज्ञानघनः] ज्ञानगुणका समूह है। , ‘‘ ततः अन्यः ’’ [ततः] उस कारणसे [अन्यः] जीवद्रव्य भिन्न है, शरीरादि परद्रव्य भिन्न हैं।

भावार्थ इस प्रकार है कि लक्षणभेदसे वस्तुका भेद होता है, इसलिये चैतन्यलक्षणसे जीववस्तु भिन्न है, अचेतनलक्षणसे शरीरादि भिन्न है। यहाँ पर कोई आशंका करता है कि ‘कहने में तो ऐसा ही कहा जाता है कि ‘एकेन्द्रिय जीव, बे-इन्द्रिय जीव’ इत्यादि। ‘देव जीव, मनुष्य जीव’ इत्यादि। ‘रागी जीव, द्वेषी जीव’ इत्यादि। उत्तर इस प्रकार है कि कहनेमें तो व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है, निश्चयसे ऐसा कहना झूठा है। सो कहते हैं ॥ ७-३९ ॥

१ भावार्थ इसी जो रूपाका म्यान माहै खांडो रहे छे, इसी कहावत है, तिहितै रूपाको खांडो कहतां इसी कहिजै छे। मूलपाठ ॥

[अनुष्टुप]

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥ ८-४० ॥

[दोहा]

कहने से घी का घड़ा, घड़ा नघी का होय ।
कहने से वर्णादिमय जीव न तन्मय होय ॥ ४० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- दृष्टान्त कहते हैं— “चेत् कुम्भः घृतमयः न” [चेत्] जो ऐसा है कि [कुम्भः] घड़ा [घृतमयः न] घीका तो नहीं है, मिट्टीका है। “घृतकुम्भाभिधाने अपि” [घृतकुम्भ] ‘घीका घड़ा’ [अभिधाने अपि] ऐसा कहा जाता है तथापि घड़ा मिट्टीका है। भावार्थ इस प्रकार है — जिस घड़ेमें घी रखा जाता है उस घड़ेको यद्यपि घीका घड़ा ऐसा कहा जाता है तथापि घड़ा मिट्टीका है, घी भिन्न है तथा “वर्णादिमज्जीवः जल्पने अपि जीवः तन्मयः न” [वर्णादिमज्जीवः जल्पने अपि] यद्यपि शरीर—सुख—दुःख—राग—द्वेषसंयुक्त जीव ऐसा कहा जाता है तथापि [जीवः] चेतन द्रव्य ऐसा [तन्मयः न] जीव तो शरीर नहीं, जीव तो मनुष्य नहीं; जीव चेतनस्वरूप भिन्न है।

भावार्थ इस प्रकार है कि आगममें गुणस्थानका स्वरूप कहा है, वहाँ ऐसा कहा है कि देव जीव, मनुष्य जीव, रागी जीव, द्वेषी जीव, इत्यादि बहुत प्रकारसे कहा है सो यह सब कहना व्यवहारमात्रसे है। द्रव्यस्वरूप देखनेपर ऐसा कहना झूठा है। कोई प्रश्न करता है कि जीव कैसा है? उत्तर—जैसा है वैसा आगे कहते हैं ॥ ८-४० ॥

[अनुष्टुप]

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ९-४१ ॥

[दोहा]

स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त ॥ ४१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तु जीवः चैतन्यम् स्वयं उच्चैः चकचकायते” [तु] द्रव्यके स्वरूपका विचार करने पर [जीवः] आत्मा [चैतन्यम्] चैतन्यस्वरूप है, [स्वयं] अपनी सामर्थ्यसे [उच्चैः] अतिशयरूपसे [चकचकायते] अति ही प्रकाशता है। कैसा है चैतन्य? “अनाद्यनन्तम्” [अनादि] जिसकी आदि नहीं है [अनन्तम्] जिसका अंत—विनाश नहीं है, ऐसा है। और कैसा है चैतन्य? “अचलं” नहीं है चलता प्रदेशकंप जिसको, ऐसा है। और कैसा है? “स्वसंवेद्यं” अपने द्वारा ही आप जाना जाता है। और कैसा है? “अबाधितम्” अमिट है जिसका स्वरूप, ऐसा है ॥ ९-४१ ॥

[शार्दूलविक्रीडत]

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥ १०-४२ ॥

[सवैया इकतीसा]

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार, इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके।
सोचकर विचारकर भलीभांति ज्ञानियों ने, कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके।
अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषोंसे विरहित, चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का।
अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही, क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥४२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘विवेचकैः इति आलोच्य चैतन्यम् आलम्ब्यताम्’’ [विवेचकैः] जिन्हें
भेदज्ञान है ऐसे पुरुष [इति] जिस प्रकारसे कहेंगे उस प्रकारसे [आलोच्य] विचारकर
[चैतन्यम्] चेतनमात्रका [आलम्ब्यताम्] अनुभव करो। कैसा है चैतन्य? ‘‘समुचितं’’ अनुभव
करने योग्य है। और कैसा है? ‘‘अव्यापि न’’ जीव द्रव्यसे कभी भिन्न नहीं होता है। ‘‘अतिव्यापि
न’’ जीवसे अन्य हैं जो पाँच द्रव्य उनसे अन्य है। और कैसा है? ‘‘व्यक्तं’’ प्रगट है। और कैसा
है? ‘‘व्यञ्जितजीवतत्त्वम्’’ [व्यञ्जित] प्रगट किया है [जीवतत्त्वम्] जीवके स्वरूपको जिसने,
ऐसा है। और कैसा है? ‘‘अचलं’’ प्रदेशकम्पसे रहित है। ‘‘ततः जगत् जीवस्य तत्त्वं अमूर्तत्वं
उपास्य न पश्यति’’ [ततः] उस कारणसे [जगत्] सर्व जीवराशि [जीवस्य तत्त्वं] जीवके निज
स्वरूपको [अमूर्तत्वम्] स्पर्श, रस, गंध, वर्णगुणसे रहितपना [उपास्य] मानकर [न पश्यति]
नहीं अनुभवता है ।

भावार्थ इस प्रकार है कि कोईजानेगा कि ‘जीव अमूर्त’ ऐसा जानकर अनुभव किया जाता है
सो ऐसे तो अनुभव नहीं। जीव अमूर्त तो है परंतु अनुभवकालमें ऐसा अनुभवता है कि ‘जीव
चैतन्यलक्षण। ‘‘यतः अजीवः द्वेधा अस्ति’’ [यतः] जिस कारण से [अजीवः] अचेतन द्रव्य
[द्वेधा अस्ति] दो प्रकारका है। वे दोप्रकार कौनसे हैं? ‘‘वर्णाद्यैः सहितः तथा विरहितः’’
[वर्णाद्यैः] वर्ण, रस, गंध और स्पर्शसे [सहितः] संयुक्त है, क्योंकि एक पुद्गलद्रव्य ऐसा भी है।
[तथा विरहितः] तथा वर्ण, रस, गंध और स्पर्शसे रहित भी है, क्योंकि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य,
कालद्रव्य और आकाशद्रव्य ये चार द्रव्य और भी हैं, वे अमूर्तद्रव्य कहे जाते हैं। वह अमूर्तपना
अचेतनद्रव्यको भी है। इसलिए अमूर्तपना जानकर जीवका अनुभव नहीं किया जाता, चेतन जानकर
जीवका अनुभव किया जाता है ॥ १०-४२॥

[वसंततिलका]

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं
 ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
 अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं
 मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ११-४३ ॥

[हरिगीत]

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को ।
 जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन्न-भिन्न ही हैं जानते ॥
 जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह ।
 अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है ॥४३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानी जनः लक्षणतः जीवात् अजीवम् विभिन्नं इति स्वयं अनुभवति” [ज्ञानी जनः] सम्यग्दृष्टि जीव, [लक्षणतः] जीवका लक्षण चेतना तथा अजीवका लक्षण जड़ ऐसे बड़ा भेद है इसलिए [जीवात्] जीवसे [अजीवम्] अजीव—पुद्गल आदि [विभिन्नं] सहज ही भिन्न हैं [इति] इस प्रकार [स्वयं] स्वानुभव प्रत्यक्षरूपसे [अनुभवति] आस्वाद करता है । कैसा है जीव ? “उल्लसन्तम्” अपने गुण—पर्यायसे प्रकाशमान है । “तत् तु अज्ञानिनः अयं मोहः कथम् अहो नानटीति बत” [तत् तु] ऐसा है तो फिर [अज्ञानिनः] मिथ्यादृष्टि जीवको [अयं] जो प्रगट है ऐसा [मोहः] जीव—कर्मका एकत्वरूप विपरीत संस्कार [कथम् नानटीति] क्यों प्रवर्त रहा है, [बत अहो] आश्चर्य है !

भावार्थ इस प्रकार है कि सहज ही जीव—अजीव भिन्न है ऐसा अनुभवनेपर तो ठीक है, सत्य है; मिथ्यादृष्टि जो एककर अनुभवता है सो ऐसा अनुभव कैसे आता है इसका बड़ा अचम्भा है । कैसा है मोह ? “निरवधिप्रविजृम्भितः” [निरवधि] अनादि कालसे [प्रविजृम्भितः] संतानरूपसे पसर रहा है ॥ ११-४३ ॥

[वसंततिलका]

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये
 वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
 रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
 चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ १२-४४ ॥

[हरिगीत]

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्यमें ।
 बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
 यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है ।
 आनन्दमय चिद्राव तो दृग्ज्ञानमय चैतन्य है ॥४४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अस्मिन् अविवेकनाट्ये पुद्गलः एव नटति” [अस्मिन्] अनंत कालसे विद्यमान ऐसा जो [अविवेक] जीव—अजीवकी एकत्वबुद्धिरूप मिथ्या संस्कार उसरूप है [नाट्ये] धारासंतानरूप वारम्बार विभाव परिणाम उसमें [पुद्गलः] पुद्गल अर्थात् अचेतन मूर्तिमान् द्रव्य [एव] निश्चयसे [नटति] अनादि कालसे नाचता है। “न अन्यः” चेतनद्रव्य नहीं नाचता है।

भावार्थ इस प्रकार है —चेतनद्रव्य और अचेतनद्रव्य अनादि हैं, अपना—अपना स्वरूप लिये हुए है, परस्पर भिन्न हैं ऐसा अनुभव प्रगटरूपसे सुगम है। जिसको एकत्वसंस्काररूप अनुभव है वह अचम्भा है। ऐसा क्यों अनुभवता है? क्योंकि एक चेतनद्रव्य, एक अचेतनद्रव्य ऐसा अन्तर तो घना। अथवा अचम्भा भी नहीं, क्योंकि अशुद्धपना के कारण बुद्धिको भ्रम होता है। जिस प्रकार धतूरा पीनेसे दृष्टि विचलित होती है, श्वेत शंखको पीला देखेती है, सो वस्तु विचारनेपर ऐसी दृष्टि सहजकी तो नहीं, दृष्टिदोष है। दृष्टिदोषको धतूरा उपाधि भी है उसी प्रकार जीवद्रव्य अनादिसे कर्मसंयोगरूप मिला ही चला आरहा है, मिला होनेसे विभावरूप अशुद्धपनेसे परिणत हो रहा है। अशुद्धपनेके कारण ज्ञानदृष्टि अशुद्ध है, उस अशुद्ध दृष्टि के द्वारा चेतन द्रव्यको पुद्गल कर्मके साथ एकत्व संस्काररूप अनुभवता है। ऐसा संस्कार तो विद्यमान है। सो वस्तुस्वरूप विचारनेपर ऐसी अशुद्ध दृष्टि सहजकी तो नहीं, अशुद्ध है, दृष्टिदोष है। और दृष्टिदोषको पुद्गल पिंडरूप मिथ्यात्वकर्मका उदय उपाधि है। आगे जिस प्रकार दृष्टिदोषसे श्वेत शंखको पीला अनुभवता है तो फिर दृष्टिमें दोष है, शंख तो श्वेत ही है, पीला देखनेपर शंख तो पीला हुआ नहीं है उसी प्रकार मिथ्या दृष्टिसे चेतनवस्तु और अचेतनवस्तुको एक कर अनुभवता है तो फिर दृष्टिका दोष है, वस्तु जैसी भिन्न है वैसी ही है। एक कर अनुभवनेपर एक नहीं हुई है, क्योंकि घना अन्तर है।

कैसा है अविवेकनाट्य? “अनादिनि” अनादिसे एकत्व—संस्कारबुद्धि चली आई है ऐसा है। और कैसा है अविवेकनाट्य? “महति” जिसमें थोड़ासा विपरीतपना नहीं है, घना विपरीतपना है। कैसा है पुद्गल? “वर्णादिमान्” स्पर्श, रस, गंध, वर्णगुणसे संयुक्त है। “च अयं जीवः रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिः” [च अयं जीवः] और यह जीव वस्तु ऐसी है [रागादि] राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ ऐसे असंख्यात लोकमात्र अशुद्धरूप जीवके परिणाम—[पुद्गलविकार] अनादि बंध पर्यायसे विभाव परिणाम—उनसे [विरुद्ध] रहित है ऐसी [शुद्ध] निर्विकार है ऐसी [चैतन्यधातु] शुद्ध चिद्रूप वस्तु [मय] उसरूप है [मूर्तिः] सर्वस्व जिसका ऐसी है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार पानी कीचड़के मिलनेपर मैला है। सो वह मैलापन रंग है, सो रंगको अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो पानी ही है। उसी प्रकार जीवकी कर्मबंध पर्यायरूप अवस्थामें रागादि भाव रंग है, सो रंगको अंगीकार न कर बाकी जो कुछ है सो चेतनधातुमात्र वस्तु है। इसी का नाम शुद्धस्वरूप— अनुभव जानना जो सम्यग्दृष्टि के होता है।।

[मंदाक्रांता]

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥ १३-४५ ॥

[हरिगीत]

जब इस तरह धारा प्रवाही ज्ञान का आरा चला ।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन हो चला ॥
अब जब तलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्वही ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥ ४५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ज्ञातृद्रव्यं तावत् स्वयं अतिरसात् उच्चैः चकाशे ” [ज्ञातृद्रव्यं] चेतनवस्तु [तावत्] वर्तमान कालमें [स्वयं] अपने आप [अतिरसात्] अत्यन्त अपने स्वादको लिए हुए [उच्चैः] सब प्रकारसे [चकाशे] प्रगट हुआ। क्या करके? “ विश्वं व्याप्य ” [विश्वं] समस्त ज्ञेयको [व्याप्य] प्रत्यक्षरूपसे प्रतिबिंबित कर। तीन लोकको किसके द्वारा जानता है ? “ प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ” [प्रसभ] बलात्कारसे [विकसत्] प्रकाशमान है [व्यक्त] प्रगटपने ऐसा है जो [चिन्मात्रशक्त्या] ज्ञानगुणस्वभाव उसके द्वारा जाना है त्रैलोक्य जिसने ऐसा है। और क्या कर? “ इत्थं ज्ञानक्रकचकलनात् पाटनं नाटयित्वा ” [इत्थं] पूर्वोक्त विधिसे [ज्ञान] भेदबुद्धिरूपी [क्रकच] करोंतके [कलनात्] बार—बार अभ्याससे [पाटनं] जीव—अजीवकी भिन्नरूप दो फार [विभाग] [नाटयित्वा] करके। कोई प्रश्न करता है कि जीव—अजीवकी दो फार तो ज्ञानरूपी करोंतके द्वारा किये, उसके पहले वे किस रूप थे? उत्तर—“ यावत् जीवाजीवौ स्फुटविघटनं न एव प्रयातः ” [यावत्] अनंत कालसे लेकर [जीवाजीवौ] जीव और कर्मकी एकपिण्डरूप पर्याय [स्फुटविघटनं] प्रगटरूपसे भिन्न—भिन्न [न एव प्रयातः] नहीं हुई है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण मिले हुए चले आरहे हैं, और भिन्न—भिन्नरूप हैं। तथापि अग्निका संयोग बिना प्रगटरूपसे भिन्न होते नहीं, अग्निका संयोग जब ही पाते हैं तभी तत्काल भिन्न—भिन्न होते हैं। उसी प्रकार जीव और कर्मका संयोग अनादिसे चला आरहा है और जीव, कर्म भिन्न—भिन्न हैं। तथापि शुद्धस्वरूप—अनुभव बिना प्रगटरूपसे भिन्न—भिन्न होते नहीं; जिस काल शुद्धस्वरूप—अनुभव होता है उस काल भिन्न—भिन्न होते हैं ॥ १३-४५ ॥



卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 — ३ -卐

卐 कर्ता-कर्म- अधिकार卐

卐卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

[मंदाक्रान्ता]

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम् ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं
साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥ १-४६ ॥

[हरिगीत]

मैं एक कर्ता आत्मा क्रोधादि मेरे कर्म सब ।
है यही कर्ता कर्म की यह प्रवृत्ति अज्ञानमय ॥
शमन करती इसे प्रगटी सर्व विश्व विकासिनी ।
अतिधीर परमोदात्त पावन ज्ञान ज्योति प्रकाशिनी ॥४६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ज्ञानज्योतिः स्फुरति ” [ज्ञानज्योतिः] शुद्ध ज्ञानप्रकाश [स्फुरति] प्रगट होता है। कैसा है ? “ परमोदात्तम् ” सर्वोत्कृष्ट है। और कैसा है ? “ अत्यन्तधीरं ” त्रिकाल शाश्वत है। और कैसा है ? “ विश्वं साक्षात् कुर्वत् ” [विश्वं] सकल ज्ञेयवस्तुको [साक्षात् कुर्वत्] एक समयमें प्रत्यक्ष जानता है। और कैसा है ? “ निरुपधि ” समस्त उपाधिसे रहित है। और कैसा है ? “ पृथग्द्रव्यनिर्भासि ” [पृथक्] भिन्न-भिन्न रूपसे [द्रव्यनिर्भासि] सकल द्रव्य-गुण-पर्यायको जाननशील है। क्या करता हुआ प्रगट होता है ? “ इति अज्ञानां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं अभितः शमयत् ” [इति] उक्त प्रकारसे [अज्ञानां] जो मिथ्यादृष्टि जीव है उनकी [कर्तृकर्मप्रवृत्तिं] जीववस्तु पुद्गलकर्मकी कर्ता है ऐसी प्रतीतिको [अभितः] संपूर्णरूपसे [शमयत्] दूर करता हुआ। वह कर्तृकर्म-प्रवृत्ति कैसी है ? “ एकः अहम् चित् कर्ता इह अमी कोपादयः मे कर्म ” [एकः] अकेला [अहम्] मैं जीवद्रव्य [चित्] चेतनस्वरूप [कर्ता] पुद्गल कर्मको करता हूँ। [इह] ऐसा होनेपर [अमी कोपादयः] विद्यमानरूप हैं जो ज्ञानावरणादिक पिण्ड वे [मे] मेरी [कर्म] करतूति है। ऐसा है मिथ्यादृष्टिका विपरीतपना उसको दूर करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है।

भावार्थ इस प्रकार है कि यहाँसे लेकर कर्तृ-कर्म अधिकार प्रारंभ होता है ॥ १-४६ ॥

[मालिनी]

परपरिणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादा-
 निदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
 ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
 रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥ २-४७ ॥

[हरिगीत]

परपरिणति को छोड़ती अर तोड़ती सब भेदभ्रम ।
 यह अखण्ड प्रचण्ड प्रगटित हुई पावन ज्योति तब ॥
 अज्ञानमय इस प्रवृत्ति को है कहाँ अवकाश तब ।
 अर किस तरह हो कर्म बन्धन जगी जगमग ज्योति तब ॥ ४७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदम् ज्ञानम् उदितम्” [इदम्] विद्यमान है ऐसी [ज्ञानम्] चिद्रूपशक्ति [उदितम्] प्रगट हुई। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य ज्ञानशक्तिरूप तो विद्यमान ही है, परंतु काललब्धि पाकर अपने स्वरूपका अनुभवशील हुआ। कैसा होता हुआ? “परपरिणतिम् उज्झत्” [परपरिणतिम्] जीव—कर्मकी एकत्वबुद्धिको [उज्झत्] छोड़ता हुआ। और क्या करता हुआ? “भेदवादान् खण्डयत्” [भेदवादान्] उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य अथवा द्रव्य—गुण—पर्याय अथवा आत्माको ज्ञानगुण के द्वारा अनुभवता है इत्यादि अनेक विकल्पोंको [खण्डयत्] मूलसे उखाड़ता हुआ। और कैसा है? “अखण्डं” पूर्ण है। और कैसा है? “उच्चैः उच्चण्डम्” [उच्चैः] अतिशयरूप [उच्चण्डम्] प्रचंड है अर्थात् कोई वर्जनशील नहीं है। “ननु इह कर्तृकर्मप्रवृत्तेः कथम् अवकाशः” [ननु] अहो शिष्य! [इह] यहाँ शुद्ध ज्ञानके प्रगट होनेपर [कर्तृकर्मप्रवृत्तेः] जीव कर्ता अने ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्ड कर्म ऐसे विपरीतरूपसे बुद्धिका व्यवहार उसका [कथम् अवकाशः] कौन अवसर?

भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अंधकारको अवसर नहीं वैसे शुद्धस्वरूप अनुभव होनेपर विपरीतरूप मिथ्यात्वबुद्धिका प्रवेश नहीं। यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि शुद्ध ज्ञानका अनुभव होनेपर विपरीत बुद्धि—मात्र मिटती है कि कर्मबंध मिटता है? उत्तर इस प्रकार है कि विपरीत बुद्धि मिटती है, कर्मबंध भी मिटता है। “इह पौद्गलः कर्मबन्धः वा कथं भवति” [इह] विपरीत बुद्धिके मिटनेपर [पौद्गलः] पुद्गलसंबंधी है जो द्रव्यपिण्डरूप [कर्मबन्धः] ज्ञानावरणादि कर्मोंका आगमन [वा कथं भवति] वह भी कैसे हो सकता है? ॥ २-४७ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम् ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ३-४८ ॥

[सवैय्या इकतीसा]

इस प्रकार जान भिन्नता विभाव भाव की , कर्तृत्व का अहं विलायमान होरहा ।
निज विज्ञानमयभाव गजा रूढ़ हो , निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥
जगत का साक्षी पुरुषपुराण यह , अपने स्वभाव में विकासमान हो रहा ।
अहो सदज्ञानवंत दृष्टिवंत यह पुमान , जग-मग ज्योतिमय प्रकाश मान हो रहा ॥४८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “पुमान् स्वयं ज्ञानीभूतः इतः जगतः साक्षी चकास्ति” [पुमान्] जीवद्रव्य [स्वयं ज्ञानीभूतः] अपने आप अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवनमें समर्थ हुआ; [इतः] यहाँ से लेकर [जगतः साक्षी] सकल द्रव्यस्वरूपको जाननशील होकर [चकास्ति] शोभता है। भावार्थ इस प्रकार है कि यदा जीवको शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है तदा सकल पर द्रव्यरूप द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्ममें उदासीनपना होता है। कैसा है जीवद्रव्य? “पुराणः” द्रव्यकी अपेक्षासे अनादिनिधन है। और कैसा है? “क्लेशात् निवृत्तः” [क्लेशात्] दुःखसे [निवृत्तः] रहित है। कैसा है क्लेश? “अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात्” [अज्ञान] जीव—कर्मके एकसंस्काररूप छूटे अनुभवसे [उत्थित] उत्पन्न हुई है [कर्तृकर्मकलनात्] जीव कर्ता और जीवकी करतूति ज्ञानावरणादि द्रव्यपिण्ड ऐसी विपरीत प्रतीति जिसको, ऐसा है। और कैसी है जीववस्तु? “इति एवं सम्प्रति परद्रव्यात् परां निवृत्तिं विरचय्य स्वं आस्तिघ्नुवानः” [इति] इतने [एवं] पूर्वोक्त प्रकारसे [सम्प्रति] विद्यमान [परद्रव्यात्] पर वस्तु जो द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्म उससे [निवृत्तिं] सर्वथा त्यागबुद्धि [परां] मूलसे [विरचय्य] करके [स्वं] शुद्धचिद्रूपको [आस्तिघ्नुवानः] आस्वादती हुई। कैसा है स्व? “विज्ञानघनस्वभावम्” [विज्ञानघन] शुद्ध ज्ञानका समूह है [स्वभावम्] सर्वस्व जिसका ऐसा है। और कैसा है स्व? “परम्” सदा शुद्धस्वरूप है। “अभयात्” सात भयोंसे रहितरूपसे आस्वादती है ॥ ३-४८ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
 व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
 इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिन्दैस्तमो
 ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ ४-४९॥

[सवैया इकतीसा]

तत्त्वस्वरूप भाव में ही व्याप्य-व्यापक बने, बने न कदापि वह अतत्त्वरूप भाव में।
 कर्ता-कर्म भाव का बनना असम्भव है, व्याप्य-व्यापकभाव संबंध के अभाव में।
 इस भांति प्रबल विवेक दिनकर से ही, भेद अंधकार लीन निज ज्ञानभाव में।
 कर्तृत्व भार से शून्य शोभायमान, पूर्ण निर्भार मगन आनन्द स्वभाव में॥४९॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तदा स एष पुमान् कर्तृत्वशून्यः लसितः ” [तदा] उस काल [स एष पुमान्] जो जीव अनादि कालसे मिथ्यात्वरूप परिणत हुआ था वही जीव [कर्तृत्वशून्यः लसितः] कर्म करनेसे रहित हुआ। कैसा है जीव? “ ज्ञानीभूय तमः भिन्दन् ” [ज्ञानीभूय] अनादिसे मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ जीव—कर्मकी एकपर्यायस्वरूप परिणत हो रहा था सो छूटा, शुद्धचेतन—अनुभव हुआ, ऐसा होनेपर [तमः] मिथ्यात्वरूपी अंधकारको [भिन्दन्] छेदता हुआ। किसके द्वारा मिथ्यात्वरूपी अंधकार छूटा? “ इति उद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण ” [इति] जो कहा है, [उद्दाम] बलवान है [विवेक] भेदज्ञानरूपी [घस्मरमहःभारेण] सूर्यके तेजके समूह द्वारा। आगे जैसा विचार करनेपर भेदज्ञान होता है वही कहते हैं—व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेत् ” [व्याप्य] समस्त गुणरूप वा पर्यायरूप भेद—विकल्प तथा [व्यापकता] एक द्रव्यरूप वस्तु [तदात्मनि] एक सत्त्वरूप वस्तुमें [भवेत्] होता है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे सुवर्ण पीला, भारी, चिकना ऐसा कहने का है, परंतु एक सत्त्व है वैसे जीवद्रव्य ज्ञाता, दृष्टा ऐसा कहनेका है, परंतु एक सत्त्व है। ऐसे एक सत्त्वमें व्याप्य—व्यापकता भवेत् अर्थात् भेदबुद्धि की जावे तो व्याप्य—व्यापकता होती है। विवरण—व्यापक अर्थात् द्रव्य—परिणामी अपने परिणामका कर्ता होता है। व्याप्य अर्थात् वह परिणाम द्रव्यने किया। जिसमें ऐसा भेद किया जाय तो होता है, नहीं किया जाय तो नहीं होता। “ अतदात्मनि अपि न एव ” [अतदात्मनि] जीवसत्त्वसे पुद्गलद्रव्यका सत्त्व भिन्न है, [अपि] निश्चयसे [न एव] व्याप्य—व्यापकता नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे उपचारमात्रसे द्रव्य अपने परिणामका कर्ता है, वही परिणाम द्रव्यका किया हुआ है वैसे अन्य द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्य उपचारमात्रसे भी नहीं है, क्योंकि एक सत्त्व नहीं, भिन्न सत्त्व है। “ व्याप्यव्यापकभावसम्भवम् ऋते कर्तृकर्मस्थितिः का ” [व्याप्यव्यापकभाव] परिणाम—परिणामीमात्र भेदकी [सम्भवं] उत्पत्ति [ऋते] बिना [कर्तृकर्मस्थितिः का] ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मका कर्ता जीवद्रव्य ऐसा अनुभव घटता नहीं। कारण कि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य एक सत्ता नहीं, भिन्न सत्ता है। ऐसे ज्ञानसूर्य के द्वारा मिथ्यात्वरूप अंधकार मिटता है और जीव सम्यग्दृष्टि होता है॥ ४-४९॥

[स्त्रग्धरा]

ज्ञानी जानन्पीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
 व्याप्तुव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
 अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
 विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५-५० ॥

[सवैया इकतीसा]

निजपरपरिणति जानकर जीव यह , परपरिणति करता कभी नहीं ।
 निजपरपरिणति अजानकर पुद्गल , परपरिणति करता कभी नहीं ॥
 नित्य अत्यन्त भेद जीव- पुद्गल में , करता-करम भाव उनमें बने नहीं ।
 ऐसो भेदज्ञान जबतक प्रगटे नहीं , करता-करम की प्रवृत्ती मिटे नहीं ॥ ५० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ यावत् विज्ञानार्चिः न चकास्ति तावत् अनयोः कर्तृकर्मभ्रममतिः अज्ञानात् भाति ” [यावत्] जितने काल [विज्ञानार्चिः] भेदज्ञानरूप अनुभव [न चकास्ति] नहीं प्रगट होता है [तावत्] उतने काल [अनयोः] जीव-पुद्गलमें [कर्तृ-कर्म-भ्रममतिः] ‘ज्ञानावरणादिका कर्ता जीवद्रव्य’ ऐसी जो मिथ्या प्रतीति वह [अज्ञानात् भाति] अज्ञानपनेसे है। वस्तुका स्वरूप ऐसा तो नहीं है। कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानावरणादिकर्मका कर्ता जीव सो अज्ञानपना है, सो क्यों है? “ ज्ञानी पुद्गलः च व्याप्तुव्याप्यत्वम् अन्तः कलयितुम् असहौ ” [ज्ञानी] जीववस्तु [पुद्गलः] ज्ञानावरणादि कर्मपिंड [व्याप्तु-व्याप्यत्वम्] परिणामी-परिणामभावरूपसे [अन्तः कलयितुम्] एक संक्रमणरूप होने को [असहौ] असमर्थ है, क्योंकि “ नित्यम् अत्यन्तभेदात् ” [नित्यम्] द्रव्यस्वभावसे [अत्यन्तभेदात्] अत्यन्त भेद है। विवरण-जीवद्रव्यके भिन्न प्रदेश चैतन्यस्वभाव, पुद्गल-द्रव्यके भिन्न प्रदेश अचेतनस्वभाव, ऐसे भेद घना। कैसा है ज्ञानी? “ इमां स्व-पर-परिणतिं जानन् अपि ” [इमां] प्रसिद्ध है ऐसे [स्व] अपने और [पर] समस्त ज्ञेय वस्तुके [परिणतिं] द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यका [जानन्] ज्ञाता है। [अपि] [जीव तो] ऐसा है। तो फिर कैसा है पुद्गलद्रव्य? वही कहते हैं-“ [इमां स्व-पर-परिणतिं] अजानन् ” [इमां] प्रगट है ऐसे [स्व] अपने और [पर] अन्य समस्त पर द्रव्योंके [परिणतिं] द्रव्य-गुण-पर्याय आदिको [अजानन्] नहीं जानता है, ऐसा है पुद्गलद्रव्य।

भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य ज्ञाता है, पुद्गलकर्म ज्ञेय है ऐसा जीवको और कर्मको ज्ञेयज्ञायकसंबंध है, तथापि व्याप्य-व्यापकसंबंध नहीं है; द्रव्योंका अत्यन्त भिन्नपना है, एकपना नहीं है। कैसा है भेदज्ञानरूप अनुभव? “ अयं क्रकचवत् अदयं सद्यः भेदं उत्पाद्य ” जिसने करोंत के समान शीघ्र ही जीव और पुद्गलका भेद उत्पन्न किया है ॥ ५-५० ॥

[आर्या]

**यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत् तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ६-५१ ॥**

[हरिगीत]

**कर्ता वही जो परिणमे परिणाम ही बस कर्म है ।
है परिणति ही क्रिया बस तीनों अभिन्न अखण्ड हैं ॥ ५१ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यः परिणमति स कर्ता भवेत्” [यः] जो कोई सत्तामात्र वस्तु [परिणमति] जो कोई अवस्था है उसरूप आपही है, इस कारण [स कर्ता भवेत्] उस अवस्थाका सत्तामात्र वस्तु कर्ता भी होता है। और ऐसा कहना विरुद्ध भी नहीं है, कारण कि अवस्था भी है। “यः परिणामः तत् कर्म” [यः परिणामः] उस द्रव्यका जो कुछ स्वभाव—परिणाम है [तत् कर्म] वह द्रव्यका परिणाम कर्म इस नाम से कहा जाता है। “या परिणतिः सा क्रिया” [या परिणतिः] द्रव्यका जो कुछ पूर्व अवस्थासे उत्तर अवस्थारूप होना है [सा क्रिया] उसका नाम क्रिया कहा जाता है। जैसे मृत्तिका घटरूप होती है, इसलिये मृत्तिका कर्ता कहलाती है, उत्पन्न हुआ घड़ा कर्म कहलाता है तथा मृत्तिकापिंडसे घटरूप होना क्रिया कहलाती है। वैसे ही सत्त्वरूप वस्तु कर्ता कहा जाता है, उस द्रव्यका उत्पन्न हुआ परिणाम कर्म कहा जाता है और उस क्रियारूप होना क्रिया कही जाती है। “वस्तुतया त्रयं अपि न भिन्नं” [वस्तुतया] सत्तामात्र वस्तुके स्वरूपका अनुभव करनेपर [त्रयम्] कर्ता—कर्म—क्रिया ऐसे तीन भेद [अपि] निश्चयसे [न भिन्नं] तीन सत्त्व तो नहीं, एक ही सत्त्व है।

भावार्थ इस प्रकार है कि कर्ता—कर्म—क्रियाका स्वरूप तो इस प्रकार है, इसलिये ज्ञानावरणादि द्रव्यपिण्डरूप कर्मका कर्ता जीवद्रव्य है ऐसा जानना झूठा है, क्योंकि जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यका एक सत्त्व नहीं; [त्यां] कर्ता—कर्म—क्रियाका कौन घटना? ॥ ६-५१ ॥

[आर्या]

**एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ७-५२ ॥**

[हरिगीत]

**अनेक होकर एक है हो परिणमित बस एक ही ।
परिणाम हो बस एकका हो परिणति बस एक की ॥ ५२ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सदा एकः परिणमति” [सदा] त्रिकालमें [एकः] सत्तामात्र वस्तु [परिणमति] अपनेमें अवस्थान्तररूप होती है। “सदा एकस्य परिणामः जायते” [सदा] त्रिकालगोचर [एकस्य] सत्तामात्र है वस्तु उसकी [परिणामः जायते] अवस्था वस्तुरूप है। भावार्थ इस प्रकार है कि यथा सत्तामात्र वस्तु अवस्थारूप है तथा अवस्था भी वस्तुरूप है। “परिणतिः एकस्य स्यात्” [परिणतिः] क्रिया [एकस्य स्यात्] सो भी सत्तामात्र वस्तुकी है।

भावार्थ इस प्रकार है कि क्रिया भी वस्तुमात्र है, वस्तुसे भिन्न सत्त्व नहीं। “यतः अनेकम् अपि एकम् एव” [यतः] जिस कारणसे [अनेकम्] एक सत्त्वके कर्ता—कर्म—क्रियारूप तीन भेद [अपि] यद्यपि इस प्रकार भी है तथापि [एकम् एव] सत्तामात्र वस्तु है। तीनों विकल्प झूठे हैं। भावार्थ इस प्रकार कि ज्ञानावरणादि द्रव्यरूप पुद्गलपिण्ड—कर्मका कर्ता जीववस्तु है ऐसा जानपना मिथ्याज्ञान है, क्योंकि एक सत्त्वमें कर्ता—कर्म—क्रिया उपचारसे कहा जाता है। भिन्न सत्त्वरूप है जो जीवद्रव्य — पुद्गलद्रव्य उनको कर्ता—कर्म—क्रिया कहाँ से घटेगा ? ॥ ७—५२ ॥

[आर्या]

**नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव स्यात् ॥ ८—५३ ॥**

[हरिगीत]

**परिणाम दो का एक ना मिलकर नहीं दो परिणमे ।
परिणति दो की एक ना बस क्योंकि दोनों भिन्न हैं ॥ ५३ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “खलु उभौ न परिणमतः” [खलु] ऐसा निश्चय है कि [उभौ] एक चेतनलक्षण जीवद्रव्य और एक अचेतन कर्म—पिण्डरूप पुद्गलद्रव्य [न परिणमतः] मिलकर एक परिणामरूप नहीं परिणमते हैं।

भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य अपनी शुद्ध चेतनारूप अथवा अशुद्ध चेतनारूप व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है। पुद्गलद्रव्य भी अपने अचेतन लक्षणरूप शुद्ध परमाणुरूप अथवा ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप अपनेमें व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है। वस्तुका स्वरूप ऐसा तो है परंतु जीवद्रव्य — पुद्गलद्रव्य दोनों मिलकर अशुद्ध चेतनारूप है, राग—द्वेषरूप परिणाम उनसे परिणमते हैं ऐसा तो नहीं है।

“उभयोः परिणामः न प्रजायेत” [उभयोः] जीवद्रव्य — पुद्गलद्रव्य उनके [परिणामः] दोनों मिलकर एकपर्यायरूप परिणाम [न प्रजायेत] नहीं होते हैं। “उभयोः परिणतिः न स्यात्” [उभयोः] जीव और पुद्गलकी [परिणतिः] मिलकर एक क्रिया [न स्यात्] नहीं होती है। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है। “यतः अनेकम् अनेकम् एव सदा” [यतः] जिस कारणसे [अनेकम्] भिन्न सत्तारूप है जीव—पुद्गल [अनेकम् एव सदा] वे तो जीव—पुद्गल सदा ही भिन्नरूप हैं, एकरूप कैसे हो सकते हैं ?

भावार्थ इस प्रकार कि जीवद्रव्य —पुद्गलद्रव्य भिन्न सत्तारूप हैं सो जो पहले भिन्न सत्तापना छोड़कर एक सत्तारूप होवे तो पीछे कर्ता—कर्म—क्रियापना घटित हो। सो तो एकरूप होते नहीं, इसलिये जीव—पुद्गलका आपसमें कर्ता—कर्म—क्रियापना घटित नहीं होता ॥ ८—५३ ॥

[आर्या]

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ९-५४ ॥

[हरिगीत]

कर्ता नहीं दो एक के हों एक के दो कर्म ना ।
न दो क्रियायें एक की हों क्योंकि एक अनेक ना ॥ ५४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ पर कोई मतान्तर निरूपण करेगा कि द्रव्यकी अनन्त शक्तियाँ हैं सो एक शक्ति ऐसी भी होगी कि एक द्रव्य दो द्रव्योंके परिणामको करे। जैसे जीवद्रव्य अपने अशुद्ध चेतनारूप राग—द्वेष—मोहपरिणामको व्याप्य—व्यापकरूप करे वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डको व्याप्य—व्यापकरूप करे। उत्तर इस प्रकार कि द्रव्यके अनन्त शक्तियाँ हैं पर ऐसी शक्ति तो कोई नहीं कि जिससे जैसे अपने गुणके साथ व्याप्य—व्यापकरूप है, वैसे ही परद्रव्यके गुणके साथ भी व्याप्य—व्यापकरूप होवे। “**हि एकस्य द्वौ कर्तारौ न**” [हि] निश्चयसे [**एकस्य**] एक परिणामके [**द्वौ कर्तारौ न**] दो कर्ता नहीं हैं। भावार्थ इस प्रकार कि अशुद्ध चेतनारूप राग—द्वेष—मोहपरिणामका जिस प्रकार व्याप्य—व्यापकरूप जीवद्रव्य कर्ता है उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य भी अशुद्ध चेतनारूप राग—द्वेष—मोहपरिणामका कर्ता है ऐसा तो नहीं। जीवद्रव्य अपने राग—द्वेष—मोहपरिणामका कर्ता है, पुद्गलद्रव्य कर्ता नहीं है।

“**एकस्य द्वे कर्मणी न स्तः**” [**एकस्य**] एक द्रव्यके [**द्वे कर्मणी न स्तः**] दो परिणाम नहीं होते हैं। भावार्थ इस प्रकार कि जिस प्रकार जीवद्रव्य राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध चेतनपरिणामका व्याप्य—व्यापकरूप कर्ता है उस प्रकार ज्ञानावरणादि अचेतन कर्मका कर्ता जीव है ऐसा तो नहीं है। अपने परिणामका कर्ता है, अचेतन परिणामरूप कर्मका कर्ता नहीं है। “**च एकस्य द्वे क्रिये न**” [**च**] तथा [**एकस्य**] एक द्रव्यकी [**द्वे क्रिये न**] दो क्रिया नहीं होतीं। भावार्थ इस प्रकार कि जीवद्रव्य जिस प्रकार चेतनपरिणतिरूप परिणमता है वैसे ही अचेतन परिणतिरूप परिणमता हो ऐसा तो नहीं है। “**यतः एकम् अनेकं न स्यात्**” [**यतः**] जिस कारणसे [**एकम्**] एक द्रव्य [**अनेकं न स्यात्**] दो द्रव्यरूप कैसे होवे? भावार्थ इस प्रकार कि जीवद्रव्य एक चेतनद्रव्यरूप है सो जो पहले वह अनेक द्रव्यरूप होवे तो ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता भी होवे, अपने राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध चेतनपरिणामका भी कर्ता होवे; सो ऐसा तो है नहीं। अनादिनिधन जीवद्रव्य एकरूप ही है, इसलिये अपने अशुद्ध चेतनपरिणामका कर्ता है, अचेतनकर्मका कर्ता नहीं है। ऐसा वस्तुस्वरूप है ॥ ९-५४ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
र्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं ब्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ १०-५५ ॥

[हरिगीत]

परको करुं मै-यह अहं अत्यन्त ही दुर्वार है ।
 यह है अखण्ड अनादि से जीवन हुआ दुःस्वार है ॥
 भूतार्थनय के ग्रहण से यदि प्रलय को यह प्राप्त हो ।
 तो ज्ञान के घनपिण्ड आत्म को कभी न बंध हो ॥५५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ननु मोहिनाम् अहम् कुर्वे इति तमः आसंसारतः एव धावति”
 [ननु] अहो जीव ! [मोहिनाम्] मिथ्यादृष्टि जीवोंके [अहम् कुर्वे इति तमः] ‘ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता जीव ऐसा है जो मिथ्यात्वरूप अंधकार [आसंसारतः एव धावति] अनादि कालसे एक—संतानरूप चला आरहा है। कैसा है मिथ्यात्वरूपी अंधकार ? “परं” परद्रव्यस्वरूप है। और कैसा है ? “उच्चकैः दुर्वारं” अति ढीठ है। और कैसा है ? “महाहंकाररूपं” [महाहंकार] ‘मैं देव, मैं मनुष्य, मैं तिर्यच, मैं नारक’ ऐसी जो कर्मकी पर्याय उसमें आत्मबुद्धि [रूपं] वही है स्वरूप जिसका ऐसा है। “यदि तद् भूतार्थपरिग्रहेण एकवारं विलयं व्रजेत्” [यदि] जो कभी [तत्] ऐसा है जो मिथ्यात्व—अंधकार [भूतार्थपरिग्रहेण] शुद्धस्वरूप—अनुभवके द्वारा [एकवारं] अन्तर्मुहूर्तमात्र [विलयं व्रजेत्] विनाशको प्राप्त होजाय। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवके यद्यपि मिथ्यात्व—अंधकार अनन्त कालसे चला आरहा है । तथा जो सम्यक्त्व होय तो मिथ्यात्व छूटे, जो एक वार छूटे तो, “अहो तत् आत्मनः भूयः बन्धनं किं भवेत्” [अहो] भो जीव ! [तत्] उस कारणसे [आत्मनः] जीवके [भूयः] पुनः [बन्धनं किं भवेत्] एकत्वबुद्धि क्या होगी अपितु नहीं होगी। कैसा है आत्मा ? “ज्ञानघनस्य” ज्ञानका समूह है। भावार्थ—शुद्धस्वरूपका अनुभव होनेपर संसारमें रूलना नहीं होता ॥ १०—५५ ॥

[अनुष्टुप]

आत्मभावान् करोत्यात्मा परभावान् सदा परः ।
 आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ११-५६ ॥

[दोहा]

परभावों को पर करे आत्म आत्मभाव ।
 आप आपके भाव हैं पर के हैं परभाव ॥५६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “आत्मा आत्मभावान् करोति” [आत्मा] जीवद्रव्य [आत्मभावान्] अपने शुद्धचेतनारूप अथवा अशुद्धचेतनारूप राग—द्वेष—मोहभाव, [करोति] उनरूप परिणमता है । “परः परभावान् सदा करोति” [परः] पुद्गलद्रव्य [परभावान्] पुद्गलद्रव्यके ज्ञानावरणादिरूप पर्यायको [सदा] त्रिकाल गोचर [करोति] करता है। “हि आत्मनः भावाः आत्मा एव” [हि] निश्चयसे [आत्मनः भावाः] जीवके परिणाम [आत्मा एव] जीव ही है। भावार्थ इस प्रकार है कि चेतन परिणामको जीव करता है, वे चेतनपरिणाम भी जीव ही हैं, द्रव्यान्तर नहीं हुआ। “परस्य ते परः एव” [परस्य] पुद्गलद्रव्यके [भावाः] परिणाम [परः एव] पुद्गलद्रव्य हैं, जीवद्रव्य नहीं हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता पुद्गल है और वस्तु भी पुद्गल है, द्रव्यान्तर नहीं ॥ ११—५६ ॥

[वसन्ततिलका]

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
 ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
 पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या
 गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम्॥ १२-५७॥

[कुण्डलिया]

नाज सम्मिलित घास को ज्यों खावे गजराज।
 भिन्न स्वाद जाने नहीं, समझे मीठी घास॥
 समझे मीठी घास नाज को ना पहिचाने।
 त्यों अज्ञानी जीव निजातम स्वाद न जाने॥
 पुण्य पापमें धार एकता शून्य हिया है।
 अरे शिखरणी पी मानो गो दूध पिया है॥५७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यः अज्ञानतः तु रज्यते” [यः] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव [अज्ञानतः तु] मिथ्या दृष्टिसे ही [रज्यते] कर्मकी विचित्रतामें अपनापन जानकर रंजायमान होता है, वह जीव कैसा है? ‘सतृणाभ्यवहारकारी’ [सतृण] घास के साथ [अभ्यवहारकारी] आहार करता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे हाथी अन्न—घास मिला ही बराबर जान खाता है, घासका और अन्नका विवेक नहीं करता है, वैसे मिथ्यादृष्टि जीव कर्मकी सामग्रीको अपनी जानता है। जीवका और कर्मका विवेक नहीं करता है। कैसा है? “किल स्वयं ज्ञानं भवन् अपि” [किल स्वयं] निश्चयसे स्वरूपमात्रकी अपेक्षा [ज्ञानं भवन् अपि] यद्यपि ज्ञानस्वरूप है। और जीव कैसा है? “असौ नूनम् रसालम् पीत्वा गां दुग्धम् दोग्धि इव” [असौ] यह है जो विद्यमान जीव [नूनम्] निश्चयथसे [रसालम्] शिखरणीको [पीत्वा] पीकर ऐसा मानता है कि [गां दुग्धम् दोग्धि इव] मानो गायके दूधको पीता है। क्या करके? “दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या” [दधीक्षु] शिखरणीमें [मधुराम्लरस] मीठे और खट्टे स्वादकी [अतिगृद्ध्या] अति ही आसक्तिसे। भावार्थ इस प्रकार है कि स्वादलम्पट हुआ शिखरणी पीता है, स्वादभेद नहीं करता है। ऐसा निर्भेदपना मानता है, जैसा गायके दूधको पीते हुए निर्भेदपना माना जाता है॥ १२-५७॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अज्ञानात् मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा
 अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः ।
 अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्
 शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥ १३-५८ ॥

[हरिगीत]

अज्ञान से ही भागते मृग रेत को जल मानकर ।
 अज्ञान से ही डरे तम में रस्सी विषधर मानकर ॥
 ज्ञानमय है जीव पर अज्ञान के कारण अहो ।
 वतोद्वेलित उधदिवत कर्ता बने आकुलित हो ॥ ५८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘अमी स्वयम् शुद्धज्ञानमयाः अपि अज्ञानात् आकुलाः कर्त्रीभवन्ति’’
 [अमी] सर्व संसारी मिथ्यादृष्टि जीव[स्वयम्] सहजसे [शुद्धज्ञानमयाः] शुद्धस्वरूप है [अपि]
 तथापि [अज्ञानात्] मिथ्या दृष्टिसे [आकुलाः] आकुलित होते हुए [कर्त्रीभवन्ति] बलात्कार ही
 कर्ता होते हैं। किस कारणसे? ‘‘विकल्पचक्रकरणात्’’ [विकल्प] अनेक रागादिके [चक्र]
 समूहके [करणात्] करनेसे। किसके समान? ‘‘वातोत्तरङ्गाब्धिवत्’’ [वात] वायुसे [उत्तरङ्ग]
 डोलते—ऊछलते हुए [अब्धिवत्] समुद्रके समान। भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे समुद्रका स्वरूप
 निश्चल है, वायुसे प्रेरित होकर उछलता है उछलनेका कर्ता भी होता है, वैसे ही जीवद्रव्य स्वरूपसे
 अकर्ता है। कर्मसंयोगसे विभावरूप परिणमता है, इसलिए विभावपनेका कर्ता भी होता है। परन्तु
 अज्ञानसे, स्वभाव तो नहीं। दृष्टान्त कहते हैं— ‘‘मृगाः मृगतृष्णिकां अज्ञानात् जलधिया पातुं
 धावन्ति’’ [मृगाः] जिस प्रकार हरिण [मृगतृष्णिकां] मरीचिकाको [अज्ञानात्] मिथ्या भ्रान्तिके
 कारण [जलधिया] पानीकी बुद्धिसे [पातुं धावन्ति] पीनेके लिये दौड़ते हैं। ‘‘जनाः रज्जौ तमसि
 अज्ञानात् भुजगाध्यासेन द्रवन्ति’’ [जनाः] जिस प्रकार मनुष्य जीव [रज्जौ] रस्सीमें [तमसि]
 अंधकार के होनेपर [अज्ञानात्] भ्रान्तिके कारण [भुजगाध्यासेन] सर्पकी बुद्धिसे [द्रवन्ति] डरते
 हैं ॥ १३-५८ ॥

[वसंततिलका]

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
 जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
 चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
 जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥ १४-५९ ॥

[हरिगीत]

दूध जल में भेद जाने ज्ञानसे बस हंस ज्यों ।
 सदज्ञान से अपना-पराया भेद जाने जीव त्यों ॥
 जानता तो है सभी करता नहीं कुछ आत्मा ।
 चैतन्य में आरूढ़ नित ही यह अचल परमात्मा ॥ ५९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ यः तु परात्मनोः विशेषम् जानाति ” [यः तु] जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव [पर] द्रव्यकर्मपिण्ड [आत्मनोः] शुद्ध चैतन्यमात्र, उनका [विशेषम्] भिन्नपना [जानाति] अनुभवता है। कैसा करके अनुभवता है? “ ज्ञानात् विवेचकतया ” [ज्ञानात्] सम्यग्ज्ञान द्वारा [विवेचकतया] लक्षणभेद कर। उसका विवरण—शुद्ध चैतन्यमात्र जीव का लक्षण, अचेतनपना पुद्गलका लक्षण; इससे जीव पुद्गल भिन्न भिन्न है ऐसा भेद भेदज्ञान कहना। दृष्टान्त कहते हैं — “ वाःपयसोः हंसः इव ” [वाः] पानी [पयसोः] दूध [हंसः इव] हंसके समान। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार हंस दूध—पानी भिन्न भिन्न करता है उस प्रकार जो कोई जीव —पुद्गलको भिन्न भिन्न अनुभवता है “ सः हि जानीत एव, किञ्चनापि न करोति ” [सः हि] वह जीव [जानीत एव] ज्ञायक तो है, [किञ्चनापि] परमाणुमात्र भी [न करोति] करता तो नहीं है। कैसा है ज्ञानी जीव? “ सः सदा अचलं चैतन्यधातुं अधिरूढः ” वह सदा निश्चल चैतन्य धातुमय आत्माके स्वरूपमें दृढ़तासे रहा है ॥ १४-५९ ॥

[मंदाक्रान्ता]

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
 ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
 ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
 क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥ १५-६० ॥

[अडिल्ल छन्द]

उष्णोदक में उष्णता है अग्निकी, और शीतलता सहज ही नीर की।
 व्यंजनों में है नमक का क्षारपन, ज्ञान ही यह जानता है विज्ञजन॥
 क्रोधादिक के कर्तापन को छेदता, अहंबुद्धि के मिथ्यातम को भेदता।
 इसी ज्ञान में प्रगटे निज शुद्धात्मा, अपने रस से भरा हुआ यह आत्मा॥६०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानात् एव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः क्रोधादेः च भिदा प्रभवति” [ज्ञानात् एव] शुद्ध स्वरूपमात्र वस्तुको अनुभवन करते ही [स्वरस] चेतनस्वरूप, उससे [विकसत्] प्रकाशमान है, [नित्य] अविनश्यर है, ऐसा जो [चैतन्यधातोः] शुद्ध जीवस्वरूपका [क्रोधादेः च] जितने अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणामका [भिदा] भिन्नपना [प्रभवति] होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि [प्रश्नः] साम्प्रत [वर्तमानं] जीवद्रव्य रागादि अशुद्ध चेतनारूप परिणमा है, सो तो ऐसा प्रतिभासिता है कि ज्ञान क्रोधरूप परिणमा है; सो ज्ञान भिन्न, क्रोध भिन्न ऐसा अनुभवना बहुत ही कठिन है। उत्तर इस प्रकार है कि साँचा ही कठिन है, पर वस्तुका शुद्ध स्वरूप विचारनेपर भिन्नपनेरूप स्वाद आता है। कैसा है भिन्नपना? “कर्तृभावं भिन्दती” [कर्तृभावं] ‘कर्मका कर्ता जीव’ ऐसी भ्रान्ति, उसको [भिन्दती] मूलसे दूर करता है। दृष्टान्त कहते हैं—“एव ज्वलनपयसोः औष्ण्यशैत्यव्यवस्था ज्ञानात् उल्लसति” [एव] जिस प्रकार [ज्वलन] अग्नि [पयसोः] पानी, उनका [औष्ण्य] उष्णपना [शैत्य] शीतपना, उनका [व्यवस्था] भेद [ज्ञानात्] निजस्वरूपग्राही ज्ञानके द्वारा [उल्लसति] प्रगट होता है।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार अग्नि संयोगसे पानी ताता [उष्ण] किया जाता है, फिर ‘ताता पानी’ ऐसा कहा जाता है, तथापि स्वभाव विचारनेपर उष्णपना अग्निका है, पानी तो स्वभावसे शीतल [ठंडा] है ऐसा भेदज्ञान, विचारनेपर उपजता है। और दृष्टान्त—“एव लवणस्वादभेदव्युदासः ज्ञानात् उल्लसति” [एव] जिस प्रकार [लवण] खारा रस, उसका [स्वादभेद] व्यंजनसे भिन्नपनेके द्वारा खारा लवणका स्वभाव ऐसा जानपना उससे [व्युदासः] ‘व्यंजन खारा’ ऐसा कहा जाता था, जाना जाता था सो छूटा। [ज्ञानात्] निज स्वरूपका जानपना उसके द्वारा [उल्लसति] प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार लवणके संयोगसे व्यंजन संभारते हैं तो ‘खारा व्यंजन’ ऐसा कहा जाता है, जाना भी जाता है; स्वरूप विचारनेपर खारा लवण, व्यंजन जैसा है वैसा ही है॥ १५-६०॥

[अनुष्टुप]

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।**स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ १६-६१ ॥**

[सोरठा]

करे निजातम भाव , ज्ञान और अज्ञान मय ।**करे न पर के भाव , ज्ञानस्वभावी आतमा ॥६१॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एवं आत्मा आत्मभावस्य कर्ता स्यात्” [एवं] सर्वथा प्रकार [आत्मा] आत्मा अर्थात् जीवद्रव्य [आत्मभावस्य कर्ता स्यात्] अपने परिणामका कर्ता होता है, “परभावस्य कर्ता न क्वचित् स्यात्” [परभावस्य] कर्मरूप अचेतन पुद्गलद्रव्यका [कर्ता क्वचित् न स्यात्] कभी तीनों कालमें कर्ता नहीं होता। कैसा है आत्मा? “ज्ञानम् अपि आत्मानम् कुर्वन्” [ज्ञानम्] शुद्ध चेतनमात्र प्रगटरूप सिद्ध-अवस्था [अपि] उसरूप भी [आत्मानम् कुर्वन्] आप तद्रूप परिणमता है। और कैसा है? “अज्ञानम् अपि आत्मानम् कुर्वन्” [अज्ञानम्] अशुद्ध चेतनारूप विभाव परिणाम [अपि] उसरूप भी [आत्मानम् कुर्वन्] आप तद्रूप परिणमता है।

भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है, शुद्ध चेतनारूप परिणमता है, इसलिए जिस कालमें जिस चेतनारूप परिणमता है उसकालमें उसी चेतनाके साथ व्याप्य—व्यापकरूप है, इसलिए उस कालमें उसी चेतनाका कर्ता है। तो भी पुद्गलपिंडरूप जो ज्ञानावरणादि कर्म है उसके साथ तो व्याप्य—व्यापकरूप नहीं है, इसलिए उसका कर्ता नहीं है। “अञ्जसा” समस्तरूपसे ऐसा अर्थ है ॥ १६-६१ ॥

[अनुष्टुप]

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।**परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥ १७-६२ ॥**

[सोरठा]

ज्ञानस्वभावी जीव , करे ज्ञान से भिन्न क्या ?**कर्ता पर का जीव , जगतजनों का मोह यह ॥६२॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “आत्मा ज्ञानं करोति” [आत्मा] आत्मा अर्थात् चेतनद्रव्य [ज्ञानं] चेतनामात्र परिणाम को [करोति] करता है। कैसा होता हुआ? “स्वयं ज्ञानं” जिस कारण से आत्मा स्वयं चेतना परिणाममात्र स्वरूप है। “ज्ञानात् अन्यत् करोति किम्” [ज्ञानात् अन्यत्] चेतन परिणामसे भिन्न जो अचेतन पुद्गल परिणामरूप कर्म उसका [किम् करोति] करता है क्या? अपितु न करोति—सर्वथा नहीं करता है। “आत्मा परभावस्य कर्ता अयं व्यवहारिणां मोहः” [आत्मा] चेतनद्रव्य [परभावस्य कर्ता] ज्ञानावरणादि कर्मको करता है [अयं] ऐसा जानपना, ऐसा कहना [व्यवहारिणां मोहः] मिथ्यादृष्टि जीवोंका अज्ञान है।

भावार्थ इस प्रकार है कि कहनेमें ऐसा आता है कि ज्ञानावरणादि कर्मका कर्ता जीव है, सो कहना भी झूठा है ॥ १७-६२ ॥

[वसंततिलका]

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥ १८-६३ ॥

[दोहा]

यदि पुद्गलमय कर्म को करे न चेतनराय ।
कौन करे- अब यह कहें सुनो भरम नश जाय ॥ ६३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “पुद्गलकर्मकर्तृ संकीर्त्यते” [पुद्गलकर्म] द्रव्यपिंडरूप आठ कर्मका [कर्तृ] कर्ता [सङ्कीर्त्यते] जैसा है वैसा कहते हैं। “शृणुत” सावधान होकर तुम सुनो। प्रयोजन कहते हैं- “एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय” [एतर्हि] इस समय [तीव्ररय] दुर्निवार उदय है जिसका ऐसा जो [मोह] विपरीत ज्ञान उसको [निवर्हणाय] मूलसे दूर करनेके निमित्त। विपरीतपना कैसा करके जाना जाता है। “इति अभिशङ्कया एव” [इति] जैसी करते हैं [अभिशङ्कया] आशंका उसके द्वारा [एव] ही। वह आशंका कैसी है? “यदि जीवः एव पुद्गलकर्म न करोति तर्हि कः तत् कुरुते” [यदि] जो [जीवः एव] चेतनद्रव्य [पुद्गलकर्म] पिण्डरूप आठ कर्मको [न करोति] नहीं करता है [तर्हि] तो [कः तत् कुरुते] उसे कौन करता है?

भावार्थ इस प्रकार है — जो जीवके करनेपर ज्ञानावरणादि कर्म होता है ऐसी भ्रान्ति उपजती है, उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि पुद्गलद्रव्य परिणामी है, स्वयं सहज ही कर्मरूप परिणमता है ॥ १८-६३ ॥

[उपजाति]

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ १९-६४ ॥

[हरिगीत]

सब पुद्गलों में है स्वभाविक परिणमन की शक्तिजब ।
और उनके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
अर सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का ॥ ६४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इति खलु पुद्गलस्य परिणामशक्तिः स्थिता” [इति] इस प्रकार [खलु] निश्चयसे [पुद्गलस्य] मूर्त द्रव्यका [परिणामशक्तिः] परिणमनस्वरूप स्वभाव [स्थिता] अनादिनिधन विद्यमान है। कैसा है? “स्वभावभूता” सहजरूप है। और कैसा है? “अविघ्ना” निर्विघ्नरूप है। “तस्यां स्थितायां सः आत्मनः यम् भावं करोति सः तस्य कर्ता भवेत्” [तस्यां स्थितायां] उस परिणामशक्ति रहते हुए [सः] पुद्गलद्रव्य [आत्मनः] अपने अचेतन द्रव्यसंबंधी [यम् भावं करोति] जिस परिणामको करता है [सः] पुद्गलद्रव्य [तस्य कर्ता भवेत्] उस परिणामका कर्ता होता है। भावार्थ इस प्रकार है —ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलद्रव्य परिणमता है उस भावका कर्ता पुद्गलद्रव्य होता है॥ १९-६४॥

[उपजाति]

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत् स कर्ता॥ २०-६५॥

[हरिगीत]

आत्मा में है स्वभाविक परिणमन की शक्ति जब ।
और उसके परिणमन में है न कोई विघ्न जब ॥
क्यों न हो तब स्वयं कर्ता स्वयं के परिणमन का ।
अर सहज ही यह नियम जानो वस्तु के परिणमन का॥६५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “जीवस्य परिणामशक्तिः स्थिता इति” [जीवस्य] चेतनद्रव्यकी [परिणामशक्तिः] परिणमनरूप सामर्थ्य [स्थिता] अनादिसे विद्यमान है [इति] ऐसा द्रव्यका सहज है। “स्वभावभूता” जो शक्ति [स्वभावभूता] सहजरूप है। और कैसी है? “निरन्तराया” प्रवाहरूप है, एक समयमात्र खंड नहीं है। “तस्यां स्थितायां” उस परिणामशक्ति होते हुए “सः स्वस्य यं भावं करोति” [सः] जीववस्तु [स्वस्य] आपसम्बन्धी [यं भावं] जिस किसी शुद्धचेतनारूप अशुद्धचेतनारूप परिणामको [करोति] करता है ‘तस्य एव सः कर्ता भवेत्’ [तस्य] उस परिणामका [एव] निश्चयसे [सः] जीववस्तु [कर्ता] करणशील [भवेत्] होता है। भावार्थ इस प्रकार है— जीवद्रव्यकी अनादिनिधन परिणमनशक्ति है॥ २०-६५॥

[आर्या]

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥ २१-६६॥

[रोला]

ज्ञानी के सब भाव शुभाशुभ ज्ञानमयी हैं, अज्ञानी के वही भाव अज्ञानमयी हैं।
ज्ञानी और अज्ञानी में यह अन्तर क्यों है, तथा शुभाशुभ भावों में भी अन्तर क्यों है॥६६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ पर कोई प्रश्न करता है: ‘‘ ज्ञानिनः ज्ञानमय एव भावः कुतः भवेत् पुनः न अन्यः’’ [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टिके [ज्ञानमय एव भावः] भेदविज्ञानस्वरूप परिणाम [कुतो भवेत्] किस कारणसे होता है [न पुनः अन्यः] अज्ञानरूप नहीं होता। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीव कर्मके उदयको भोगनेपर विचित्र रागादिरूप परिणमता है सो ज्ञानभावका कर्ता है और [उसके] ज्ञानभाव है, अज्ञानभाव नहीं है सो कैसे है ऐसा कोई बूझता है। ‘‘ अयम् सर्वः अज्ञानिनः अज्ञानमयः कुतः न अन्यः’’ [अयम्] परिणाम [सर्वः] सबका सब परिणमन [अज्ञानिनः] मिथ्यादृष्टिके [अज्ञानमयः] अशुद्ध चेतनारूप—बंधका कारण—होता है। [कुतः] कोई प्रश्न करता है ऐसा है सो कैसे है, [न अन्यः] ज्ञानजातिका कैसे नहीं होता ? भावार्थ इस प्रकार है — मिथ्यादृष्टिके जो कुछ परिणाम होता है वह बन्धका कारण है॥ २१-६६॥

[अनुष्टुप]

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।

सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते॥ २२-६७॥

[रोला]

ज्ञानी के सब भाव ज्ञान से बने हुए हैं, अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमयी हैं।

उपादान के ही समान कारज होते हैं, जौ बोलनेपर जौ ही तो पैदा होते हैं॥ ६७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ हि ज्ञानिनः सर्वे भावाः ज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्ति’’ [हि] निश्चयसे [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टिके [सर्वे भावाः] जितने परिणाम हैं [ज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्ति] ज्ञानस्वरूप होते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टिका द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणाम है, इसलिए सम्यग्दृष्टिका जो कोई परिणाम होता है वह ज्ञानमय शुद्धत्व जातिरूप होता है, कर्मका अबंधक होता है। ‘‘ तु ते सर्वे अपि अज्ञानिनः अज्ञाननिर्वृत्ताः भवन्ति’’ [तु] यों भी है कि [ते] जितने परिणाम [सर्वे अपि] शुभोपयोगरूप अथवा अशुभोपयोगरूप हैं वे सब [अज्ञानिनः] मिथ्यादृष्टिके [अज्ञाननिर्वृत्ताः] अशुद्धत्वसे नीपजे हैं, [भवन्ति] विद्यमान हैं। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीवकी और मिथ्यादृष्टि जीवकी क्रिया तो एकसी है, क्रियासम्बन्धी विषय कषाय भी एकसी है; परन्तु द्रव्यका परिणमनभेद है। विवरण—सम्यग्दृष्टिका द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणाम है, इसलिए जो कोई परिणाम बुद्धिपूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचाररूप है अथवा व्रत—क्रियारूप है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा चारित्रमोहके उदय क्रोध, मान, माया, लोभरूप है वह सभी परिणाम ज्ञानजातिमें घटता है, कारण कि जो कोई परिणाम है वह संवर—निर्जराका कारण है, ऐसा ही कोई द्रव्यपरिणमनका विशेष है। मिथ्यादृष्टिका द्रव्य अशुद्धरूप परिणाम है, इसलिए जो कोई मिथ्यादृष्टिका परिणाम अनुभवरूप तो होता ही नहीं। इसलिए सूत्र—सिद्धान्तके पाठरूप है अथवा व्रत—तपश्चरणरूप है अथवा दान, पूजा दया, शीलरूप है अथवा भोगाभिलाषरूप है अथवा क्रोध, मान, माया, लोभरूप है, ऐसा समस्त परिणाम अज्ञानजातिका है, क्योंकि बंधका कारण है, संवर—निर्जराका कारण नहीं है। द्रव्यका ऐसा ही परिणमनविशेष है॥ २२-६७॥

[अनुष्टुप]

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाः ।**द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥ २३-६८ ॥**

[दोहा]

अज्ञानी अज्ञानमय भावभूमि में व्याप्त ।**इस कारण द्रव बंध के हेतुपने को प्राप्त ॥ ६८ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- ऐसा कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीवकी और मिथ्यादृष्टि जीवकी बाह्य क्रिया तो एकसी है परंतु द्रव्य परिणमनविशेष है, सो विशेषके अनुसार दिखलाते हैं। सर्वथा तो प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर है। ‘‘अज्ञानी द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानाम् हेतुताम् एति’’ [अज्ञानी] मिथ्यादृष्टि जीव, [द्रव्यकर्म] धाराप्रवाहरूप निरन्तर बँधते हैं—पुद्गलद्रव्यकी पर्यायरूप कार्मणवर्गणा ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप बँधते हैं, जीवके प्रदेशके साथ एकक्षेत्रावगाही हैं, परस्पर बन्ध—बन्धकभाव भी है। उनके [निमित्तानां] बाह्य कारणरूप हैं [भावानाम्] मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व, राग, द्वेषरूप अशुद्ध परिणाम। भावार्थ इस प्रकार है—जैसे कलशरूप मृत्तिका परिणमती है, जैसे कुम्भकारका परिणाम उसका बाह्य निमित्त कारण है, व्याप्य—व्याप्यकरूप नहीं है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप पुद्गलद्रव्य स्वयं व्याप्य—व्याप्यकरूप है। तथापि जीवका अशुद्ध चेतनारूप मोह, राग, द्वेषादि परिणाम बाह्य निमित्तकारण हैं, व्याप्य—व्याप्यकरूप तो नहीं है। उस परिणामके [हेतुताम्] कारणरूप [एति] आप परिणमा है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि जीवद्रव्य तो शुद्ध है, उपचारमात्र कर्मबंधका कारण होता है सो ऐसा तो नहीं है। आप स्वयं मोह, राग, द्वेष अशुद्धचेतनापरिणामरूप परिणमता है, इसलिए कर्मका कारण है। मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्धरूप जिस प्रकार परिणमता है उस प्रकार कहते हैं—‘‘अज्ञानमयभावानाम् भूमिकाः प्राप्य’’ [अज्ञानमय] मिथ्यात्वजाति ऐसी है [भावानाम्] कर्मके उदयकी अवस्था उनकी, [भूमिकाः] जिसके पानेपर अशुद्ध परिणाम होते हैं ऐसी संगतिको [प्राप्य] प्राप्तकर मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध परिणामरूप परिणमता है। भावार्थ इस प्रकार है—द्रव्यकर्म अनेक प्रकारका है, उसका उदय अनेक प्रकारका है। एक कर्म ऐसा है जिसके उदयसे शरीर होता है, एक कर्म ऐसा है जिसके उदयसे मन, वचन, काय होता है, एक कर्म ऐसा है जिसके उदयसे सुख—दुःख होता है। ऐसे अनेक प्रकारके कर्मका उदय होनेपर मिथ्यादृष्टि जीव कर्मके उदयको आपरूप अनुभवता है, इससे राग, द्वेष, मोहपरिणाम होते हैं, उनके द्वारा नूतन कर्मबंध होता है। इस कारण मिथ्यादृष्टि जीव अशुद्ध चेतन परिणामका कर्ता है। क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीवके शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं है, इसलिए कर्मके उदय कार्यको आपरूप अनुभवता है। जिस प्रकार मिथ्यादृष्टिके कर्मका उदय है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके भी है, परन्तु सम्यग्दृष्टि जीवको शुद्ध स्वरूपका अनुभव है, इस कारण कर्मके उदयको कर्मजातिरूप अनुभवता है, आपको शुद्धस्वरूप अनुभवता है। इसलिए कर्मके उदयमें रंजायमान होता नहीं, इसलिए मोह, राग, द्वेषरूप नहीं परिणमता है, इसलिए कर्मबंध नहीं होता है। इसलिए सम्यग्दृष्टि अशुद्ध परिणामका कर्ता नहीं है। ऐसा विशेष है ॥ २३-६८ ॥

[उपेन्द्रवज्रा]

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं
स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥ २४-६९ ॥

[सोरठा]

जो निवसे निज माहि छोड़ सभी नय पक्ष को ।
करे सुधारस पान निर्विकल्प चित शान्त हो ॥ ६९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ये एव नित्यम् स्वरूपगुप्ताः निवसन्ति ते एव साक्षात् अमृतं पिबन्ति” [ये एव] जो कोई जीव [नित्यम्] निरन्तर [स्वरूप] शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तुमें [गुप्ताः] तन्मय हुए हैं [निवसन्ति] तिष्ठते हैं [ते एव] वे ही जीव [साक्षात् अमृतं] अतीन्द्रिय सुखका [पिबन्ति] आस्वाद करते हैं। क्या करके? “नयपक्षपातं मुक्त्वा” [नय] द्रव्य—पर्यायरूप विकल्पबुद्धि, उसके [पक्षपातं] एक पक्षरूप अंगीकार उसको [मुक्त्वा] छोड़कर। कैसे हैं वे जीव? “विकल्पजालच्युतशान्तचित्ताः” [विकल्पजाल] एक सत्त्वका अनेकरूप विचार, उससे [च्युत] रहित हुआ है [शान्तचित्ताः] निर्विकल्प समाधान मन जिनका, ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है—एक सत्त्वरूप वस्तु है उसको, द्रव्य—गुण—पर्यायरूप, उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप विचार करनेपर विकल्प होता है, उस विकल्पके होनेपर मन आकुल होता है, आकुलता दुःख है, इसलिए वस्तुमात्रके अनुभवनेपर विकल्प मिटता है, विकल्पके मिटनेपर आकुलता मिटती है, आकुलताके मिटनेपर दुःख मिटता है, इससे अनुभवशीली जीव परम सुखी है ॥ २४-६९ ॥

[उपजाति]

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २५-७० ॥

[रोला]

एक कहे ना बंधा दूसरा कहे बंधा है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ७० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “चिति द्वयोः इति द्वौ पक्षपातौ”- [चिति] चैतन्यमात्र वस्तुमें [द्वयोः] द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक दो नयोंके [इति] इस प्रकार [द्वौ पक्षपातौ] दो ही पक्षपात हैं। “एकस्य बद्धः तथा अपरस्य न”- [एकस्य] अशुद्ध पर्यायमात्र ग्राहक ज्ञानका पक्ष करनेपर [बद्धः] जीवद्रव्य बंधा है।

भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य अनादिसे कर्मसंयोगके साथ एकपर्यायरूप चला आया है, विभावरूप परिणमा है। इस प्रकार एक बंधपर्यायको अंगीकार करिये, द्रव्यस्वरूपका पक्ष न करिये तब जीव बँधा है; एक पक्ष इस प्रकार है । [तथा] दूसरा पक्ष—[अपरस्य] द्रव्यार्थिकनयका पक्ष करनेपर [न] नहीं बँधा है। भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य अनादिनिधन चेतनालक्षण है, इस प्रकार द्रव्यमात्रका पक्ष करनेपर जीवद्रव्य बँधा तो नहीं है, सदा अपने स्वरूप है, क्योंकि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य—गुण—पर्यायरूप नहीं परिणमता है, सभी द्रव्य अपने स्वरूपरूप परिणमते हैं। “यः तत्त्ववेदी” जो कोई शुद्ध चेतनमात्र जीवके स्वरूपका अनुभवनशील है जीव “च्युतपक्षपातः” वह जीव पक्षपातसे रहित है। भावार्थ इस प्रकार है — एक वस्तुकी अनेकरूप कल्पना की जाती है उसका नाम पक्षपात कहा जाता है, इसलिए वस्तुमात्रका स्वाद आनेपर कल्पनाबुद्धि सहज ही मिटती है। “तस्य चित् चित् एव अस्ति” —[तस्य] शुद्ध स्वरूपको अनुभवता है उसको [चित्] चैतन्यवस्तु [चित् एव अस्ति] चेतनामात्र वस्तु है ऐसा प्रत्यक्षपने स्वाद आता है॥ २५—७०*

[उपजाति]

एकस्य मूढो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २६-७१ ॥

[रोला]

एक कहे ना मूढ़ दूसरा कहे मूढ़ है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७१॥

अर्थ:- जीव मूढ़ [मोही] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव मूढ़ [मोही] नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है [अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है]॥ २६—७१॥

* आगे २६ से ४४ तकके श्लोक २५ वाँ श्लोकके साथ मिलते जुलते हैं। इसलिए पं० श्री राजमलजीने उन श्लोकोंका “खंडान्वय सहित अर्थ नहीं किया है। मूल श्लोक, उनका अर्थ और भावार्थ हिन्दी समयसारमें से यहाँ दिया गया है।

[उपजाति]

एकस्य रक्तो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २७-७२ ॥

[रोला]

एक कहे ना रक्त दूसरा कहे रक्त है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७२॥

अर्थ:- जीव रागी है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव रागी नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥२७—७२॥

[उपजाति]

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २८-७३ ॥

[रोला]

एक कहे ना दुष्ट दूसरा कहे दुष्ट है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७३॥

अर्थ:- जीव द्वेषी है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव द्वेषी नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥२८—७३॥

[उपजाति]

एकस्य कर्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ २९-७४ ॥

[रोला]

एक अकर्ता कहे दूसरा कर्ता कहता, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७४॥

अर्थ:- जीव कर्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कर्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥२९-७४॥

[उपजाति]

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्विविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३०-७५ ॥

[रोला]

एक अभोक्ता कहे दूसरा भोक्ता कहता, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७५॥

अर्थ:- जीव भोक्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भोक्ता नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥३०-७५॥

[उपजाति]

एकस्य जीवो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३१-७६ ॥

[रोला]

एक कहे ना जीव दूसरा कहे जीव है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७६॥

अर्थ:- जीव जीव है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव जीव नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥३१-७६॥

[उपजाति]

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३२-७७ ॥

[रोला]

एक कहे ना सुक्ष्म दूसरा कहे सुक्ष्म है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७७॥

अर्थ:- जीव सुक्ष्म है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सुक्ष्म नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥३२-७७॥

[उपजाति]

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३३-७८ ॥

[रोला]

एक कहे ना हेतु दूसरा कहे हेतु है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७८॥

अर्थ:- जीव हेतु [कारण] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव हेतु [कारण] नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥३३-७८॥

[उपजाति]

एकस्य कार्यं न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३४-७९ ॥

[रोला]

एक कहे ना कार्य दूसरा कहे कार्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥७९॥

अर्थ:- जीव कार्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कार्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥३४-७९॥

[उपजाति]

एकस्य भावो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३५-८० ॥

[रोला]

एक कहे ना भाव दूसरा कहे भाव है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८० ॥

अर्थ:- जीव भाव है [अर्थात् भावरूप है] ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भाव नहीं है [अर्थात् अभावरूप है] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ३५-८० ॥

[उपजाति]

एकस्य चैको न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३६-८१ ॥

[रोला]

एक कहे ना एक दूसरा कहे एक है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन हैं, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८१ ॥

अर्थ:- जीव एक है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव एक नहीं है [अनेक है] ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ३६-८१ ॥

[उपजाति]

एकस्य सांतो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३७-८२ ॥

[रोला]

एक कहे ना सान्त दूसरा कहे सान्त है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८२ ॥

अर्थ:- जीव सान्त है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सान्त नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपातरहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ३७-८२ ॥

[उपजाति]

एकस्य नित्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३८-८३ ॥

[रोला]

एक कहे ना नित्य दूसरा कहे नित्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८३ ॥

अर्थ:- जीव नित्य है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नित्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ३८-८३ ॥

[उपजाति]

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ३९-८४ ॥

[रोला]

एक कहे ना वाच्य दूसरा कहे वाच्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८४॥

अर्थ:- जीव वाच्य [अर्थात् वचनसे कहा जा सके ऐसा] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वाच्य [वचनगोचर] नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ३९-८४ ॥

[उपजाति]

एकस्य नाना न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४०-८५ ॥

[रोला]

नाना कहता एक दूसरा कहे अनाना, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥८५॥

अर्थ:- जीव नानारूप है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नानारूप नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥४०-८५॥

[उपजाति]

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४१-८६ ॥

[रोला]

एक कहे ना चेत्य दूसरा कहे चेत्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८६ ॥

अर्थ:- जीव चेत्य [जानने योग्य] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव चेत्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ४१-८६ ॥

[उपजाति]

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४२-८७ ॥

[रोला]

एक कहे ना दृश्य दूसरा कहे दृश्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८७ ॥

अर्थ:- जीव दृश्य [देखने योग्य] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव दृश्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ४२-८७ ॥

[उपजाति]

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४३-८८ ॥

[रोला]

एक कहे ना वेद्य दूसरा कहे वेद्य है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८८ ॥

अर्थ:- जीव वेद्य [वेदने योग्य—ज्ञात होने योग्य] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वेद्य नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ४३-८८ ॥

[उपजाति]

एकस्य भातो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ४४-८९ ॥

[रोला]

एक कहे ना भात दूसरा कहे भात है, किन्तु यह तो उभय नयों का पक्षपात है ।
पक्षपात से रहित तत्त्व वेदी जो जन है, उनको तो यह जीव सदा चैतन्यरूप है ॥ ८९ ॥

अर्थ:- जीव भात [प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष] है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भात नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इस प्रकार चित्स्वरूप जीव के सम्बन्धमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेत्ता पक्षपात रहित है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ॥ ४४-८९ ॥

भावार्थ:- बद्ध अबद्ध, मूढ अमूढ, रागी अरागी, द्वेषी अद्वेषी, कर्ता अकर्ता, भोक्ता अभोक्ता, जीव अजीव, सूक्ष्म स्थूल, कारण अकारण, कार्य अकार्य, भाव अभाव, एक अनेक, सान्त अनन्त, नित्य अनित्य, वाच्य अवाच्य, नाना अनाना, चेत्य अचेत्य, दृश्य अदृश्य, वेद्य अवेद्य, भात अभात इत्यादि नयोका पक्षपात हैं। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षापूर्वक तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ता है उसे चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूप अनुभव होता है।

जीवमें अनेक साधारण धर्म हैं परंतु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है; इसलिये उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है ॥ ४४-८९ ॥

[वसंततिलका]

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम्।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥ ४५-९० ॥

[हरिगीत]

उठ रहा जिसमें है अनन्ते विकल्पों का काल है।
वह वृहद् नयपक्षकक्षा विकट है विकराल है ॥
उल्लंघन कर उसे बुध अनुभूतिमय निज भाव को।
हो प्राप्त अन्तर्बाह्य से समरसी एक स्वभाव को ॥ ९० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एवं [सः तत्त्ववेदी] एकम् स्वं भावम् उपयाति ” [एवं] पूर्वोक्त प्रकार [सः] सम्यग्दृष्टि जीव—[तत्त्ववेदी] शुद्धस्वरूपका अनुभवशील, [एकम् स्वं भावम् उपयाति] एक शुद्धस्वरूप चिद्रूप आत्माको आस्वादता है। कैसा है आत्मा? “ अन्तः बहिः समरसैकरसस्वभावं ” [अन्तः] भीतर [बहिः] बाहर [समरस] तुल्यरूप ऐसी [एकरस] चेतनशक्ति ऐसा है [स्वभावं] सहज रूप जिसका ऐसा है। किं कृत्वा— क्या करके शुद्धस्वरूप पाता है? “ नयपक्षकक्षाम् व्यतीत्य ” [नय] द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक भेद, उनका [पक्ष] अंगीकार, उसकी [कक्षाम्] समूह है—अनन्त नयविकल्प हैं, उनको [व्यतीत्य] दूरसे ही छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है — अनुभव निर्विकल्प है। उस अनुभवके कालमें समस्त विकल्प छूट जाते हैं। [नयपक्षकक्षा] कैसी है? “ महती ” जितने बाह्य—अभ्यन्तर बुद्धिके विकल्प उतने ही नयभेद ऐसी है। और कैसी है? “ स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालाम् ” [स्वेच्छा] बिना ही उपजाए गये [समुच्छलत्] उपजते हैं ऐसे जो [अनल्प] अति बहु [विकल्प] निर्भेद वस्तुमें भेदकल्पना, उसका [जालाम्] समूह है जिसमें ऐसी है। कैसा है आत्मस्वरूप? “ अनुभूतिमात्रम् ” अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है ॥ ४५-९० ॥

[रथोद्धता]

इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्
 पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
 यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
 कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ४६-९१ ॥

[दोहा]

इन्द्रजाल से स्फुरें, सब विकल्प के पुंज ।
 जो क्षण भरमें लय करे, मैं हूँ वह चित्पुंज ॥ ९१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ तत् चिन्महः अस्मि ’’ मैं ऐसा ज्ञानपुंजरूप हूँ ‘‘ यस्य विस्फुरणम् ’’ जिसका प्रकाशमात्र होनेपर ‘‘ इदम् कृत्स्नम् इन्द्रजालम् तत्क्षणं एव अस्यति ’’ [इदम्] विद्यमान अनेक नयविकल्प जो [कृत्स्नम्] अति बहुत हैं, [इन्द्रजालम्] झूठा है पर विद्यमान है, वह [तत्क्षणं] जिस कालमें शुद्ध चिद्रूप अनुभव होता है उसी काल में [एव] निश्चयसे [अस्यति] विनश जाता है। भावार्थ इस प्रकार है — जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर अंधकार फट जाता है उसी प्रकार शुद्ध चैतन्यमात्रका अनुभव होनेपर यावत् समस्त विकल्प मिटते हैं ऐसी शुद्ध चैतन्यवस्तु है सो मेरा स्वभाव; अन्य समस्त कर्मकी उपाधि है। कैसा है इन्द्रजाल? ‘‘ पुष्कलोच्चल- विकल्पवीचिभिः उच्छलत् ’’ [पुष्कल] अति बहुत, [उच्चल] अति स्थूल ऐसी जो [विकल्प] भेदकल्पना, ऐसी जो [वीचिभिः] तरंगावली उस द्वारा [उच्छलत्] आकुलतारूप है, इसलिए हेय है, उपादेय नहीं है ॥ ४६-९१ ॥

[स्वागता]

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम् ॥ ४७-९२ ॥

[रोला]

मैं हूँ वह चितपुंज कि भावाभावमय ।
परमारथ से एकसदा अविचल स्वभावमय ॥
कर्म जनित यह बंधपद्धति करूँ पार मैं ।
नित अनुभव यह करूँकि चिन्मय समयसार मैं ॥ ९२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “समयसारम् चेतये” शुद्ध चैतन्यका अनुभव करना कार्यसिद्धि है। कैसा है? “अपारम्” अनादि—अनन्त है। और कैसा है? “एकम्” शुद्धस्वरूप है। कैसा करके शुद्धस्वरूप है? “चित्स्वभावभरभावितभावाभावभावपरमार्थतया एकम्” [चित्स्वभाव] ज्ञानगुण, उसका [भर] अर्थग्रहण व्यापार उसके द्वारा [भावित] होते हैं [भाव] उत्पाद [अभाव] विनाश [भाव] ध्रौव्य ऐसे तीन भेद, उनके द्वारा [परमार्थतया एकम्] साधा है एक अस्तित्व जिसका। किं कृत्वा— क्या करके? “समस्तां बन्धपद्धतिम् अपास्य” [समस्तां] जितना असंख्यात लोकमात्र भेदरूप है ऐसी जो [बन्धपद्धतिम्] ज्ञानावरणादि कर्मबंधरचना, उसका [अपास्य] ममत्व छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है —शुद्धस्वरूपका अनुभव होनेपर जिस प्रकार नयविकल्प मिटते हैं उसी प्रकार समस्त कर्मके उदयसे होनेवाले जितने भाव हैं वे भी अवश्य मिटते हैं ऐसा स्वभाव है ॥ ४७-९२ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम् ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥ ४८-९३ ॥

[हरिगीत]

यह पुण्य पुरुष पुराण सब नयपक्ष बिन भगवान है ।
यह अचल है अविकल्प है सब यही दर्शन ज्ञान है ॥
निभृतजनों का स्वाद्य है अर जो समय का सार है ।
जोभी हो वह एक ही अनुभूति का आधार है ॥ ९३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यः समयस्य सारः भाति” [यः] जो [समयस्य सारः] शुद्धस्वरूप आत्मा [भाति] अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमता है । जैसा परिणमता है वैसा कहते हैं —“नयानां पक्षैः विना अचलं अविकल्पभावम् आक्रामन्” [नयानां] द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक ऐसे जो अनेक विकल्प उनके [पक्षैः विना] पक्षपात विना किये [अचलं] त्रिकाल ही एकरूप है ऐसी

[अविकल्पभावम्] निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यवस्तु, उस रूप [आक्रामन्] जिस प्रकार शुद्धस्वरूप है उस प्रकार परिणमता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — जितना नय है उतना श्रुतज्ञानरूप है, श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है, इसलिए श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष अनुभवता है। इस कारण प्रत्यक्षरूपसे अनुभवता हुआ जो कोई शुद्धस्वरूप आत्मा “ सः विज्ञानैकरसः ” वही ज्ञानपुञ्ज वस्तु है ऐसा कहा जाता है। “ सः भगवान् ” वही परब्रह्म परमेश्वर ऐसा कहा जाता है। “ एषः पुण्यः ” वही पवित्र पदार्थ ऐसा भी कहा जाता है। “ एषः पुराणः ” वही अनादिनिधन वस्तु ऐसा भी कहा जाता है। “ एषः पुमान् ” वही अनंत गुण बिराजमान पुरुष ऐसा भी कहा जाता है। “ अयं ज्ञानं दर्शनम् अपि ” वही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ऐसा भी कहा जाता है। “ अथवा किम् ” बहुत क्या कहें ? “ अयम् एकः यत् किञ्चन अपि ” [अयम् एकः] यह जो है शुद्धचैतन्यवस्तुकी प्राप्ति [यत् किञ्चन अपि] उसे जो कुछ कहा जाय वही है, जैसी भी कही जाय वैसी ही है। भावार्थ इस प्रकार है — शुद्धचैतन्यमात्र वस्तुप्रकाश निर्विकल्प एकरूप है, उसके नामकी महिमा की जाय सो अनन्त नाम कहे जायँ उतने ही घटित हो जायँ, वस्तु तो एकरूप है। कैसा है वह शुद्धस्वरूप आत्मा ? “ निभृतैः स्वयं आस्वाद्यमानः ” निश्चल ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा आप स्वयं अनुभवशील है ॥ ४८—९३ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतौ
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मान्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥ ४९-९४ ॥

[हरिगीत]

निज औघ से च्युत जिस तरह जल ढाल वाले मार्गसे ।
बल पूर्वक यदि मोड़ दें तो आमिले निज औघ से ॥
उस ही तरह यदि मोड़ दें बलपूर्वक निज भावको ।
निजभाव से च्युत आत्मा निजभाव में ही आमिले ॥ ९४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ अयं आत्मा गतानुगततां आयाति तोयवत् ” [अयं] द्रव्यरूप विद्यमान है ऐसा [आत्मा] आत्मा अर्थात् चेतनपदार्थ [गतानुगतताम्] स्वरूपसे नष्ट हुआ था सो फिर उस स्वरूपको प्राप्त हुआ, ऐसे भावको [आयाति] प्राप्त होता है। दृष्टांत—[तोयवत्] पानीके समान। क्या करता हुआ ? “ आत्मानम् आत्मनि सदा आहरन् ” आपको आपमें निरन्तर अनुभवता हुआ। कैसा है आत्मा ? “ तदेकरसिनाम् विज्ञानैकरसः ” [तदेकरसिनाम्] अनुभवरसिक हैं जो पुरुष उनको [विज्ञानैकरसः] ज्ञानगुण आस्वादरूप है। कैसा हुआ है ? “ निजौघात् च्युतः ” [निजौघात्] जिस प्रकार पानीका शीत, स्वच्छ, द्रवत्व स्वभाव है, उस स्वभावसे कभी च्युत होता है, अपने स्वभावको छोड़ता है, उसी प्रकार जीवद्रव्यका स्वभाव केवलज्ञान, केवलदर्शन, अतीन्द्रिय सुख इत्यादि अनंत गुणस्वरूप है, उससे [च्युतः] अनादि कालसे भ्रष्ट हुआ है, विभावरूप परिणमा है। भ्रष्टपना जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं —

“दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्” [दूरं] अनादि कालसे लेकर [भूरि] अति बहुत है [विकल्प] कर्मजनित जितने भाव उनमें आत्मरूप संस्कारबुद्धि, उसका [जाल] समूह, वही है [गहने] अटवीवन, उसमें [भ्राम्यन्] भ्रमता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार पानी अपने स्वादसे भ्रष्ट हुआ नाना वृक्षरूप परिणमता है उसी प्रकार जीवद्रव्य अपने शुद्धस्वरूपसे भ्रष्ट हुआ नाना प्रकार चतुर्गतिपर्यायरूप अपनेको आस्वादता है। हुआ तो कैसा हुआ? “बलात् निजौघं नीतः” [बलात्] बलजोरीसे [निजौघं] अपने शुद्धस्वरूपलक्षण निष्कर्म अवस्था [नीतः] उसरूप परिणमा है। ऐसा जिस कारणसे हुआ है वही कहते हैं—“दूरात् एव” अनंत काल फिरते हुए प्राप्त हुआ ऐसा जो “विवेकनिम्नगमनात्” [विवेक] शुद्धस्वरूपका अनुभव ऐसा जो [निम्नगमनात्] नीचा मार्ग, उस कारणसे जीवद्रव्यका जैसा स्वरूप था वैसा प्रगट हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार पानी अपने स्वरूपसे भ्रष्ट होता है, काल निमित्त पाकर पुनः जलरूप होता है। नीचे मार्गसे ढलकता हुआ पुंजरूप भी होता है, उसी प्रकार जीवद्रव्य अनादिसे स्वरूपसे भ्रष्ट है। शुद्धस्वरूपलक्षण सम्यक्त्व गुणके प्रगट होनेपर मुक्त होता है, ऐसा द्रव्यका परिणाम है॥ ४९—९४॥

[अनुष्टुप]

**विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥ ५०-९५ ॥**

[रोला]

**है विकल्प ही कर्म विकल्पक कर्ता होवे ।
जो विकल्प को करे वही तो कर्ता होवे ॥
नित अज्ञानी जीव विकल्पों में ही होवे ।
इस विधि कर्ताकर्मभाव का नाश न होवे ॥ ९५ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सविकल्पस्य कर्तृकर्मत्वं जातु न नश्यति” [सविकल्पस्य] कर्मजनित हैं जो अशुद्ध रागादि भाव, उनको आपरूप जानता है ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवके [कर्तृकर्मत्वं] कर्तापना—कर्मपना [जातु] सर्व काल [न नश्यति] नहीं मिटता है। जिस कारणसे “परं विकल्पकः कर्ता, केवलम् विकल्पः कर्म” [परं] एतावन्मात्र [विकल्पकः] विभाव—मिथ्यात्व—परिणामरूप परिणमा है जो जीव वह [कर्ता] जिस भावरूप परिणमा है उसका कर्ता अवश्य होता है। [केवलम्] एतावन्मात्र [विकल्पः] मिथ्यात्व—रागादिरूप अशुद्ध चेतनपरिणामको [कर्म] जीवकी करतूति जानना। भावार्थ इस प्रकार है — कोई कोई मानेगा कि जीवद्रव्य सदा ही अकर्ता है उसके प्रति ऐसा समाधान है कि जितने काल तक जीवका सम्यक्त्वगुण प्रगट नहीं होता उतने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है। मिथ्यादृष्टि हो तो अशुद्ध परिणामका कर्ता होता है सो जब सम्यक्त्वगुण प्रगट होता है तब अशुद्ध परिणाम मिटता है , तब अशुद्ध परिणामका कर्ता नहीं होता ॥ ५०—९५॥

[रथोद्धता]

यः करोति स करोति केवलं
 यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
 यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
 यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥ ५१-९६ ॥

[रोला]

जो करता वह केवल करता ही होवे ।
 जो जाने वह बस केवल ज्ञाता ही होवे ॥
 जो करता वह नहीं जानता कुछ भी भाई ।
 जो जाने वह करे नहीं कुछ भी है भाई ॥ ९६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- इस समय सम्यग्दृष्टि जीवका और मिथ्यादृष्टि जीवका परिणाम भेद बहुत है वही कहते हैं— **“यः करोति सः केवलं करोति”** [यः] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव [करोति] मिथ्यात्व—रागादि परिणामरूप परिणमता है [सः केवलं करोति] वह वैसे ही परिणामका कर्ता होता है। **“तु यः वेत्ति”** जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप परिणमता है **“सः केवलम् वेत्ति”** वह जीव उस ज्ञानपरिणामरूप है, इसलिए केवल ज्ञाता है, कर्ता नहीं है। **“यः करोति सः क्वचित् न वेत्ति”** जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व—रागादिरूप परिणमता है वह शुद्धस्वरूपका अनुभवशील एक ही काल तो नहीं होता। **“यः तु वेत्ति सः क्वचित् न करोति”** जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धस्वरूपको अनुभवता है वह जीव मिथ्यात्व—रागादि भावका परिणमनशील नहीं होता। भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यक्त्व और मिथ्यात्वके परिणाम परस्पर विरुद्ध है। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होते हुए अंधकार नहीं होता, अंधकार होते हुए प्रकाश नहीं होता, उसी प्रकार सम्यक्त्वके परिणाम होते हुए मिथ्यात्वपरिणमन नहीं होता। इस कारण एक कालमें एक परिणामरूप जीव द्रव्य परिणमता है, अतः उस परिणामका कर्ता होता है। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव कर्मका कर्ता, सम्यग्दृष्टि जीव कर्मका अकर्ता—ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ ॥ ५१-९६ ॥

[इन्द्रवज्रा]

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
 ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
 ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
 ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥ ५२-९७ ॥

[रोला]

करने रूप क्रिया में जानन भसित ना हो ।
 जानन रूप क्रिया में करना भसित ना हो ॥
 इसीलिए तो जानन-करना भिन्न भिन्न है ।
 इसीलिए तो ज्ञाता-कर्ता भिन्न भिन्न हैं ॥ ९७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अन्तः” सूक्ष्म द्रव्यस्वरूप दृष्टिसे “ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासते” [ज्ञप्तिः] ज्ञानगुण [करोतौ] मिथ्यात्व—रागादिरूप चिक्कणता इनमें [न हि भासते] एकत्वपना नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है —संसार—अवस्था [रूप] मिथ्यादृष्टि जीवके ज्ञानगुण भी है और रागादिचिक्कणता भी है, कर्मबंध होता है सो रागादि सचिक्कणता से होता है। ज्ञानगुणके परिणमनसे नहीं होता ऐसा वस्तुका स्वरूप है। तथा “ज्ञप्तौ करोतिः अन्तः न भासते” [ज्ञप्तौ] ज्ञानगुणमें [करोतिः] अशुद्ध रागादि परिणमनका [अन्तः न भासते] अंतरंगमें एकत्वपना नहीं है। “ततः ज्ञप्तिः करोतिः च विभिन्ने” [ततः] उस कारणसे [ज्ञप्तिः] ज्ञानगुण [करोतिः] अशुद्धपना [विभिन्ने] भिन्न भिन्न हैं, एकरूप तो नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है — ज्ञानगुण, अशुद्धपना देखनेपर तो मिलेके दिखता हैं, परंतु स्वरूपसे भिन्न — भिन्न है। विवरण—ज्ञानपना मात्र ज्ञानगुण है, उसमें गर्भित यही दिखता है। सचिक्कणपना सो रागादि है, उससे अशुद्धपना कहा जाता है। “ततः स्थितं ज्ञाता न कर्ता” [ततः] इस कारणसे [स्थितं] ऐसा सिद्धान्त निष्पन्न हुआ— [ज्ञाता] सम्यग्दृष्टि पुरुष [न कर्ता] रागादि अशुद्ध परिणामका कर्ता नहीं होता। भावार्थ इस प्रकार है —द्रव्यके स्वभावसे ज्ञानगुण कर्ता नहीं है, अशुद्धपना कर्ता है। सो सम्यग्दृष्टिके अशुद्धपना नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि कर्ता नहीं है ॥ ५२-९७ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
 द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
 ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
 नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥ ५३-९८ ॥

[हरिगीत]

करम में कर्ता नहीं है अर कर्म कर्ता मैं नहीं ।
 इसलिए कर्ताकर्म की थिति भी कभी बनती नहीं ॥
 कर्म में है कर्म ज्ञाता में रहा ज्ञाता सदा ।
 यदि साफ है यह बात तो फिर मोह है क्यों नाचता ? ॥ ९८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “कर्ता कर्मणि नियतं नास्ति” [कर्ता] मिथ्यात्व—रागादि अशुद्धपरिणामपरिणत जीव [कर्मणि] ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्डमें [नियतं] निश्चयसे [नास्ति] नहीं है अर्थात् इन दोनों में एकद्रव्यपना नहीं है। “तत् कर्म अपि कर्तरि नास्ति” [तत् कर्म अपि] वह भी ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्ड [कर्तरि] अशुद्ध भावपरिणत मिथ्यादृष्टि जीवमें [नास्ति] नहीं है अर्थात् इन दोनों में एकद्रव्यपना नहीं है। “यदि द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते तदा कर्तृकर्मस्थितिः का” [यदि] जो [द्वन्द्वं] जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यके एकत्वपनाका [विप्रतिषिध्यते] निषेध किया [तदा] तो [कर्तृकर्मस्थितिः का] ‘जीव कर्ता ज्ञानावरणादि कर्म’ ऐसी व्यवस्था कैसे घटती है? अपितु नहीं घटती है। “ज्ञाता ज्ञातरि” जीवद्रव्य अपने द्रव्यत्वसे एकत्वको लिए हुए है “सदा” सर्व ही काल ऐसा वस्तुका स्वरूप है। “कर्म कर्मणि” ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्ड अपने पुद्गलपिण्डरूप है। “इति वस्तुस्थितिः व्यक्ता” [इति] इस रूप [वस्तुस्थितिः] द्रव्यका स्वरूप [व्यक्ता] अनादिनिधनपने प्रगट है। “तथापि एषः मोहः नेपथ्ये बत कथं रभसा नानटीति” [तथापि] वस्तुका स्वरूप तो ऐसा है, जैसा कहा वैसा, फिर भी [एषः मोहः] यह है जो जीवद्रव्य—पुद्गलद्रव्यकी एकत्वरूप बुद्धि, वह [नेपथ्ये] मिथ्यामार्गमें, [बत] इस बातका अचंभा है कि [रभसा] निरन्तर [कथं नानटीति] क्यों प्रवर्तती है?— इस प्रकार बातका विचार क्यों है? भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य भिन्न भिन्न है, मिथ्यात्वरूप परिणमा हुआ जीव एकरूप जानता है इसका घना अचंभा है ॥ ५३-९८ ॥

आगे मिथ्यादृष्टि एकरूप जानो तथापि जीव—पुद्गल भिन्न भिन्न हैं ऐसा कहते हैं:—

[मंदाक्रान्ता]

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथौच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥ ५४-९९ ॥

[सवैया इकतीसा]

जगमग जगमग जली ज्ञानज्योति जब , अति गम्भीर चित्शक्तियों के भार से ।
अद्भुत अनूपम अचल अभेद ज्योति , व्यक्त धीर वीर निर्मल आर-पार से ॥
तब कर्म कर्म अर कर्ता कर्ता न रहा , ज्ञान ज्ञानरूप हुआ आनन्द अपार से ।
और पुद्गलमयी कर्म कर्मरूप हुआ , ज्ञानी पार हुए भवसागर अपार से ॥ ९९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एतत् ज्ञानज्योतिः तथा ज्वलितम् ” [एतत् ज्ञानज्योतिः] विद्यमान शुद्धचैतन्यप्रकाश [तथा ज्वलितम्] जैसा था वैसा प्रगट हुआ। कैसा है? “ अचलं ” स्वरूपथी चलायमान नहीं होता। और कैसा है? “ अन्तः व्यक्तम् ” असंख्यात प्रदेशोंमें प्रगट है। और कैसा है? “ उच्चैः अत्यन्तगम्भीरम् ” अत्यन्त अत्यन्त गंभीर है अर्थात् अनन्तसे अनन्त शक्ति बिराजमान है। किस कारण गंभीर है? “ चिच्छक्तीनां निकरभरतः ” [चित्-शक्तीनां] ज्ञानगुणके जितने निरंश भेद-भाग उनके [निकरभरतः] अनन्तानन्त समूह होते हैं, उनसे अत्यन्त गंभीर है। आगे ज्ञानगुणका प्रकाश होनेपर कैसे फलसिद्धि है वही कहते हैं — “ यथा कर्ता कर्ता न भवति ” [यथा] ज्ञानगुण ऐसा प्रगट हुआ। जैसे [कर्ता] अज्ञानपनाको लिए हुए जीव मिथ्यात्व परिणामका कर्ता होता था सो तो [कर्ता न भवति] ज्ञानप्रकाश होनेपर अज्ञानभावका कर्ता नहीं होता, “ कर्म अपि कर्म एव न ” [कर्म अपि] मिथ्यात्व—रागादिविभाव कर्म भी [कर्म एव न भवति] रागादिरूप नहीं होता । “ यथा च ” जैसे कि “ ज्ञानं ज्ञानं भवति ” जो शक्ति विभाव परिणमनरूप परिणमी थी वही फिर अपने स्वभावरूप हुई। “ यथा ” जिस प्रकार “ पुद्गलः अपि पुद्गलः ” [पुद्गलः अपि] ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमा था जो पुद्गल द्रव्य वही [पुद्गलः] कर्मपर्याय छोड़कर पुद्गल द्रव्य हुआ ॥ ५४-९९ ॥



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

[द्रुतविलंबित]

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो
द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं
स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १-१०० ॥

[हरिगीत]

शुभ अर अशुभ के भेद से जो दोपने को प्राप्त हो।
वह कर्म भी जिसके उदय से एकता को प्राप्त हो॥
जब मोह रज का नाश कर सम्यक् सहित वह स्वयं ही।
जग में उदय को प्राप्त हो वह सुधा निर्झर ज्ञान ही॥१००॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अयं अवबोधसुधाप्लवः स्वयम् उदेति” [अयं] विद्यमान [अवबोध] शुद्ध ज्ञानप्रकाश, वही है [सुधाप्लवः] चंद्रमा [स्वयम् उदेति] जैसा है वैसा अपने तेजःपुंजके द्वारा प्रगट होता है। कैसा है? “ग्लपितनिर्भरमोहरजा” [ग्लपित] दूर किया है [निर्भर] अतिशय सघन [मोहरजा] मिथ्यात्व-अंधकार जिसने, ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है — चन्द्रमाका उदय होनेपर अंधकार मिटता है, शुद्ध ज्ञानप्रकाश होनेपर मिथ्यात्वपरिणमन मिटता है। क्या करता हुआ ज्ञानचंद्रमा उदय करता है?— “अथ तत् कर्म ऐक्यं उपानयन्” [अथ] यहाँ से लेकर [तत् कर्म] रागादि अशुद्ध चेतना परिणामरूप अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गलपिंडरूप कर्म, इनका [ऐक्यम् उपानयन्] एकत्वपना साधता हुआ। कैसा है कर्म? “द्वितयतां गतम्” दोपना करता है। कैसा दोपना? “शुभाशुभभेदतः” [शुभ] भला [अशुभ] बुरा ऐसा [भेदतः] भेद करता है। भावार्थ इस प्रकार है — किसी मिथ्यादृष्टि जीवका अभिप्राय ऐसा है जो दया, व्रत, तप, शील, संयम आदिसे देहरूप लेकर जितनी है शुभक्रिया और शुभक्रियाके अनुसार है उसरूप जो शुभोपयोगपरिणाम तथा उन परिणामोंको निमित्तकर बाँधता है जो साता कर्म आदिसे लेकर पुण्यरूप पुद्गलपिण्ड, वे भले हैं, जीवको सुखकारी हैं। हिंसा विषय कषायरूप जितनी है क्रिया, उस क्रियाके अनुसार अशुभोपयोगरूप संक्लेशपरिणाम, उस परिणामके निमित्तसे होता है जो असाताकर्म आदिसे लेकर पापबंधरूप पुद्गलपिण्ड, वे बुरे हैं, जीवको दुःखकर्ता हैं। ऐसा कोई जीव मानता है। उसके प्रति समाधान ऐसा है कि जैसे अशुभकर्म जीवको दुःख करता है उसी प्रकार शुभकर्म भी जीवको दुःख करता है। कर्ममें तो भला कोई नहीं है। अपने मोहको लिये मिथ्यादृष्टि जीव कर्मको भला करके मानता है। ऐसी भेदप्रतीति शुद्ध स्वरूपका अनुभव हुआ तबसे पाई जाती है॥ १—

ऐसा जो कहा कि कर्म एकरूप है, उसके प्रति दृष्टान्त कहते हैं—

[मंदाक्रान्ता]

एको दूरात्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तथैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥ २-१०१ ॥

[रोला]

दोनों जन्मे एक साथ शूद्रा के घर में ।
एक पला बामन के घर दूजा निज घर में ॥
एक छुए ना मद्य ब्राह्मणत्वाभिमान से ।
दूजा डुबा रहे उसी में शूद्र भाव से ॥
जातिभेद के भ्रम से ही यह अन्तर आया ।
इस कारण अज्ञानी ने पहिचान न पाया ॥
पुण्य-पाप भी कर्म जाति के जुड़वा भाई ।
दोनों ही हैं हेय मुक्ति मारग में भाई ॥१०१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ द्वौ अपि एतौ साक्षात् शूद्रौ ’’ [द्वौ अपि] विद्यमान दोनों [एतौ] ऐसे हैं —[साक्षात्] निःसंदेहपने [शूद्रौ] दोनो चण्डाल हैं। कैसा होनेसे? ‘‘ शूद्रिकायाः उदरात् युगपत् निर्गतौ ’’ जिस कारणसे [शूद्रिकायाः उदरात्] चाण्डालीके पेटसे [युगपत् निर्गतौ] एक ही बार जन्मे हैं। भावार्थ इस प्रकार है —किसी चाण्डालीने युगल दो पुत्रोंको एक ही बार जन्मा। कर्मके योगसे एक पुत्र ब्राह्मणका प्रतिपाल हुआ सो तो ब्राह्मणकी क्रिया करने लगा। दूसरा पुत्र चाण्डालीका प्रतिपालित हुआ, सो तो चाण्डालकी क्रिया करने लगा। अब जो दोनोंके वंशनी उत्पत्ति विचारिये तो दोनों चाण्डाल हैं। उसी प्रकार कोई जीव दया, व्रत, शील, संयममें मग्न है, उनके शुभकर्म बंध भी होता है। कोई जीव हिंसा विषय कषायमें मग्न है, उनके पापबंध भी होता है। सो दोनों अपनी अपनी क्रियामें मग्न हैं। मिथ्यादृष्टिसे ऐसा मानते हैं कि शुभकर्म भला, अशुभकर्म बुरा। सो ऐसे दोनों जीव मिथ्यादृष्टि हैं, दोनों जीव कर्मबंधकरणशील हैं। कैसे हैं वे? ‘‘ अथ च जातिभेदभ्रमेण चरतः ’’ [अथ च] दोनों चाण्डाल हैं तो भी [जातिभेद] ब्राह्मण शूद्र ऐसा वर्णभेद उस रूप है [भ्रमेण] परमार्थशून्य अभिमानमात्र, उस रूपसे [चरतः] प्रवर्तते हैं। कैसा है जातिभेदभ्रम? ‘‘ एकः मदिरां दूरात् त्यजति ’’ [एकः] चाण्डालीके पेटसे उपजा है पर प्रतिपाल ब्राह्मणके घर हुआ है ऐसा जो है वह [मदिरां] सुरापानको [दूरात् त्यजति] अत्यंत त्याग करता है, छूता भी नहीं है, नाम भी नहीं लेता है ऐसा विरक्त है। किस कारण से? ‘‘ ब्राह्मणत्वाभिमानात् ’’ [ब्राह्मणत्व] ‘अहं ब्राह्मणः’ ऐसा संस्कार, उसका [अभिमानात्] पक्षपातसे। भावार्थ इस प्रकार है — शूद्रोंके पेटसे उपजा हूँ ऐसे मर्मको नहीं जानता है। ‘मैं ब्राह्मण, मेरे कुलमें मदिरा निषिद्ध है’ ऐसा जानकर मदिराको छोड़ा है, सो भी विचार करनेपर चाण्डाल है।

उसी प्रकार कोई जीव शुभोपयोगी होता हुआ यतिक्रियामें मग्न होता हुआ शुद्धोपयोगको नहीं जानता, केवल यतिक्रियामात्र मग्न है। वह जीव ऐसा मानता है कि 'मैं तो मुनीश्वर, हमको विषय—कषायसामग्री निषिद्ध है।' ऐसा जानकर विषय—कषायसामग्रीको छोड़ता है, आपको धन्यपना मानता है, मोक्षमार्ग मानता है। सो विचार करनेपर ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्मबन्धको करता है, कोई भलापन तो नहीं है। 'अन्यः तथा एव नित्यं स्नाति' [अन्यः] शूद्रके पेटसे उपजा है, शूद्रका प्रतिपाल हुआ है ऐसा जीव [तथा] मदिरासे [एव] अवश्य ही [नित्यं स्नाति] नित्य अति मग्न हो पीता है। क्या जानकर पीता है? 'स्वयं शूद्रः इति' 'मैं शूद्र, हमारे कुलमें मदिरा योग्य है, ऐसा जानकर। ऐसा जीव विचार करनेपर चाण्डाल है। भावार्थ इस प्रकार है —कोई मिथ्यादृष्टि जीव अशुभोपयोगी है, गृहस्थ क्रियामें रत है— हम गृहस्थ, मेरे विषय—कषाय क्रिया योग्य है ऐसा जानकर विषय—कषाय सेवता है। सो भी जीव मिथ्यादृष्टि है, कर्मबंध करता है, क्योंकि कर्मजनित पर्यायमात्रको आपरूप जानता है, जीवके शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं है॥ २-१०१॥

[उपजाति]

**हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः।
तद्वन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः॥ ३-१०२॥**

[रोला]

अरे पुण्य अर पाप कर्म का हेतु एक है।
आश्रय अनुभव अर स्वभाव भी सदा एक है॥
अतः कर्म को एक मानना ही अभीष्ट है।
भले-बुरे का भेद जानना ठीक नहीं है॥ १०२॥

खंडान्वय सहित अर्थः- यहाँ कोई मतान्तररूप होकर आशंका करता है — ऐसा कहता है कि कर्मभेद है — कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है। किस कारणसे? हेतुभेद है, स्वभावभेद है, अनुभवभेद है, आश्रय भिन्न है। इन चार भेदोंके कारण कर्मभेद है। वहाँ हेतु अर्थात् कारण भेद है। विवरण— संक्लेश परिणामसे अशुभकर्म बँधता है, विशुद्ध परिणामसे शुभबन्ध होता है। स्वभावभेद अर्थात् प्रकृतिभेद है। विवरण— अशुभ कर्मसम्बन्धी प्रकृति भिन्न है — पुद्गल कर्मवर्गणा भिन्न है; शुभकर्मसंबन्धी प्रकृति भिन्न है — पुद्गल कर्मवर्गणा भी भिन्न है। अनुभव अर्थात् कर्मका रस, सो भी रसभेद है। विवरण—अशुभकर्मके उदयमें जीव नारकी होता है अथवा तिर्यच होता है अथवा हीन मनुष्य होता है, वहाँ अनिष्ट विषयसंयोगरूप दुःखनको पाता है, अशुभ कर्मका स्वाद ऐसा है। शुभ कर्मके उदयमें जीव देव होता है अथवा उत्तम मनुष्य होता है, वहाँ इष्ट विषयसंयोगरूप सुखको पाता है, शुभकर्मका स्वाद ऐसा है। इसलिए स्वादभेद भी है। आश्रय अर्थात् फलकी निष्पत्ति ऐसा भी भेद है। विवरण— अशुभकर्मके उदयमें हीन पर्याय होती है, वहाँ अधिक संक्लेश होता है, उससे संसारकी परिपाटी होती है। शुभकर्मके उदयमें उत्तम पर्याय होती है। वहाँ धर्मकी सामग्री मिलती है, उस धर्मकी सामग्रीसे जीव मोक्षजाता है, इसलिए मोक्षकी परिपाटी शुभकर्म है। ऐसा कोई मिथ्यावादी मानता है।

उसके प्रति उत्तर ऐसा जो “**कर्मभेदः न हि**” कोई कर्म शुभरूप, कोई कर्म अशुभरूप— ऐसा भेद तो नहीं है। किस कारणसे? “**हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदा अपि अभेदात्**” [हेतु] कर्मबंधके कारण विशुद्ध परिणाम संक्लेश परिणाम ऐसे दोनों परिणाम अशुद्धरूप हैं, अज्ञानरूप हैं। इससे कारणभेद भी नहीं है, कारण एक ही है। [स्वभाव] शुभकर्म अशुभकर्म ऐसे दोनों कर्म पुद्गलपिण्डरूप हैं। इस कारण एक ही स्वभाव है, स्वभाव भेद तो नहीं। [अनुभव] रस भी तो एक ही है, रसभेद तो नहीं। विवरण— शुभकर्मके उदयसे जीव बँधा है, सुखी है। अशुभकर्मके उदयसे जीव बँधा है, दुःखी है। विशेष तो कुछ नहीं। [आश्रय] फलकी निष्पत्ति, वह भी एक ही है, विशेष तो कुछ नहीं। विवरण— शुभकर्मके उदय संसार, त्यों ही अशुभ कर्मके उदय संसार। विशेष तो कुछ नहीं। इससे ऐसा अर्थ निश्चित हुआ कि कोई कर्म भला, कोई कर्म बुरा ऐसा तो नहीं, सबही कर्म दुःखरूप हैं। “**तत् एकम् बन्धमार्गाश्रितम् इष्टं**” [तत्] कर्म [एकम्] निःसंदेह [बन्धमार्गाश्रितम्] बन्धको करता है, [इष्टं] गणधरदेवने ऐसा माना है। किस कारणसे? जिस कारण “**खलु समस्तं स्वयं बन्धहेतुः**” [खलु] निश्चयसे [समस्तं] सर्व कर्मजाति [स्वयं बन्धहेतुः] आप भी बंधरूप है। भावार्थ इस प्रकार है — आप मुक्तस्वरूप होवे तो कदाचित् मुक्तिको करे। कर्मजाति आप स्वयं बंध पर्यायरूप पुद्गलपिण्ड बँधी है सो मुक्ति कैसे करेगी। इससे कर्म सर्वथा बंधमार्ग है। ३-१०२।।

[स्वागता]

**कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद् बन्धसाधनमुशान्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ ४-१०३ ॥**

[दोहा]

**जिन वाणी का मर्म यह बंध करे सब कर्म ।
मुक्ति हेतु सब एक ही आत्म ज्ञानमय धर्म ॥ १०३ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “**यत् सर्वविदः सर्वम् अपि कर्म अविशेषात् बन्धसाधनम् उशान्ति**” [यत्] जिस कारण [सर्वविदः] सर्वज्ञ वीतराग, [सर्वम् अपि कर्म] जितनी शुभरूप व्रत संयम तप शील उपवास इत्यादि क्रिया अथवा विषय—कषाय असंयम इत्यादि क्रिया उसको [अविशेषात्] एकसी दृष्टिकर [बन्धसाधनम् उशान्ति] बन्धका कारण कहते हैं। भावार्थ इस प्रकार है —जैसे जीवको अशुभ क्रिया करते हुए बन्ध होता है वैसे ही शुभ क्रिया करते हुए जीवको बन्ध होता है, बंधनमें तो विशेष कुछ नहीं। “**तेन तत् सर्वम् अपि प्रतिषिद्धं**” [तेन] इस कारणसे [तत्] कर्म [सर्वम् अपि] शुभरूप अथवा अशुभरूप [प्रतिषिद्धं] कोई मिथ्यादृष्टि जीव शुभ क्रियाको मोक्षमार्ग जानकर पक्ष करता है सो निषेध किया, ऐसा भाव स्थापित किया कि मोक्षमार्ग कोई कर्म नहीं। “**एव ज्ञानम् शिवहेतुः विहितं**” [एव] निश्चयसे [ज्ञानम्] शुद्धस्वरूप—अनुभव [शिवहेतुः] मोक्षमार्ग है, [विहितं] अनादि परम्परा ऐसा उपदेश है। ४-१०३।।

[शिखरिणी]

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल
 प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
 तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं
 स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥ ५-१०४ ॥

[रोला]

सभी शुभाशुभभावों के निषेध होने से ।
 अशरण होंगे नहीं रमेंगे निज स्वभाव में ॥
 अरे मुनिश्वर तो निशदिन निज में ही रहते ।
 निजानन्द के परमामृत में ही नित रमते ॥१०४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई प्रश्न करता है कि शुभ क्रिया तथा अशुभ क्रिया सर्व निषिद्ध की, तो मुनीश्वर किसे अवलम्बते हैं? उसका ऐसा समाधान किया जाता है—“सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि निषिद्धे” [सर्वस्मिन्] आमूल चूल [सुकृत] व्रत संयम तपरूप क्रिया अथवा शुभोपयोगरूप परिणाम [दुरिते] विषय—कषायरूप क्रिया अथवा अशुभोपयोगरूप संक्लेश परिणाम, ऐसी [कर्मणि] करतूतिरूप [निषिद्धे] मोक्षमार्ग नहीं ऐसा मानते हुए “किल नैष्कर्म्ये प्रवृत्ते” [किल] निश्चयसे [नैष्कर्म्ये] सूक्ष्म स्थूलरूप अहतर्जल्प बहिर्जल्परूप समस्त विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प शुद्ध चैतन्यमात्र प्रकाशरूप वस्तु मोक्षमार्ग ऐसा [प्रवृत्ते] एकरूप ऐसा ही है ऐसा निश्चयसे ठहराते हुए “खलु मुनयः अशरणाः न सन्ति” [खलु] निश्चयसे [मुनयः] संसार शरीर भोगसे विरक्त होकर धरा है यतिपना जिन्होंने, वे [अशरणाः न सन्ति] अवलंबन बिना शून्यमन ऐसे तो नहीं हैं। तो कैसा है? “तदा हि एषां ज्ञानं स्वयं शरणं” [तदा] जिस कालमें ऐसी प्रतीति आती है कि अशुभ क्रिया मोक्षमार्ग नहीं, शुभ क्रिया भी मोक्षमार्ग नहीं, उस कालमें [हि] निश्चयसे [एषां] मुनीश्वरोंको [ज्ञानं स्वयं शरणं] शुद्धस्वरूपका अनुभव सहज ही आलम्बन है। कैसा है ज्ञान? “ज्ञाने प्रतिचरितम्” जो बाह्यरूप परिणमा था वही अपने शुद्धस्वरूप परिणमा है। शुद्ध स्वरूपका अनुभव होनेपर कुछ विशेष भी है, कहते हैं—“एते तत्र निरताः परमम् अमृतं विन्दन्ति” [एते] विद्यमान जो सम्यग्दृष्टि मुनीश्वर [तत्र] शुद्धस्वरूपके अनुभवमें [निरताः] मग्न हैं वे [परमम् अमृतं] सर्वोत्कृष्ट अतीन्द्रिय सुखको [विन्दन्ति] आस्वादते हैं। भावार्थ इस प्रकार है— शुभ अशुभ क्रियामें मग्न होता हुआ जीव विकल्पी है, इससे दुःखी है। क्रियासंस्कार छूटकर शुद्धस्वरूपका अनुभव होते ही जीव निर्विकल्प है, इससे सुखी है ॥ ५-१०४ ॥

[शिखरिणी]

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्वन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति तत्
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥ ६-१०५ ॥

[रोला]

ज्ञानरूप ध्रुव अचल आत्मा का ही अनुभव ।
मोक्षरूप है स्वयं अतः वह मोक्ष हेतु है ॥
शेष भाव सब बंधरूप है बंध हेतु है ।
इसीलिए तो अनुभव करने का विधान है ॥ १०५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यत् एतत् ज्ञानात्मा भवनम् ध्रुवम् अचलम् आभाति अयं शिवस्य हेतुः” [यत् एतत्] जो कोई [ज्ञानात्मा] चेतनालक्षण ऐसा [भवनम्] सत्त्वस्वरूप वस्तु [ध्रुवम् अचलम्] निश्चयसे स्थिर होकर [आभाति] प्रत्यक्षरूपसे स्वरूपका आस्वादक कहा है [अयं] यही [शिवस्य हेतुः] मोक्षका मार्ग है । किस कारणसे ? “यतः स्वयम् अपि तत् शिवः इति” [यतः] जिस कारण [स्वयम् अपि] अपने आप भी [तत् शिवः इति] मोक्षरूप है । भावार्थ इस प्रकार है — जीवका स्वरूप सदा कर्मसे मुक्त है । उसको अनुभवने पर मोक्ष होता है ऐसा घटता है, विरुद्ध तो नहीं । “अतः अन्यत् बन्धस्य हेतुः” [अतः] शुद्धस्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग है, इसके बिना [अन्यत्] जो कुछ है शुभ क्रियारूप अशुभ क्रियारूप अनेक प्रकार [बन्धस्य हेतुः] वह सब बन्धका मार्ग है । “यतः स्वयम् अपि बन्धः इति” [यतः] जिस कारण [स्वयम् अपि] अपने आप भी [बन्धः इति] सर्व ही बन्धरूप है । “ततः तत् ज्ञानात्मा स्वं भवनम् विहितं हि अनुभूतिः” [ततः] जिस कारण [तत्] पूर्वोक्त [ज्ञानात्मा] चेतनालक्षण, ऐसा है [स्वं भवनम्] अपना जीवका सत्त्व [विहितम्] मोक्षमार्ग है, [हि] निश्चयसे [अनुभूतिः] प्रत्यक्षपने आस्वाद किया होता हुआ ॥ ६-१०५ ॥

[अनुष्टुप]

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७-१०६ ॥

[दोहा]

ज्ञानभाव का परिणमन ज्ञानभावमय होय ।
एकद्रव्यस्वभाव यह हेतु मुक्ति का होय ॥ १०६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानस्वभावेन वृत्तं तत् तत् मोक्षहेतुः एव” [ज्ञान] शुद्ध वस्तुमात्र, उसकी [स्वभावेन] स्वरूपनिष्पत्ति, उससे जो [वृत्तं] स्वरूपाचरणचारित्र [तत् तत् मोक्षहेतुः] वही वही मोक्षमार्ग है । [एव] इस बातमें संदेह नहीं ।

भावार्थ इस प्रकार है — कोई जानेगा कि स्वरूपाचरणचारित्र ऐसा कहा जाता है जो आत्माके शुद्ध स्वरूपको विचारे अथवा चिन्तवे अथवा एकाग्ररूपसे मग्न होकर अनुभवे। सो ऐसा तो नहीं, उसके करनेपर बंध होता है, क्योंकि ऐसा तो स्वरूपाचरणचारित्र नहीं है। तो स्वरूपाचरणचारित्र कैसा है ? जिस प्रकार पत्रा [सुवर्ण पत्र] पकानेसे सुवर्णमेंकी कालिमा जाती है, सुवर्ण शुद्ध होता है, उसी प्रकार जीवद्रव्य के अनादिसे अशुद्ध चेतनारूप रागादि परिणमन था, वह जाता है, शुद्धस्वरूप मात्र शुद्धचेतनारूप जीवद्रव्य परिणमता है, उसका नाम स्वरूपाचरणचारित्र कहा जाता है, ऐसा मोक्षमार्ग है। कुछ विशेष— वह शुद्ध परिणमन जहाँ तक सर्वोत्कृष्ट होता है वहाँ तक शुद्धपनाके अनन्त भेद हैं। वे भेद जातिभेदकी अपेक्षा तो नहीं। बहुत शुद्धता, उससे बहुत, उससे बहुत ऐसा थोड़ा—बहुतरूप भेद है। भावार्थ इस प्रकार है जितनी शुद्धता होती है उतनी ही मोक्षका कारण है। जब सर्वथा शुद्धता होती है तब सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षपदकी प्राप्ति होती है। किस कारण ? “**सदा ज्ञानस्य भवने एकद्रव्यस्वभावत्वात्**” [सदा] तीनों कालों में ही [**ज्ञानस्य भवने**] ऐसा है जो शुद्धचेतनापरिणमनरूप स्वरूपाचरणचारित्र वह आत्मद्रव्यका निज स्वरूप है, शुभाशुभ क्रियाके समान उपाधिरूप नहीं है, इस कारण [**एकद्रव्यस्वभावत्वात्**] एक जीवद्रव्य स्वरूप है। भावार्थ इस प्रकार है — कि जो गुण-गुणीरूप भेद करते हैं तो ऐसा भेद होता है कि जीवका शुद्धपना गुण। जो वस्तुमात्र अनुभव करते हैं तो ऐसा भेद भी मिटता है, क्योंकि शुद्धपना तथा जीवद्रव्य वस्तु तो एक सत्ता है, ऐसा शुद्धपना मोक्षकारण है। इसके बिना जो कुछ करतूतिरूप है वह समस्त बंधका कारण है ॥ ७—१०६ ॥

[अनुष्टुप]

**वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८-१०७ ॥**

[दोहा]

**कर्मभाव का परिणमन ज्ञानरूप ना होय ।
द्रव्यान्तर स्वभाव यह इससे मुक्ति न होय ॥ १०७ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “**कर्मस्वभावेन वृत्तं ज्ञानस्य भवनं न हि**” [**कर्मस्वभावेन**] जितना शुभ क्रियारूप अथवा अशुभ क्रियारूप आचरणलक्षण चारित्र उसके स्वभावसे अर्थात् उसरूप जो [**वृत्तं**] चारित्र वह [**ज्ञानस्य**] शुद्ध चैतन्यवस्तुका [**भवनं**] शुद्ध स्वरूप परिणमन [**न हि**] नहीं होता ऐसा निश्चय है। भावार्थ इस प्रकार है — जितना शुभ-अशुभ क्रियारूप आचरण अथवा बाह्यरूप वक्तव्य अथवा सूक्ष्म अंतरंगरूप चिंतवन, अभिलाष, स्मरण इत्यादि समस्त अशुद्धत्वरूप परिणमन हैं, शुद्ध परिणमन नहीं, इसलिए बंधका कारण है, मोक्षका कारण नहीं है। इस कारण जिस प्रकार कामलाका नाहर [सिंह] ‘कहनेके लिए नाहर है उसी प्रकार आचरणरूप [क्रियारूप] चारित्र ‘कहनेके लिए चारित्र’ है, परंतु चारित्र नहीं है। निःसंदेहरूपसे ऐसा जानो। “**तत् कर्म मोक्षहेतुः न**” [**तत्**] इस कारण [**कर्म**] बाह्य-अभ्यंतररूप सूक्ष्म-स्थूलरूप जितना आचरणरूप [चारित्र] है वह [**मोक्षहेतुः न**] कर्मक्षयका कारण नहीं, बंधका कारण है।

किस कारण से? “द्रव्यान्तरस्वभावत्वात्” [द्रव्यान्तर] आत्मद्रव्यसे भिन्न पुद्गलद्रव्य, उसके [स्वभावत्वात्] स्वभावरूप होनेसे अर्थात् यह सब पुद्गलद्रव्यके उदयका कार्य है, जीवका स्वरूप नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है — शुभ—अशुभ क्रिया, सूक्ष्म—स्थूल अंतर्जल्प—बहिर्जल्परूप जितना विकल्परूप आचरण है वह सब कर्मका उदयरूप परिणमन है, जीवका शुद्ध परिणमन नहीं है, इसलिए समस्त ही आचरण मोक्षका कारण नहीं है, बंधका कारण है॥ ८—१०७॥

[अनुष्टुप]

मोक्षहेतुतिरोधानाद्धन्धत्वात्स्वयमेव च ।

मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ ९-१०८ ॥

[दोहा]

बंधस्वरूपी कर्म यह शिवमग रोकन हार ।

इसी लिए आध्यात्म में है निषिद्ध शतवार ॥१०८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई जानेगा कि शुभ—अशुभ क्रियारूप जो आचरणरूप चारित्र है सो करने योग्य नहीं है उसी प्रकार वर्जन करने योग्य भी नहीं है? उत्तर इस प्रकार है — वर्जन करने योग्य है। कारण कि व्यवहारचारित्र होता हुआ दुष्ट है, अनिष्ट है, घातक है, इसलिए विषय—कषायके समान क्रियारूप चारित्र निषिद्ध है ऐसा कहते हैं — “तत् निषिध्यते” [तत्] शुभ—अशुभरूप करतूति [कृत्य] [निषिध्यते] तजनीय है। कैसा होनेसे निषिद्ध है? “मोक्षहेतुतिरोधानात्” [मोक्ष] निष्कर्म अवस्था, उसका [हेतु] कारण है जीवका शुद्धरूप परिणमन उसका [तिरोधानात्] घातक ऐसा है। इसलिए करतूति निषिद्ध है। और कैसा होनेसे? “स्वयम् एव बन्धत्वात्” अपने आप ही बंधरूप है। भावार्थ इस प्रकार है — जितना शुभ—अशुभ आचरण है वह सब कर्मके उदयके कारण अशुद्धरूप है, इसलिए त्याज्य है, उपादेय नहीं है। और कैसा होनेसे? “मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्” [मोक्ष] सकल कर्मक्षयलक्षण परमात्मपद, उसका [हेतु] जीवका गुण जो शुद्ध चेतनारूप परिणमन उसका [तिरोधायि] घातनशील ऐसा है [भावत्वात्] सहज लक्षण जिसका, ऐसा है इसलिए कर्म निषिद्ध है। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार पानी स्वरूपसे निर्मल है, कीचड़के संयोगसे मैला होता है— पानीका शुद्धपना घाता जाता है उसी प्रकार जीवद्रव्य स्वभावसे स्वच्छ स्वरूप है — केवलज्ञान—दर्शन—सुख—वीर्यरूप है। वह स्वच्छपना विभावरूप अशुद्ध चेतनालक्षण मिथ्यात्व विषय—कषायरूप परिणामके कारण मिटा है। अशुद्ध परिणामका ऐसा ही स्वभाव है जो शुद्धपनाको मेटे, इसलिए समस्त कर्म निषिद्ध है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई जीव क्रियारूप यतिपना पाते हैं, उस यतिपनेमें मग्न होते हैं— जो हमने मोक्षमार्ग पाया, जो कुछ करना था सो किया, सो उन जीवों को समझाते हैं कि यतिपनाका भरोसा छोड़कर शुद्ध चैतन्यस्वरूपको अनुभवो॥ ९—१०८॥

[शार्दूलविक्रीडित]

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना
 संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
 सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्-
 नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०-१०९ ॥

[हरिगीत]

त्याज्य ही है जब मुमुक्षु के लिए सब कर्म ये ।
 तब पुण्य एवं पाप की यह बात करनी किसलिए ॥
 निज आत्मा के लक्ष्य से जब परिणमन होजायगा ।
 निष्कर्म में ही रस जगे तब ज्ञान दौड़ा आयगा ॥ १०९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “मोक्षार्थिना तत् इदं समस्तम् अपि कर्म संन्यस्तव्यम्” [मोक्षार्थिना] सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष—अतीन्द्रिय पद, उसमें जो अनंत सुख उसको उपादेय अनुभवता है ऐसा है जो कोई जीव उसके द्वारा [तत् इदं] वही कर्म जो पहले ही कहा था [समस्तम् अपि] जितना शुभक्रियारूप—अशुभक्रियारूप अंतर्जल्परूप—बहिर्जल्परूप इत्यादि करतूतिरूप [कर्म] क्रिया अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गलका पिण्ड, अशुद्ध रागादिरूप जीवके परिणाम, ऐसा कर्म [संन्यस्तव्यम्] जीवस्वरूपका घातक है ऐसा जानकर आमूलचूल त्याज्य है। “तत्र संन्यस्ते सति” उस समस्त ही कर्मका त्याग होनेपर “पुण्यस्य वा पापस्य वा का कथा” पुण्यका पापका कौन भेद रहा? भावार्थ इस प्रकार है — समस्त कर्मजाति हेय है, पुण्य—पापके विवरणकी क्या बात रही। “किल” ऐसी बात निश्चयसे जानो, पुण्यकर्म भला ऐसी भ्रान्ति मत करो। “ज्ञानं मोक्षस्य हेतुः भवन् स्वयं धावति” [ज्ञानं] आत्माका शुद्धचेतनारूप परिणमन [मोक्षस्य] सकल कर्मक्षयलक्षण ऐसी अवस्थाका [हेतुः भवन्] कारण होता हुआ [स्वयं धावति] स्वयं दोड़ता है ऐसा सहज है। भावार्थ इस प्रकार है — जैसे सूर्यका प्रकाश होनेपर सहज ही अंधकार मिटता है वैसे ही जीवके शुद्धचेतनारूप परिणमनेपर सहज ही समस्त विकल्प मिटते हैं, ज्ञानावरणादि कर्म अकर्मरूप परिणमते हैं, रागादि अशुद्ध परिणाम मिटता है। कैसा है ज्ञान? “नैष्कर्म्यप्रतिबद्धम्” निर्विकल्पस्वरूप है। और कैसा है? “उद्धतरसं” प्रगटरूपसे चैतन्यस्वरूप है। कैसा होनेसे मोक्षका कारण होता है? “सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनात्” [सम्यक्त्व] जीवका गुण सम्यग्दर्शन [आदि] सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ऐसे हैं जो [निजस्वभाव] जीवके क्षायिक गुण उनके [भवनात्] प्रगटपनेके कारण। भावार्थ इस प्रकार है — कोई आशंका करेगा कि मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन का मिला हुआ है, यहाँ ज्ञानमात्र मोक्षमार्ग कहा सो क्यों कहा? उसका समाधान ऐसा है — शुद्धस्वरूप ज्ञानमें सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र सहज ही गर्भित है, इसलिए दोष तो कुछ नहीं, गुण है ॥ १०-१०९ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिज्ञानस्य सम्यक् न सा
 कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः।
 किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
 मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ ११-११० ॥

[हरिगीत]

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो।
 हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो॥
 अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय।
 मुक्तिमारग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय॥११०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई भ्रान्ति करेगा कि जो मिथ्यादृष्टिका यतिपना क्रियारूप है, सो बंधका कारण है, सम्यग्दृष्टिका है जो यतिपना शुभक्रियारूप, सो मोक्षका कारण है। कारण कि अनुभव ज्ञान तथा दया व्रत तप संयमरूप क्रिया दोनों मिलकर ज्ञानावरणादि कर्मका क्षय करते हैं। ऐसी प्रतीति कितने ही अज्ञानी जीव करते हैं। वहाँ समाधान ऐसा — जितनी शुभ अशुभ क्रिया, बहिर्जल्परूप विकल्प अथवा अंतर्जल्परूप अथवा द्रव्योंका विचाररूप अथवा शुद्धस्वरूपका विचार इत्यादि समस्त कर्मबंधका कारण है। ऐसी क्रियाका ऐसा ही स्वभाव है। सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिका ऐसा भेद तो कुछ नहीं। ऐसी करतूतिसे ऐसा बंध है। शुद्ध स्वरूप परिणमनमात्रसे मोक्ष है। यद्यपि एक ही कालमें सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध ज्ञान भी है, क्रियारूप परिणाम भी है। तथापि क्रियारूप है जो परिणाम उससे अकेला बंध होता है, कर्मका क्षय एक अंशमात्र भी नहीं होता है। ऐसा वस्तुका स्वरूप, सहारा किसका? उसी समय शुद्धस्वरूप अनुभव ज्ञान भी है। उसी समय ज्ञानसे कर्मक्षय होता है, एक अंशमात्र भी बंध नहीं होता है। वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है। ऐसा जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं—“**तावत्कर्मज्ञानसमुच्चयः अपि विहितः**” [तावत्] तब तक [कर्म] क्रियारूप परिणाम [ज्ञान] आत्मद्रव्यका शुद्धत्वरूप परिणमन, उनका [समुच्चयः] एक जीवमें एक ही काल अस्तित्वपना है। [अपि विहितः] ऐसा भी है। परंतु एक विशेष “**काचित् क्षतिः न**” [काचित्] कोई भी [क्षतिः] हानि [न] नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है — एक जीवमें एक ही काल ज्ञान, क्रिया दोनों कैसे होते हैं? समाधान ऐसा — विरुद्ध तो कुछ नहीं। कितने ही काल तक दोनों होते हैं ऐसा ही वस्तुका परिणाम है। परंतु विरोधी के समान दिखता है। परन्तु अपने अपने स्वरूप है, विरोध तो नहीं करता है। उतने काल तक जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं—“**यावत् ज्ञानस्य सा कर्मविरतिः सम्यक् पाकं न उपैति**” [यावत्] जितने काल [ज्ञानस्य] आत्माका मिथ्यात्वरूप विभाव परिणाम मिटा है, आत्मद्रव्य शुद्ध हुआ है उसकी [सा] पूर्वोक्त [कर्म] क्रिया, उसका [विरतिः] त्याग [सम्यक् पाकं न उपैति] बराबर परिपक्वताको नहीं पाता है अर्थात् क्रियाका मूलसे विनाश नहीं हुआ है। भावार्थ इस प्रकार है — जब तक अशुद्ध परिणमन है तब तक जीवका विभाव परिणमनरूप है। उस विभाव परिणमनका अंतरंग निमित्त है, बहिरंग निमित्त है।

विवरण— अंतरंग निमित्त जीवकी विभावरूप परिणमन शक्ति, बहिरंग निमित्त मोहनीय कर्मरूप परिणमा है पुद्गल पिण्डका उदय। सो मोहनीयकर्म दो प्रकारका है — एक मिथ्यात्वरूप है, दूसरा चारित्रमोहरूप है। जीवका विभाव परिणाम भी दो प्रकारका है — जीवका एक सम्यक्त्वगुण है वही विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है। उसके प्रति बहिरंग निमित्त मिथ्यात्वरूप परिणमा है पुद्गलपिण्डका उदय। जीवका एक चारित्रगुण है, वह विभावरूप परिणमता हुआ विषय कषायलक्षण चारित्रमोहरूप परिणमा है। उसके प्रति बहिरंग निमित्त है चारित्रमोहरूप परिणमा पुद्गलपिण्डका उदय। विशेष ऐसा — उपशमका क्षपणका क्रम इस प्रकार है, पहले मिथ्यात्वकर्मका उपशम होता है अथवा क्षपण होता है। उसके बाद चारित्रमोहका उपशम होता है अथवा क्षपण होता है। इसलिए समाधान ऐसा — किसी आसन्नभव्य जीवके काललब्धि प्राप्त होनेसे मिथ्यात्वरूप पुद्गलपिण्ड कर्म उपशमता है अथवा क्षपण होता है। ऐसा होनेपर जीव सम्यक्त्वगुणरूप परिणमता है, वह परिणमन शुद्धतारूप है। वही जीव जब तक क्षपकश्रेणी पर चढ़ेगा तब तक चारित्रमोह कर्मका उदय है। उस उदय के रहते हुए जीव भी विषयकषायरूप परिणमता है। वह परिणमन रागरूप है, अशुद्धरूप है। इस कारण किसी कालमें जीवका शुद्धपना अशुद्धपना एक ही समय घटता है, विरुद्ध नहीं। “किन्तु” कुछ विशेष है, वह विशेष जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं— “अत्र अपि” एक ही जीवके एक ही काल शुद्धपना अशुद्धपना यद्यपि होता है तथापि अपना अपना कार्य करते हैं। “यत् कर्म अवशतः बन्धाय समुल्लसति” [यत्] जितनी [कर्म] द्रव्यरूप भावरूप अतर्जल्प—बहिर्जल्परूप सूक्ष्म—स्थूलरूप क्रिया [अवशतः] सम्यग्दृष्टि पुरुष सर्वथा क्रियासे विरक्त है पर चारित्रमोह कर्मके उदय में बलात्कार होती है ऐसी [बन्धाय समुल्लसति] जितनी क्रिया है उतनी ज्ञानावरणादि कर्मबंध करती है, संवर निर्जरा अंशमात्र भी नहीं करती है। “तत् एकम् ज्ञानं मोक्षाय स्थितम्” [तत्] पूर्वोक्त [एकम् ज्ञानं] एक शुद्ध चैतन्यप्रकाश [मोक्षाय स्थितम्] ज्ञानावरणादि कर्मक्षयका निमित्त है। भावार्थ इस प्रकार है — एक जीवमें शुद्धपना अशुद्धपना एक ही काल होता है, परंतु जितना अंश शुद्धपना है उतना अंश कर्म—क्षपण है, जितना अंश अशुद्धपना है उतना अंश कर्मबंध होता है। एक ही काल दोनों कार्य होते हैं। “एव” ऐसा ही है, संदेह करना नहीं। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “परमं” सर्वोत्कृष्ट है—पूज्य है। और कैसा है? “स्वतः विमुक्तं” तीनों कालोंमें समस्त परद्रव्योंसे भिन्न है॥ ११—११०॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यन्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥ १२-१११ ॥**

[हरिगीत]

**कर्मनय के पक्षपाती ज्ञान से अनभिज्ञ हों।
ज्ञाननय के पक्षपाती आलसी स्वच्छन्द हों॥
जो ज्ञानमय हो परिणमित परमाद के वश में न हों।
कर्म विरहित जीव वे संसार-सागर पार हों ॥१११॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ कर्मनयावलम्बनपराः मग्नाः ” [कर्म] अनेक प्रकार की क्रिया ,
ऐसा है [नय] पक्षपात , उसका [अवलम्बन] क्रिया मोक्षमार्ग है ऐसा जानकर क्रियाका प्रतिपाल ,
उसमें [पराः] तत्पर है जो कोई अज्ञानी जीव वे भी [मग्नाः] धारमें डूबे हैं। भावार्थ इस प्रकार है
— संसारमें रुलेगा , मोक्षका अधिकारी नहीं है। किस कारणसे डूबे है ? “ यत् ज्ञानं न जानन्ति ”
[यत्] जिस कारण [ज्ञानं] शुद्ध चैतन्य वस्तुका [न जानन्ति] प्रत्यक्षरूपसे आस्वाद करने को
समर्थ नहीं है। क्रियामात्र मोक्षमार्ग ऐसा जानकर क्रिया करनेको तत्पर हैं। “ ज्ञाननयैषिणः अपि
मग्नाः ” [ज्ञान] शुद्ध चैतन्यप्रकाश , उसका [नय] पक्षपात , उसके [एषिणः] अभिलाषी हैं। भावार्थ
इस प्रकार है — शुद्ध स्वरूपका अनुभव तो नहीं है , परंतु पक्षमात्र बोलते हैं। [अपि] ऐसे भी जीव
[मग्नाः] संसारमें डूबे ही हैं। कैसे होकर डूबे ही हैं ? “ यत् अतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ” [यत्]
जिस कारण [अतिस्वच्छन्द] अति ही स्वेच्छाचारपना , ऐसा है [मन्दोद्यमाः] शुद्ध चैतन्यस्वरूपका
विचारमात्र भी नहीं करते हैं। ऐसे जो कोई हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना। यहाँ कोई आशंका करता है
कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग ऐसी प्रतीति करनेपर मिथ्यादृष्टिपना क्यों होता है ? समाधान
इस प्रकार है — वस्तुका स्वरूप इस प्रकार है कि जिस काल शुद्ध स्वरूपका अनुभव है उस काल
अशुद्धतारूप है जितनी भाव—द्रव्यरूप क्रिया उतनी सहज ही मिटती है। मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता
है कि जितनी क्रिया जैसी है वैसी ही रहती है , शुद्धस्वरूप अनुभव मोक्षमार्ग है। सो वस्तुका
स्वरूप ऐसा तो नहीं है। इससे जो ऐसा मानता है वह जीव मिथ्यादृष्टि है , वचनमात्रसे कहता है
कि शुद्धस्वरूप—अनुभव मोक्षमार्ग है। ऐसा कहनेसे कार्यसिद्धि तो कुछ नहीं है। “ ते विश्वस्य उपरि
तरन्ति ” [ते] ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि हैं जो कोई , वे [विश्वस्य उपरि] कहे हैं जो दोनों जातिके
जीव उन दोनोंके ऊपर होकर [तरन्ति] सकल कर्मोंका क्षय कर मोक्षपदको प्राप्त होते हैं। कैसे हैं
वे ? “ ये सततं स्वयं ज्ञानं भवन्तः कर्म न कुर्वन्ति , प्रमादस्य वशं जातु न यान्ति ” [ये] जो कोई
निकट संसारी सम्यग्दृष्टि जीव [सततं] निरन्तर [स्वयं ज्ञानं] शुद्ध ज्ञानस्वरूप [भवन्तः]
परिणमते हैं , [कर्म न कुर्वन्ति] अनेक प्रकारकी क्रियाको मोक्षमार्ग जानकर नहीं करते हैं।

भावार्थ इस प्रकार है— जिस प्रकार कर्मके उदयमें शरीर विद्यमान है पर हेयरूप जानते हैं उसी प्रकार अनेक प्रकारकी क्रियायें विद्यमान हैं पर हेयरूप जानते हैं। [प्रमादस्य वशं जातु न यान्ति] क्रिया तो कुछ नहीं ऐसा जानकर विषयी असंयमी भी कदाचित् नहीं होते, क्यों कि असंयमका कारण तीव्र संक्लेश परिणाम हैं सो तो संक्लेश मूल ही से गया है। ऐसे जो सम्यग्दृष्टि जीव वे जीव तत्काल मात्र मोक्षपदको पाते हैं॥ १२-१११॥

[मन्दाक्रान्ता]

**भेदोन्मादं भ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जुजृम्भे भरेण ॥ १३-११२ ॥**

[हरिगीत]

जग शुभ अशुभ में भेद माने मोह मदिरा पान से ।
पर भेद इनमें है नहीं जाना है सम्यक ज्ञान से ॥
यह ज्ञान ज्योति तम विरोधी खेले केवलज्ञान से ।
जयवंत हो इस जगत में जगमगे आतमज्ञान से ॥११२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानज्योतिः भरेण प्रोज्जुजृम्भे” [ज्ञानज्योतिः] शुद्ध स्वरूपका प्रकाश [भरेण] अपनी संपूर्ण सामर्थ्यके द्वारा [प्रोज्जुजृम्भे] प्रगट हुआ। कैसा है? “हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धम् आरब्धकेलि” [हेला] सहजरूपसे [उन्मीलत्] प्रगट हुए [परमकलया] निरंतरपने अतीन्द्रिय सुखप्रवाहके [सार्धम्] साथ [आरब्धकेलि] प्राप्त किया है परिणमन जिसने, ऐसा है। और कैसा है? “कवलिततमः” [कवलित] दूर किया है [तमः] मिथ्यात्व अंधकार जिसने, ऐसा है। ऐसा जिस प्रकार हुआ है उस प्रकार कहते हैं—“तत्कर्म सकलम् अपि बलेन मूलोन्मूलं कृत्वा” [तत्] कही है अनेक प्रकार [कर्म] भावरूप अथवा द्रव्यरूप क्रिया [सकलम् अपि] पापरूप अथवा पुण्यरूप [बलेन] बलजोरीसे [मूलोन्मूलं कृत्वा] जितनी क्रिया है वह सब मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान समस्त क्रियामें ममत्वका त्याग कर शुद्ध ज्ञान मोक्षमार्ग है ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ। कैसा है कर्म? “भेदोन्मादं” [भेद] शुभ क्रिया मोक्षमार्ग ऐसा पक्षपातरूप विहरा [अन्तर] उससे [उन्मादं] हुआ है गहिलपना जिसमें, ऐसा है। और कैसा है? “पीतमोहं” [पीत] निगला है [मोहं] विपरीतपना जिसने, ऐसा है। जैसे कोई धतूरा का पानकर गहिल होता है ऐसा है जो पुण्यकर्मको भला मानता है। और कैसा है? “भ्रमरसभरात् नाटयत्” [भ्रम] धोखा, उसका [रस] अमल, उसका [भरात्] अत्यन्त चढ़ना, उससे [नाटयत्] नाचता है।

भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार कोई धतूरा पीकर सुध जानेपर नाचता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वकर्मके उदयमें शुद्धस्वरूपके अनुभवसे भ्रष्ट है। शुभ कर्मके उदयसे जो देव आदि पदवी, उसमें रंजायमान होता है कि मैं देव, मेरे ऐसी विभूति, सो तो पुण्यकर्मके उदयसे; ऐसा मानकर बार—बार रंजायमान होता है॥ १३—११२॥



जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ १-११३ ॥

वह धीर है गम्भीर है हम रमें नित उस ज्ञान में ॥११३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अथ अयम् दुर्जयबोधधनुर्धरः आस्रवम् जयति” [अथ] यहाँ से लेकर [अयम् दुर्जय] यह अखंडित प्रताप, ऐसा [बोध] शुद्धस्वरूप—अनुभव, ऐसा है [धनुर्धरः] महायोद्धा, वह [आस्रवम्] अशुद्ध रागादि परिणामलक्षण आस्रव, उसको [जयति] मेटता है। भावार्थ इस प्रकार है — यहाँ से लेकर आस्रवका स्वरूप कहते हैं। कैसा है ज्ञान योद्धा? “उदार-गभीर-महोदयः” [उदार] शाश्वत ऐसा है [गभीर] अनन्त शक्ति विराजमान, ऐसा है [महोदयः] स्वरूप जिसका, ऐसा है। कैसा है आस्रव? “महामदनिर्भरमन्थरं” [महामद] समस्त संसारी जीवराशि आस्रवके आधीन है, उससे हुआ है गर्व—अभिमान, उससे [निर्भर] मग्न हुआ है [मन्थरं] मतवालाकी भाँति, ऐसा है। “समररङ्गपरागतम्” [समर] संग्राम ऐसी ही [रङ्ग] भूमि, उसमें [परागतम्] सन्मुख आया है। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार प्रकाश अंधकार का परस्पर विरोध है उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान आस्रव का परस्पर विरोध है॥ १-११३॥

[शालिनी]

भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो
जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान् द्रव्यकर्मास्रवौघान्
एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥ २-११४ ॥

[हरिगीत]

इन द्रव्य कर्मोंके पहाड़ों के निरोधक भाव जो ।
हैं राग-द्वेष-विमोह बिन सदज्ञान निर्मित भाव जो ॥
भावास्रवों से रहित वे इस जीव के निज भाव हैं ।
वे ज्ञानमय शुद्धात्ममय निज आत्मा के भाव हैं ॥११४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ जीवस्य यः भावः ज्ञाननिर्वृत्तः एव स्यात् ” [जीवस्य] काललब्धि प्राप्त होनेसे प्रगट हुआ है सम्यक्त्वगुण जिसका ऐसा है जो कोई जीव, उसका [यः भावः] जो कोई सम्यक्त्वपूर्वक शुद्धस्वरूप—अनुभवरूप परिणाम। ऐसा परिणाम कैसा होता है? [ज्ञाननिर्वृत्तः एव स्यात्] शुद्ध ज्ञानचेतनामात्र है। उस कारणसे “ एषः ” ऐसा है जो शुद्ध चेतनामात्र परिणाम, वह “ सर्वभावास्रवाणाम् अभावः ” [सर्व] असंख्यात लोकमात्र जितने [भाव] अशुद्ध चेतनारूप राग, द्वेष, मोह आदि जीवके विभाव परिणाम होते हैं जो [आस्रवाणाम्] ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मके आगमनको निमित्तमात्र हैं उनके [अभावः] मूलोन्मूल विनाश है। भावार्थ इस प्रकार है — जिस काल शुद्ध चैतन्यवस्तुकी प्राप्ति होती है उस काल मिथ्यात्व राग—द्वेषरूप जीवका विभाव परिणाम मिटता है, इसलिए एक ही काल है, समयका अन्तर नहीं है। कैसा है शुद्ध भाव? “ राग-द्वेष-मोहैः विना ” रागादि परिणाम रहित है। शुद्ध चेतनामात्र भाव है। और कैसा है? “ द्रव्यकर्मास्रवौघान् सर्वान् रुन्धन् ” [द्रव्यकर्म] ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायरूप परिणाम है पुद्गलपिण्ड, उसका [आस्रव] होता है धाराप्रवाहरूप समय—समय आत्मप्रदेशोंके साथ एकक्षेत्रावगाह, उसका [ओघान्] समूह। भावार्थ इस प्रकार है — ज्ञानावरणादिरूप कर्मवर्गणा परिणमती है, उसके भेद असंख्यात लोकमात्र हैं। उसके [सर्वान्] जितने धारारूप आते हैं कर्म उन सबको [रुन्धन्] रोकता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — जो कोई ऐसा मानेगा कि जीवका शुद्ध भाव होता हुआ रागादि अशुद्ध परिणामका नाश करता है, आस्रव जैसा ही होता है वैसा ही होता है सो ऐसा तो नहीं, जैसा कहते हैं वैसा है — जीवके शुद्ध भावरूप परिणमनेपर अवश्य ही अशुद्ध भाव मिटता है। अशुद्ध भावके मिटनेपर अवश्य ही द्रव्यकर्मरूप आस्रव मिटता है, इसलिए शुद्ध भाव उपादेय है, अन्य समस्त विकल्प हेय है ॥ २-११४ ॥

[उपजाति]

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो**द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।****ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो****निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥ ३-११५ ॥**

[दोहा]

द्रव्यास्रवसे भिन्न है भावास्रव को नाश ।**सदा ज्ञानमय निरास्रव ज्ञायकभाव प्रकाश ॥११५॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अयं ज्ञानी निरास्रवः एव” [अयं] द्रव्यरूप विद्यमान है वह [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [निरास्रवः एव] आस्रवसे रहित है। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीवोंको नौंध कर [समझ पूर्वक] विचारनेपर आस्रव घटता नहीं। कैसा है ज्ञानी? “एकः” रागादि अशुद्ध परिणामसे रहित है, शुद्धस्वरूप परिणाम है। और कैसा है? “ज्ञायकः” स्वद्रव्यस्वरूप—परद्रव्यस्वरूप समस्त ज्ञेय वस्तुओंको जानने के लिए समर्थ है। भावार्थ इस प्रकार है — ज्ञायकमात्र है, रागादि अशुद्धरूप नहीं है। और कैसा है? “सदा ज्ञानमयैकभावः” [सदा] सर्व काल धाराप्रवाहरूप [ज्ञानमय] चेतनरूप ऐसा है [एकभावः] एकपरिणाम जिसका, ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है — जितने विकल्प हैं वे सब मिथ्या। ज्ञानमात्र वस्तुका स्वरूप था सो अविनश्वर रहा। निरास्रवपना सम्यग्दृष्टि जीवको जिस प्रकार घटता है उस प्रकार कहते हैं—“भावास्रवाभावं प्रपन्नः” [भावास्रव] मिथ्यात्व राग द्वेषरूप अशुद्ध चेतनापरिणाम, उसका [अभावं] विनाश, उसको [प्रपन्नः] प्राप्त हुआ है। भावार्थ इस प्रकार है — अनंत कालसे लेकर जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ मिथ्यात्व, राग, द्वेषरूप परिणामता था, उसका नाम आस्रव है। सो तो काललब्धि प्राप्त होनेपर वही जीव सम्यक्त्वपर्यायरूप परिणाम, शुद्धतारूप परिणाम, अशुद्ध परिणाम मिटा, इसलिए भावास्रवसे तो इस प्रकार रहित हुआ। “द्रव्यास्रवेभ्यः स्वतः एव भिन्नः” [द्रव्यास्रवेभ्यः] ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायरूप जीवके प्रदेशोंमें बेटे हैं पुद्गलपिण्ड, उनसे [स्वतः] स्वभावसे [भिन्नः एव] सर्व काल निराला ही है। भावार्थ इस प्रकार है — आस्रव दो प्रकारका है। विवरण— एक द्रव्यास्रव है, एक भावास्रव है। द्रव्यास्रव कहने पर कर्मरूप बेटे हैं आत्माके प्रदेशोंमें पुद्गलपिण्ड, ऐसे द्रव्यास्रवसे जीव स्वभावही से रहित है। यद्यपि जीवके प्रदेश कर्म—पुद्गलपिण्डके प्रदेश एक ही क्षेत्रमें रहते हैं तथापि परस्पर एकद्रव्यरूप नहीं होते हैं, अपने अपने द्रव्य गुण पर्यायरूप रहते हैं। इसलिए पुद्गलपिण्डसे जीव भिन्न हैं। भावास्रव कहने पर मोह राग द्वेषरूप विभाव अशुद्ध चेतनपरिणाम सो ऐसा परिणाम यद्यपि जीवके मिथ्यादृष्टि अवस्थामें विद्यमान ही था तथापि सम्यक्त्वरूप परिणामनेपर अशुद्ध परिणाम मिटा। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव भावास्रवसे रहित है। इससे ऐसा अर्थ नीपजा कि सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है ॥ ३-११५ ॥

और सम्यग्दृष्टि जीव जिस प्रकार निरास्रव है उस प्रकार कहते हैं—

[शार्दूलविक्रीडित]

सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं
वारंवारम्बुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिन्दन् परवृत्तिमेव सकलां ज्ञानस्य पूर्णो भवन्
आत्मा नित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥ ४-११६ ॥

[कुण्डलिया]

स्वयं सहज परिणाम से करदीना परित्याग।
सम्यग्ज्ञानी जीव ने बुद्धिपूर्वक राग॥
बुद्धिपूर्वक राग त्याग दीना है जिसने।
और अबुद्धिक राग त्याग करने को जिसने॥
निजशक्तिस्पर्श प्राप्त कर पूर्ण भाव को।
रहे निरास्रव सदा उखाड़े परपरिणति को॥११६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ आत्मा यदा ज्ञानी स्यात् तदा नित्यनिरास्रवः भवति ’’ [आत्मा] जीवद्रव्य [यदा] जिसी काल, [ज्ञानी स्यात्] अनन्त कालसे विभाव मिथ्यात्वभावरूप परिणाम था सो निकट सामग्री पाकर सहज ही विभावपरिणाम छूट जाता है, स्वभाव सम्यक्त्वरूप परिणमता है। ऐसा कोई जीव होता है। [तदा] उस कालसे लेकर पूरे आगामी कालमें [नित्यनिरास्रवः] सर्वथा सर्व काल सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव [भवति] होता है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई संदेह करेगा कि सम्यग्दृष्टि आस्रव सहित है कि आस्रव रहित है? समाधान ऐसा है कि आस्रवसे रहित है। क्या करता हुआ निरास्रव है? ‘‘ निजबुद्धिपूर्व रागं समग्रं अनिशं स्वयं सन्न्यस्यन् ’’ [निज] अपने [बुद्धि] मनको [पूर्व] आलंबन कर होता है जितना मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध परिणाम ऐसा जो [रागं] परद्रव्यके साथ रंजित परिणाम, जो [समग्रं] असंख्यात लोकमात्र भेदरूप है, उसे [अनिशं] सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालसे लेकर आगामी सर्व कालमें [स्वयं] सहज ही [सन्न्यस्यन्] छोड़ता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — नानाप्रकारके कर्मके उदयमें नाना प्रकारकी संसार—शरीर—भोगसामग्री होती है। इस समस्त सामग्रीको भोगता हुआ मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इत्यादि रूप रंजायमान नहीं होता। जानता है— मैं चेतनामात्र शुद्धस्वरूप हूँ, यह समस्त कर्मकी रचना है। ऐसा अनुभवते हुए मनका व्यापाररूप राग मिटता है। ‘‘ अबुद्धिपूर्वम् अपि तं जेतुं वारंवारम् स्वशक्तिम् स्पृशन् ’’ [अबुद्धिपूर्वम्] मनके आलंबन बिना मोहकर्मके उदयरूप निमित्तकारणसे परिणमें हैं अशुद्धतारूप जीवके प्रदेश, [तं अपि] उसको भी [जेतुं] जीतनेके लिए [वारंवारम्] अखण्डित धाराप्रवाहरूप [स्वशक्तिं] शुद्ध चैतन्य वस्तु, उसको [स्पृशन्] स्वानुभव प्रत्यक्षरूपसे आस्वादता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — मिथ्यात्व राग द्वेषरूप हैं जो जीवके अशुद्ध चेतनारूप विभाव परिणाम वे दो प्रकारके हैं—

एक परिणाम बुद्धिपूर्वक हैं, एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक हैं। विवरण — बुद्धिपूर्वक कहनेपर जो सब परिणाम मनके द्वारा प्रवर्तते हैं, बाह्य विषयके आधारसे प्रवर्तते हैं। प्रवर्तते हुए वह जीव आप भी जानता है कि मेरा परिणाम इस रूप है। तथा अन्य जीव भी अनुमान करके जानता है जो इस जीवके ऐसा परिणाम है। ऐसा परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है। सो ऐसे परिणामको सम्यग्दृष्टि जीव मेट सकता है, क्यों कि ऐसा परिणाम जीवकी जानकारी में है। शुद्धस्वरूपका अनुभव होनेपर जीवके सहाराका भी है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव पहले ही ऐसा परिणाम मेटता है। अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहनेपर पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारके बिना ही मोहकर्मके उदयका निमित्त कर मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध विभाव परिणामरूप आप स्वयं जीवद्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें परिणमता है सो ऐसा परिणमन जीवकी जानकारीमें नहीं है और जीवके सहाराका भी नहीं है, इसलिए जिस किसी प्रकार मेटा जाता नहीं। अतएव ऐसे परिणाम मेटनेके लिए निरंतरपने शुद्धस्वरूपको अनुभवता है, शुद्धस्वरूपका अनुभव करनेपर सहज ही मिटेगा। दूसरा उपाय तो कोई नहीं, इसलिए एक शुद्धस्वरूपका अनुभव उपाय है। और क्या करता हुआ निरास्रव होता है? “**एव परवृत्तिम् सकलां उच्छिन्दन्**” [एव] अवश्य ही [पर] जितनी ज्ञेयवस्तु है उसमें [वृत्तिम्] रंजकपना ऐसी परिणाम क्रिया, जो [सकलां] जितनी है शुभरूप अथवा अशुभरूप, उसको [उच्छिन्दन्] मूलसे ही उखाड़ता हुआ सम्यग्दृष्टि निरास्रव होता है। भावार्थ इस प्रकार है — ज्ञेय—ज्ञायकका संबंध दो प्रकार है— एक तो जानपनामात्र है, रागद्वेषरूप नहीं है। यथा— केवली सकल ज्ञेयवस्तुको देखते जानते हैं परंतु किसी वस्तुमें राग—द्वेष नहीं करते। उसका नाम शुद्ध ज्ञानचेतना कहा जाता है। सो सम्यग्दृष्टि जीवके शुद्ध ज्ञानचेतनारूप जानपना है, इसलिए मोक्षका कारण है— बंधका कारण नहीं है। दूसरा जानपना ऐसा जो कितनी ही विषयरूप वस्तुका जानपना भी है और मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकर इष्टमें राग करता है, भोगकी अभिलाषा करता है तथा अनिष्टमें द्वेष करता है, अरुचि करता है सो ऐसे राग—द्वेष से मिला हुआ जो ज्ञान उसका नाम अशुद्ध चेतनालक्षण कर्मचेतना कर्मफलचेतनारूप कहा जाता है, इसलिए बंधका कारण है। ऐसा परिणमन सम्यग्दृष्टिके नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वरूप परिणाम गया होनेसे ऐसा परिणमन नहीं होता है। ऐसा अशुद्ध ज्ञानचेतनारूप परिणाम मिथ्यादृष्टिके होता है। और कैसा होता हुआ निरास्रव होता है? “**ज्ञानस्य पूर्णः भवन्**” पूर्ण ज्ञानरूप होता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है — ज्ञानका खंडितपना यह कि वह राग—द्वेष से मिला हुआ है। राग—द्वेष गये होनेसे ज्ञानका पूर्णपना कहा जाता है। ऐसा होता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है॥ ४—११६॥

[अनुष्टुप]

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥ ५-११७ ॥

[दोहा]

द्रव्यास्रव की संतति विद्यमान सम्पूर्ण ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रव कैसे हो परिपूर्ण ॥ ११७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई आशंका करता है — सम्यग्दृष्टि जीव सर्वथा निरास्रव कहा और ऐसा ही है। परन्तु ज्ञानावरणादि द्रव्यपिण्ड जैसा था वैसा ही विद्यमान है। तथा उस कर्मके उदयमें नाना प्रकारकी भोगसामग्री जैसी थी वैसी ही है। तथा उस कर्मके उदयमें नाना प्रकारके सुख—दुःखको भोगता है, इन्द्रिय—शरीरसम्बन्धी भोगसामग्री जैसी थी वैसी ही है। सम्यग्दृष्टि जीव उस सामग्री को भोगता भी है। इतनी सामग्री के रहते हुए निरास्रवपना कैसे घटित होता है ऐसा कोई प्रश्न करता है — “द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ सर्वस्याम् एव जीवन्त्यां ज्ञानी नित्यम् निरास्रवः कुतः” [द्रव्यप्रत्यय] जीवके प्रदेशोंमें परिणमा है पुद्गलपिण्डरूप अनेक प्रकारका मोहनीयकर्म, उसकी [सन्ततौ] संतति—स्थितिबंधरूप बहुत काल पर्यन्त जीवके प्रदेशोंमें रहती है। [सर्वस्याम्] जितनी होती, जैसी होती [जीवन्त्यां] उतनी ही है, विद्यमान है, वैसी ही है। [एव] निश्चयसे फिर भी [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [नित्यम् निरास्रवः] सर्वथा सर्व काल आस्रवसे रहित है ऐसा जो कहा सो [कुतः] क्या विचार करके कहा? “चेत् इति मतिः” [चेत्] भो शिष्य! यदि [इति मतिः] तेरे मनमें ऐसी आशंका है तो उत्तर सुन, कहते हैं ॥ ५-११७ ॥

[मालिनी]

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥ ६-११८ ॥

[हरिगीत]

पूर्व में जो द्रव्यप्रत्यय बंधे थे अब वे सभी ।
निजकाल पाकर उदित होंगे सुप्त सत्ता में अभी ॥
यद्यपि वे हैं अभी पर राग-द्वेषाभाव से ।
अंतर अमोही ज्ञानियों को बंध होता है नहीं ॥ ११८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तदपि ज्ञानिनः जातु कर्मबन्धः न अवतरति” [तदपि] तो भी [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [जातु] कदाचित् किसी भी नयसे [कर्मबन्धः] ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिण्डका नूतन आगमन—कर्मरूप परिणमन [न अवतरति] नहीं होता।

अथवा जो कभी सूक्ष्म अबुद्धिपूर्वक राग—द्वेषपरिणामसे बंध होता है, अति ही अल्प बंध होता है तो भी सम्यग्दृष्टि जीवके बंध होता है ऐसा कोई तीनों कालमें कह सकता नहीं। आगे कैसा होनेसे बंध नहीं ? “**सकलरागद्वेषमोहव्युदासात्**” जिस कारणसे ऐसा है उस कारणसे बंध नहीं घटित होता। [**सकल**] जितने शुभरूप अथवा अशुभरूप [**राग**] प्रीतिरूप परिणाम [**द्वेष**] दुष्ट परिणाम [**मोह**] पुद्गलद्रव्यकी विचित्रतामें आत्मबुद्धि ऐसा विपरीतरूप परिणाम, ऐसे [**व्युदासात्**] तीनों ही परिणामोंसे रहितपना ऐसा कारण है, इससे सामग्रीके विद्यमान होते हुए भी सम्यग्दृष्टि जीव कर्मबंधका कर्ता नहीं है। विद्यमान सामग्री जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं—“**यद्यपि पूर्वबद्धाः प्रत्ययाः द्रव्यरूपाः सत्तां न हि विजहति**” [**यद्यपि**] जो ऐसा भी है कि [**पूर्वबद्धाः**] सम्यक्त्वकी उत्पत्ति के पहले जीव मिथ्यादृष्टि था, इससे मिथ्यात्व, राग, द्वेषरूप परिणामके द्वारा बाँधे थे जो [**द्रव्यरूपाः प्रत्ययाः**] मिथ्यात्वरूप तथा चारित्रमोहरूप पुद्गल कर्मपिण्ड, वे [**सत्तां**] स्थितिबंधरूप होकर जीवके प्रदेशोंमें कर्मरूप विद्यमान हैं ऐसे अपने अस्तित्वको [**न हि विजहति**] नहीं छोड़ते हैं। उदय भी देते हैं ऐसा कहते हैं—“**समयम् अनुसरन्तः अपि**” [**समयम्**] समय समय प्रति अखंडित धाराप्रवाहरूप [**अनुसरन्तः अपि**] उदय भी देते हैं; तथापि सम्यग्दृष्टि कर्मबंधका कर्ता नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई अनादि कालका मिथ्यादृष्टि जीव काललब्धिको प्राप्त करता हुआ सम्यक्त्वगुणरूप परिणाम, चारित्रमोहकर्मकी सत्ता विद्यमान है, उदय भी विद्यमान है, पंचेन्द्रिय विषयसंस्कार विद्यमान है, भोगता भी है, भोगता हुआ ज्ञानगुणके द्वारा वेदक भी है; तथापि जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आत्मस्वरूपको नहीं जानता है, कर्मके उदयको आपकर जानता है, इससे इष्ट—अनिष्ट विषयसामग्रीको भोगता हुआ राग—द्वेष करता है, इससे कर्मका बंधक होता है उस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्माको शुद्धस्वरूप अनुभवता है, शरीर आदि समस्त सामग्रीको कर्मका उदय जानता है, आये उदयको खपाता है। परंतु अंतरंगमें परम उदासीन है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवको कर्मबंध नहीं है। ऐसी अवस्था सम्यग्दृष्टि जीवके सर्व काल नहीं। जब तक सकल कर्मोंका क्षय कर निर्वाणपदवीको प्राप्त करता है तब तक ऐसी अवस्था है। जब निर्वाणपद प्राप्त करेगा उस कालका तो कुछ कहना ही नहीं — साक्षात् परमात्मा है॥ ६—११८॥

[अनुष्टुप]

**रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः ।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥ ७—११९ ॥**

[दोहा]

**राग-द्वेष अर मोह ही केवल बंधकभाव ।
ज्ञानी के ये हैं नहीं तातैं बंध अभाव ॥ ११९ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- ऐसा कहा कि सम्यग्दृष्टि जीवके बंध नहीं है तो ऐसी प्रतीति जिस प्रकार होती है उस प्रकार और कहते हैं— “यत् ज्ञानिनः रागद्वेषविमोहानां असम्भवः ततः अस्य बन्धः न” [यत्] जिस कारण [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [राग] रंजक परिणाम [द्वेष] उद्वेग [विमोहानां] प्रतीतिका विपरीतपना ऐसे अशुद्ध भावों की [असम्भवः] विद्यमानता नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीव कर्मके उदयमें रंजायमान नहीं होता, इसलिए रागादिक नहीं है [ततः] उस कारण से [अस्य] सम्यग्दृष्टि जीवके [बन्धः न] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका बंध नहीं है। “एव” निश्चयसे ऐसा ही द्रव्यका स्वरूप है। “हि ते बन्धस्य कारणम्” [हि] जिस कारण [ते] राग, द्वेष, मोह ऐसे अशुद्ध परिणाम [बन्धस्य कारणम्] बंधके कारण हैं। भावार्थ इस प्रकार है — कोई अज्ञानी जीव ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीवके चारित्रमोहका उदय तो है, वह उदयमात्र होनेपर आगामी ज्ञानावरणादि कर्मका बंध होता होगा? समाधान इस प्रकार है — चारित्रमोहका उदयमात्र होनेपर बंध नहीं है। उदयके होनेपर जो जीवके राग, द्वेष, मोह परिणाम हो तो कर्मबंध होता है अन्यथा सहस्र कारण हो तो भी कर्मबंध नहीं होता। राग, द्वेष, मोह परिणाम भी मिथ्यात्वकर्मके उदयके सहारे हैं, मिथ्यात्वके जानेपर अकेले चारित्रमोहके उदयके सहारेका राग, द्वेष, मोह परिणाम नहीं है। इस कारण सम्यग्दृष्टिके राग, द्वेष, मोह परिणाम होता नहीं, इसलिए कर्मबंधका कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं होता।। ७-११९।।

[वसन्ततिलका]

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्न-

मैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते।

रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः

पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम्।। ८-१२०।।

[हरिगीत]

सदा उद्धत चिह्न वाले शुद्धनय अभ्यास से।

निज आत्म की एकाग्रता के ही सतत् अभ्यास से।।

रागादि विरहित चित्तवाले आत्मकेन्द्रित ज्ञानिजन।

बंधविरहित अर अखण्डित आत्मा को देखते।।१२०।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ये शुद्धनयं एकाग्र्यम् एव सदा कलयन्ति” [ये] जो कोई आसन्नभव्य जीव [शुद्धनयम्] निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य वस्तुमात्रका [एकाग्र्यम्] समस्त रागादि विकल्पसे चित्तका निरोध कर [एव] चित्तमें निश्चय लाकर [कलयन्ति] अखंडित धाराप्रवाहरूप अभ्यास करते हैं [सदा] सर्व काल। कैसा है? “उद्धतबोधचिह्नम्” [उद्धत] सर्व काल प्रगट जो [बोध] ज्ञानगुण वही है [चिह्नम्] लक्षण जिसका, ऐसा है। क्या करके “अध्यास्य” जिस किसी प्रकार मनमें प्रतीति लाकर। “ते एव समयस्य सारम् पश्यन्ति” [ते एव] वे ही जीव निश्चयसे [समयस्य सारम्] सकल कर्मसे रहित अनंतचतुष्टय बिराजमान परमात्मपदको [पश्यन्ति]

प्रगटरूपसे पाते हैं। कैसा पाते हैं? “**बन्धविधुरम्**” [**बन्ध**] अनादि कालसे एक बंधपर्यायरूप चला आया था ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड उससे [**विधुरं**] सर्वथा रहित है। भावार्थ इस प्रकार है — सकल कर्मके क्षयसे हुआ है शुद्ध, उसकी प्राप्ति होती है शुद्धस्वरूपका अनुभव करते हुए। कैसे है वे जीव? “**रागादिमुक्तमनसः**” राग, द्वेष, मोहसे रहित है परिणाम जिनका, ऐसे हैं। और कैसे हैं? “**सततं भवन्तः**” [**सततं**] निरंतरपने [**भवन्तः**] ऐसे ही हैं। भावार्थ इस प्रकार है — कोई जानेगा कि सर्व काल प्रमादी रहता है, कभी एक जैसा कहा वैसा होता है सो इस प्रकार तो नहीं, सदा सर्व काल शुद्धपनेरूप रहता है॥ ८-१२०॥

[वसन्ततिलका]

**प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु
रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्ध-
द्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्॥ ९-१२१॥**

[हरिगीत]

च्युत हुए जो शुद्धनय से बोध विरहित जीव वे ।
पहले बंधे द्रव्यकर्म से रागादि में उपयुक्त हो ॥
अरे विचित्र विकल्प वाले और विविध प्रकार के ।
विपरीतता से भरे विध-विध कर्मका बंधन करें॥१२१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “**तु पुनः**” ऐसा भी है— “**ये शुद्धनयतः प्रच्युत्य रागादियोगं उपयान्ति ते इह कर्मबन्धम् बिभ्रति**” [**ये**] जो कोई उपशम—सम्यग्दृष्टि या वेदक सम्यग्दृष्टि जीव [**शुद्धनयतः**] शुद्ध चैतन्यस्वरूपके अनुभवसे [**प्रच्युत्य**] भ्रष्ट हुए हैं तथा [**रागादि**] राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध परिणाम [**योगम्**] रूप [**उपयान्ति**] होते हैं [**ते**] ऐसे हैं जो जीव वे [**कर्मबन्धम्**] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड [**बिभ्रति**] नया उपार्जित करते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीव जब तक सम्यक्त्वके परिणामोंसे साबुत रहता है तब तक राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध परिणामके नहीं होनेसे ज्ञानावरणादि कर्मबंध नहीं होता। [**किन्तु**] जो सम्यग्दृष्टि जीव थे पीछे सम्यक्त्वके परिणामसे भ्रष्ट हुए, उनको राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध परिणामके होनेसे ज्ञानावरणादि कर्मबंध होता है, क्योंकि मिथ्यात्वके परिणाम अशुद्धरूप हैं। कैसे हैं वे जीव? “**विमुक्तबोधाः**” [**विमुक्त**] छूटा है [**बोधाः**] शुद्धस्वरूपका अनुभव जिनका, ऐसे हैं। कैसा है कर्मबंध? “**पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम्**” [**पूर्व**] सम्यक्त्वके बिना उत्पन्न हुए [**बद्ध**] मिथ्यात्व, राग, द्वेषरूप परिणामके द्वारा बाँधे थे जो [**द्रव्यास्रवैः**] पुद्गलपिण्डरूप मिथ्यात्वकर्म तथा चारित्रमोहकर्म उनके द्वारा [**कृत**] किया है [**विचित्र**] नाना प्रकार [**विकल्प**] राग, द्वेष, मोहपरिणाम, उसका [**जालम्**] समूह ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है — जितने काल जीव सम्यक्त्वके भावरूप परिणाम था

उतने काल चारित्रमोह कर्म कीले हुए सर्पके समान अपना कार्य करने के लिए समर्थ नहीं था। जब वही जीव सम्यक्त्वके भावसे भ्रष्ट हुआ मिथ्यात्व भावरूप परिणमा तब उकीले हुए सर्पके समान अपना कार्य करने के लिए समर्थ हुआ। चारित्रमोहकर्मका कार्य ऐसा जो जीवके अशुद्ध परिणमनका निमित्त होना। भावार्थ इस प्रकार है — जीवके मिथ्यादृष्टि होनेपर चारित्रमोहका बन्ध भी होता है। जब जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है तब चारित्रमोहके उदयमें बंध होता है परंतु बंधशक्ति हीन होती है, इसलिए बंध नहीं कहलाता। इस कारण सम्यक्त्वके होनेपर चारित्रमोहको कीले हुए सर्पके समान ऊपर कहा है। जब सम्यक्त्व छूट जाता है तब उकीले हुए सर्पके समान चारित्रमोहको कहा सो ऊपरके भावार्थका अभिप्राय जानना।। ९-१२१।।

[अनुष्टुप]

**इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात्तत्यागाद्बन्ध एव हि।। १०-१२२।।**

[हरिगीत]

इस कथन का है सार यह कि शुद्धनय उपादेय है।
अर शुद्धनय द्वारा निरूपित आत्मा ही ध्येय है।।
क्योंकि इसके त्याग से ही बंध और अशान्ति है।
इसके ग्रहण में आत्मा की मुक्ति एवं शान्ति है।। १२२।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ अत्र इदम् एव तात्पर्यं ” [अत्र] इस समस्त अधिकारमें [इदम् एव तात्पर्यं] निश्चयसे इतना ही कार्य है। वह कार्य कैसा? “ शुद्धनयः हेयः न हि ” [शुद्धनयः] आत्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव [हेयः न हि] सूक्ष्मकालमात्र भी विसारने [भूलने] योग्य नहीं है। किस कारण? “ हि तत् अत्यागात् बन्धः नास्ति ” [हि] जिस कारण [तत्] शुद्धस्वरूपका अनुभव, उसके [अत्यागात्] नहीं छूटनेसे [बन्धः नास्ति] ज्ञानावरणादि कर्मका बंध नहीं होता। और किस कारण? “ तत् त्यागात् बन्धः एव ” [तत्] शुद्ध स्वरूपका अनुभव, उसके [त्यागात्] छूटनेसे [बन्धः एव] ज्ञानावरणादि कर्मका बंध है। भावार्थ प्रगट है ।। १०-१२२।।

[शार्दूलविक्रीडित]

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नधृतिं
 त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वकषः कर्मणाम् ।
 तत्रस्थाः स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य निर्यद्वहिः
 पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शान्तं महः ॥ ११-१२३ ॥

[हरिगीत]

धीर और उदार महिमायुत अनादि अनन्त जो ।
 उस ज्ञान में थिरता करे अर कर्मनाशक भावजो ॥
 सदज्ञानियों को कभी भी वह शुद्धनय ना हेय है ।
 विज्ञानघन इक अचल आतम ज्ञानियों का ज्ञेय है ॥ १२३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “कृतिभिः जातु शुद्धनयः त्याज्यः न हि” [कृतिभिः] सम्यग्दृष्टि जीवोंके द्वारा [जातु] सूक्ष्मकालमात्र भी [शुद्धनयः] शुद्ध चैतन्यमात्रवस्तुका अनुभव [त्याज्यः न हि] विस्मरण योग्य नहीं है। कैसा है शुद्धनय? “बोधे धृतिं निबध्नन्” [बोधे] आत्मस्वरूपमें [धृतिं] अतीन्द्रिय सुखस्वरूप परिणतिको [निबध्नन्] परिणमाता है। कैसा है बोध? “धीरोदारमहिम्नि” [धीर] शाश्वती [उदार] धाराप्रवाहरूप परिणमनशील, ऐसी है [महिम्नि] बढ़ाई जिसकी, ऐसा है। और कैसा है? “अनादिनिधने” [अनादि] नहीं है आदि [अनिधने] नहीं है अंत जिसका, ऐसा है। और कैसा है शुद्धनय? “कर्मणाम् सर्वकषः” [कर्मणाम्] ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मपिण्डका अथवा राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध परिणामोंका [सर्वकषः] मूलसे क्षयकरणशील है। “तत्रस्थाः शान्तं महः पश्यन्ति” [तत्रस्थाः] शुद्धस्वरूप—अनुभवमें मग्न है जो जीव, वे [शान्तं] सर्व उपाधिसे रहित ऐसे [महः] चैतन्य द्रव्यको [पश्यन्ति] प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त करते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — परमात्मपदको प्राप्त होते हैं। कैसा है मह? “पूर्ण” असंख्यात प्रदेश ज्ञान बिराजमान है। और कैसा है? “ज्ञानघनौघम्” चेतनागुणका पुंज है। और कैसा है? “एकम्” समस्त विकल्पसे रहित निर्विकल्प वस्तुमात्र है। और कैसा है? “अचलं” कर्मसंयोगके मिटनेसे निश्चल है। क्या करके ऐसे स्वरूपकी प्राप्ति होती है? “स्वमरीचिचक्रम् अचिरात् संहृत्य” [स्वमरीचिचक्रम्] झूठ है, भ्रम है जो कर्मकी सामग्री इन्द्रिय, शरीर रागादिमें आत्मबुद्धि, उसको [अचिरात्] तत्कालमात्र [संहृत्य] विनाशकर। कैसा है मरीचिचक्र? “बहिः निर्यत्” अनात्मपदार्थोंमें भ्रमता है। भावार्थ इस प्रकार है — परमात्मपदकी प्राप्ति होनेपर समस्त विकल्प मिटते हैं ॥ ११-१२३ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

रागादीनां झगिति विगमात्सर्वतोऽप्यास्रवाणां
 नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु सम्पश्यतोऽन्तः।
 स्फारस्फारैः स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा-
 नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२-१२४ ॥

[हरिगीत]

निज आत्मा जो परमवस्तु उसे जो पहिचानते ।
 अर उसी में जो नित रमें अर उसे ही जो जानते ॥
 वे आस्रवों का नाशकर नित रहें आत्म ध्यान में ।
 वे रहें निज में किन्तु लोकालोक उनके ज्ञान में ॥१२४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एतत् ज्ञानम् उन्मग्नम्” [एतत्] जैसा कहा है वैसा शुद्ध [ज्ञानम्] शुद्ध चैतन्यप्रकाश [उन्मग्नम्] प्रगट हुआ। जिसको ज्ञान प्रगट हुआ वह जीव कैसा है? “किमपि वस्तु अन्तः सम्पश्यतः” [किम् अपि वस्तु] निर्विकल्पसत्तामात्र कुछ वस्तु, उसको [अन्तः सम्पश्यतः] भावश्रुतज्ञानके द्वारा प्रत्यक्षपने अवलंबता है। भावार्थ इस प्रकार है — शुद्धस्वरूपके अनुभवके काल जीव काष्ठके समान जड़ है ऐसा भी नहीं है, सामान्यतया सविकल्पी जीवके समान विकल्पी भी नहीं है, भावश्रुतज्ञानके द्वारा कुछ निर्विकल्पवस्तुमात्रको अवलंबता है। अवश्य अवलंबता है। “परमं” ऐसे अवलंबनको वचनद्वारसे कहनेको समर्थपना नहीं है, इसलिए कहना शक्य नहीं। कैसा है शुद्ध ज्ञानप्रकाश? “नित्योद्योतं” अविनाशी है प्रकाश जिसका। किस कारणसे? “रागादीनां झगिति विगमात्” [रागादीनां] राग, द्वेष, मोहकी जातिके हैं जितने असंख्यात लोकमात्र अशुद्धपरिणाम उनका [झगिति विगमात्] तत्काल विनाश होनेसे। कैसे हैं अशुद्धपरिणाम? “सर्वतः अपि आस्रवाणां” [सर्वतः अपि] सर्वथा प्रकार [आस्रवाणां] आस्रव ऐसा नाम—संज्ञा है जिनकी, ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है — जीवके अशुद्ध रागादि परिणामको सच्चा आस्रवपना घटता है, उनका निमित्त पाकर कर्मरूप आस्रवती हैं जो पुद्गलकी वर्गणा वे तो अशुद्ध परिणामके सहारेकी है, इसलिए उनकी कौन बात, परिणामोंके शुद्ध होनेपर सहज ही मिटती है। और कैसा है शुद्धज्ञान? “सर्वभावान् प्लावयन्” [सर्वभावान्] जितने ज्ञेय वस्तु अतीत, अनागत, वर्तमान पर्यायसे सहित हैं उनको [प्लावयन्] अपनेमें प्रतिबिंबित करता हुआ। किसके द्वारा? “स्वरसविसरैः” [स्वरस] चिद्रूप गुण, उसकी [विसरैः] अनंत शक्ति, उसके द्वारा। कैसी है वे? “स्फारस्फारैः” [स्फार] अनंत शक्ति, उससे भी [स्फारैः] अनंतानंतगुणी है। भावार्थ इस प्रकार है — द्रव्य अनंत है, उनसे पर्यायभेद अनंतगुणे हैं। उन समस्त ज्ञेयों से ज्ञानकी अनंतगुणी शक्ति है। ऐसा द्रव्यका स्वभाव है। और कैसा है शुद्ध ज्ञान? “आलोकान्तात् अचलम्” सकल कर्मोंका क्षय होनेपर जैसा उत्पन्न हुआ वैसा ही अनंत काल पर्यंत रहेगा, कभी और—सा नहीं होगा। और कैसा है शुद्ध ज्ञान? “अतुलं” तीन लोकमें जिसका सुखरूप परिणमनका दृष्टांत नहीं है। ऐसा शुद्ध ज्ञानप्रकाश प्रगट हुआ ॥ १२-१२४ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- “चिन्मयम् ज्योतिः उज्ज्वलम्” [चित्] चेतना, वही है [मयम्] स्वरूप जिसका, ऐसा [ज्योतिः] प्रकाशस्वरूप वस्तु [उज्ज्वलम्] प्रगट होता है। कैसी है ज्योति? “स्फुरत्” सर्व काल प्रगट है। और कैसी है? “उज्ज्वलं” कर्मकलंकसे रहित है। और कैसी है? “निजरसप्राग्भारम्” [निजरस] चेतनगुण, उसका [प्राग्भारम्] समूह है। और कैसी है? “पररूपतः व्यावृत्तं” [पररूपतः] ज्ञेयाकार परिणमन, उससे [व्यावृत्तं] पराङ्मुख है। भावार्थ इस प्रकार है — सकल ज्ञेयवस्तुको जानती है तद्रूप होती नहीं होती, अपने स्वरूप रहती है। और कैसी है? “स्वरूपे सम्यक् नियमितं” [स्वरूपे] जीवका शुद्धस्वरूप, उसमें [सम्यक्] जैसी है वैसी [नियमितं] गाढ़रूपसे स्थापित है। और कैसी है? “संवरम् सम्पादयत्” [संवरम्] धाराप्रवाहरूप आस्रवता है ज्ञानावरणादि कर्म उसका निरोध [सम्पादयत्] करणशील है। भावार्थ इस प्रकार है — यहाँसे लेकर संवरका स्वरूप कहते हैं। कैसा है संवर? “प्रतिलब्धनित्यविजयं” [प्रतिलब्ध] पाया है [नित्य] शाश्वत [विजयं] जीतपना जिसने, ऐसा है। किस कारणसे ऐसा है? “आसंसारविरोधिसंवर-जयैकान्तावलिप्तस्रवण्यक्कारात्” [आसंसार] अनंत कालसे लेकर [विरोधि] बेरी है ऐसा जो [संवर] बध्यमान कर्मका विरोध, उसका [जय] जीतपना, उसके द्वारा [एकान्तावलिप्त] मुझसे बड़ा तीन लोकमें कोई नहीं ऐसा हुआ है गर्व जिसको ऐसा [आस्रव] धाराप्रवाहरूप कर्मका आगमन उसको [न्यक्कारात्] दूर करनेरूप मानभंगके कारण। भावार्थ इस प्रकार है — आस्रव तथा संवर परस्पर अति ही बेरी है, इसलिए अनंत कालसे सर्व जीवराशि विभाव मिथ्यात्व परिणतिरूप परिणमता है, इस कारण शुद्ध ज्ञानका प्रकाश नहीं है। इसलिए आस्रवके सहारे सर्व जीव हैं।

काललब्धि पाकर कोई आसन्नभव्य जीव सम्यक्त्वरूप स्वभाव परिणति परिणमता है, इससे शुद्ध प्रकाश प्रगट होता है, इससे कर्मका आस्रव मिटता है। इससे शुद्ध ज्ञानका जीतपना घटित होता है॥ १-१२५॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः॥ २-१२६॥**

[हरिगीत]

यह ज्ञान है चिद्रूप किन्तु राग तो जडरूप है।
मैं ज्ञानमय आनन्दमय पर राग तो पररूप है ॥
इसतरह के अभ्यास से जब भेदज्ञान उदित हुआ।
आनन्दमय रसपान से तब मनोभाव मुदित हुआ॥१२६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदं भेदज्ञानम् उदेति” [इदं] प्रत्यक्ष ऐसा [भेदज्ञानम्] जीवके शुद्धस्वरूपका अनुभव [उदेति] प्रगट होता है। कैसा है? “निर्मलम्” राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध परिणतिसे रहित है। और कैसा है? “शुद्धज्ञानघनौघम्” [शुद्धज्ञान] शुद्धस्वरूपका ग्राहक ज्ञान, उसका [घन] समूह, उसका [ओघम्] पुञ्ज है। और कैसा है? “एकम्” समस्त भेदविकल्पसे रहित है। भेदज्ञान जिस प्रकार होता है उस प्रकार कहते हैं—“ज्ञानस्य रागस्य च द्वयोः विभागं परतः कृत्वा” [ज्ञानस्य] ज्ञानगुणमात्र [रागस्य] अशुद्ध परिणति, उन [द्वयोः] दोनोंका [विभागं] भिन्न—भिन्नपना [परतः] एक दूसरे से [कृत्वा] करके भेदज्ञान प्रगट होता है। कैसे हैं वे दोनों? “चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः” चैतन्यमात्र जीवका स्वरूप, जडत्वमात्र अशुद्धपनाका स्वरूप। कैसा करके भिन्नपना किया? “अन्तर्दारुणदारणेन” [अन्तर्दारुण] अंतरंग सूक्ष्म अनुभवदृष्टि, ऐसी है [दारणेन] करोंत, उसके द्वारा। भावार्थ इस प्रकार है—शुद्धज्ञानमात्र तथा रागादि अशुद्धपना ये दोनों भिन्न—भिन्नरूपसे अनुभव करने के लिए अति सूक्ष्म हैं, क्योंकि रागादि अशुद्धपना चेतनसा दिखता है, इसलिए अतिसूक्ष्म दृष्टिसे जिस प्रकार पानी कीचड़ से मिला होनेसे मैला हुआ है तथापि स्वरूपका अनुभव करनेपर स्वच्छतामात्र पानी है, मैला है सो कीचड़की उपाधि है उसी प्रकार रागादि परिणामके कारण ज्ञान अशुद्ध ऐसा दीखता है तथापि ज्ञानपनामात्र ज्ञान है, रागादि अशुद्धपना उपाधि है। “सन्तः अधुना इदं मोदध्वम्” [सन्तः] सम्यग्दृष्टि जीव [अधुना] वर्तमान समयमें [इदं मोदध्वम्] शुद्धज्ञानानुभवको आस्वादो। कैसे है संतपुरुष? “अध्यासिताः” शुद्धस्वरूपका अनुभव है जीवन जिनका ऐसे हैं। और कैसे हैं? “द्वितीयच्युताः” हेय वस्तुको नहीं अवलम्बते हैं॥ २-१२६॥

[मालिनी]

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन
 ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
 तदयमुदयदात्माराममात्मानमात्मा
 परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ ३-१२७ ॥

[रोला]

भेद ज्ञान के इस अविरल धारा प्रवाहसे ।
 कैसे भी कर प्राप्त करे जो शुद्धातम को ॥
 और निरन्तर उसमें ही थिर होता जावे ।
 पर परिणति को त्याग निरन्तर शुद्ध हो जावे ॥ १२७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ तत् अयम् आत्मा आत्मानम् शुद्धम् अभ्युपैति ’’ [तत्] तिस कारण [अयम् आत्मा] यह प्रत्यक्ष जीव [आत्मानम्] अपने स्वरूपको [शुद्धम्] जितने हैं द्रव्यकर्म भावकर्म, उनसे रहित [अभ्युपैति] प्राप्त करता है। कैसा है आत्मा ? ‘‘ उदयदात्मारामम् ’’ [उदयत्] प्रगट हुआ है [आत्मा] अपना द्रव्य, ऐसा है [आरामम्] निवास जिसका, ऐसा है। किस कारणसे शुद्धकी प्राप्ति होती है ? ‘‘ परपरिणतिरोधात् ’’ [परपरिणति] अशुद्धपना, उसके [रोधात्] विनाशसे। अशुद्धपनाका विनाश जिस प्रकार होता है उस प्रकार कहते हैं – ‘‘ यदि आत्मा कथमपि शुद्धम् आत्मानम् उपलभमानः आस्ते ’’ [यदि] जो [आत्मा] चेतन द्रव्य [कथमपि] काललब्धिको पाकर सम्यक्त्व पर्यायरूप परिणमता हुआ [शुद्धम्] द्रव्यकर्म, भावकर्मसे रहित ऐसे [आत्मानम्] अपने स्वरूपको [उपलभमानः आस्ते] आस्वादता हुआ प्रवर्तता है। कैसा करके ? ‘‘ बोधनेन ’’ भावश्रुतज्ञान के द्वारा। कैसा है ? ‘‘ धारावाहिना ’’ अखंडित धाराप्रवाहरूप निरन्तर प्रवर्तता है। ‘‘ ध्रुवम् ’’ इस बात का निश्चय है ॥ ३-१२७ ॥

[मालिनी]

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥ ४-१२८ ॥

[रोला]

भेदज्ञान की शक्तिसे निज महिमा रत को ।
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि निश्चित हो जावे ॥
शुद्धतत्त्व की उपलब्धि होनेपर उसके ।
अति शिघ्र ही सब कर्मोंका क्षय हो जावे ॥१२८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एषां निजमहिमरतानां शुद्धतत्त्वोपलम्भः भवति ” [एषां] ऐसे जो है, कैसे ? [निजमहिम] जीवके शुद्ध स्वरूप परिणमनमें [रतानां] मग्न हैं जो कोई, उनको [शुद्धतत्त्वोपलम्भः भवति] सकल कर्मोंसे रहित अनंत चतुष्टय विराजमान ऐसा जो आत्मवस्तु उसकी प्राप्ति होती है। “ नियतम् ” अवश्य होती है। कैसा करके होती है ? “ भेदविज्ञानशक्त्या ” [भेदविज्ञान] समस्त परद्रव्योंसे आत्मस्वरूप भिन्न है ऐसे अनुभवरूप [शक्त्या] सामर्थ्यके द्वारा। “ तस्मिन् सति कर्ममोक्षः भवति ” [तस्मिन् सति] शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर [कर्ममोक्षः भवति] द्रव्यकर्म भावकर्मका मूलसे विनाश होता है। “ अचलितम् ” ऐसा द्रव्यका स्वरूप अमिट है। कैसा है कर्मक्षय ? “ अक्षयः ” आगामी अनंत काल तक और कर्मका बंध नहीं होगा। जिन जीवोंका कर्मक्षय होता है वे जीव कैसे हैं ? “ अखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां ” [अखिल] समस्त ऐसे जो [अन्यद्रव्य] अपने जीवद्रव्यसे भिन्न सब द्रव्य, उनसे [दूरेस्थितानां] सर्व प्रकार भिन्न हैं ऐसे जो जीव, उनके ॥ ४-१२८ ॥

[उपजाति]

सम्पद्यते संवर एष साक्षा-
 च्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
 स भेदविज्ञानत एव तस्मात्
 तद्वेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥ ५-१२९ ॥

[रोला]

आत्मतत्त्व की उपलब्धि हो भेदज्ञान से ।
 आत्मतत्त्व की उपलब्धि से संवर होता ॥
 इसीलिए तो सच्चे दिल से नित प्रति करना ।
 अरे भव्यजन ! भव्यभावना भेदज्ञान की ॥ १२९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तद् भेदविज्ञानम् अतीव भाव्यम्” [तत्] उस कारणसे [भेदविज्ञानम्] समस्त परद्रव्योंसे भिन्न चैतन्य स्वरूपका अनुभव [अतीव भाव्यम्] सर्वथा उपादेय है ऐसा मानकर अखण्डित धाराप्रवाहरूप अनुभव करनायोग्य है। कैसा होनेसे? “किल शुद्धात्मतत्त्वस्य उपलम्भात् एषः संवरः साक्षात् सम्पद्यते” [किल] निश्चयसे [शुद्धात्मतत्त्वस्य] जीवके शुद्धस्वरूपकी [उपलम्भात्] प्राप्ति होनेसे [एषः संवरः] नूतन कर्मके आगमनरूप आस्रवका निरोधलक्षण संवर [साक्षात् सम्पद्यते] सर्वथा प्रकार होता है। “सः भेदविज्ञानतः एव” [सः] शुद्धस्वरूपका प्रगटपना [भेदविज्ञानतः] शुद्धस्वरूपके अनुभवसे [एव] निश्चयसे होता है। “तस्मात्” तिस कारण भेदविज्ञान भी विनाशीक है तथापि उपादेय है ॥ ५-१२९ ॥

[अनुष्टुप]

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।**तावद्यावत्पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥ ६-१३० ॥**

[रोला]

अरे भव्यजन! भव्यभावना भेदज्ञान की ।**सच्चे मन से बिन विराम के तबतक भाना ॥****जबतक परसे हो विरक्त यह ज्ञान ज्ञान में ।****ही थिर न हो जाय अधिक क्या कहें जिनेश्वर ॥१३०॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदम् भेदविज्ञानम् तावत् अच्छिन्नधारया भावयेत्” [इदम् भेदविज्ञानम्] पूर्वोक्तलक्षण है जो शुद्ध स्वरूपका अनुभव उसका [तावत्] उतने काल तक [अच्छिन्नधारया] अखण्डित धाराप्रवाहरूपसे [भावयेत्] आस्वाद करे। “यावत् परात् च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते” [यावत्] जितने कालमें [परात् च्युत्वा] परसे छूटकर [ज्ञानं] आत्मा [ज्ञाने] शुद्धस्वरूपमें [प्रतिष्ठते] एकरूप परिणमे। भावार्थ इस प्रकार है — निरंतर शुद्धस्वरूपका अनुभव कर्तव्य है। जिस काल सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष होगा उस काल समस्त विकल्प सहज ही छूट जायेंगे। वहाँ भेदविज्ञान भी एक विकल्परूप है, केवलज्ञानके समान जीवका शुद्धस्वरूप नहीं है, इसलिए सहज ही विनाशीक है ॥ ६-१३० ॥

[अनुष्टुप]

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।**अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥ ७-१३१ ॥**

[रोला]

अबतक जो भी हुए सिद्ध या आगे होंगे ।**महिमा जानों एक मात्र सब भेदज्ञान की ॥****और जीव जो भटक रहे हैं भवसागर में ।****भेदज्ञान के ही अभाव से भटक रहे हैं ॥ १३१ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ये किल केचन सिद्धाः ते भेदविज्ञानतः सिद्धाः” [ये] आसन्न भव्यजीव है जो कोई [किल] निश्चयसे [केचन] संसारी जीवराशिमेंसे जो कोई गिनतीके [सिद्धाः] सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाणपदको प्राप्त हुए [ते] वे समस्त जीव [भेदविज्ञानतः] सकल परद्रव्यों से भिन्न शुद्धस्वरूपके अनुभवसे [सिद्धाः] मोक्षपदको प्राप्त हुए। भावार्थ इस प्रकार है — मोक्षका मार्ग शुद्धस्वरूपका अनुभव, अनादि संसिद्ध यही एक मोक्षमार्ग है। “ये केचन बद्धाः ते किल अस्य एव अभावतः बद्धाः” [ये केचन] जो कोई [बद्धाः] ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बँधे हैं [ते] वे समस्त जीव [किल] निश्चयसे [अस्य एव] ऐसा जो भेदविज्ञान, उसके [अभावतः] नहीं होनेसे [बद्धाः] बद्ध होकर संसारमें रुल रहे हैं। भावार्थ इस प्रकार है — भेदज्ञान सर्वथा उपादेय है ॥ ७-१३१ ॥

[मंदाक्रान्ता]

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भा-
 द्रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
 बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं
 ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥ ८-१३२ ॥

[रोला]

भेदज्ञान से शुद्धतत्त्व की उपलब्धि हो ।
 शुद्धतत्त्व की उपलब्धि से राग नाश हो ॥
 रागनाश से कर्मनाश अर कर्मनाश से ।
 ज्ञान ज्ञान में थिर होकर शाश्वत हो जावे ॥१३२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एतत् ज्ञानं उदितं” [एतत्] प्रत्यक्ष विद्यमान [ज्ञानं] शुद्ध चैतन्यप्रकाश [उदितं] आस्रवका निरोध करके प्रगट हुआ। कैसा है ? “ज्ञाने नियतम्” अनंत काल से परिणमता था अशुद्ध रागादि विभावरूप, वह काललब्धि पाकर अपने शुद्धस्वरूप परिणमा है। और कैसा है ? “शाश्वतोद्योतम्” अविनश्यर प्रकाश है जिसका, ऐसा है। और कैसा है ? “तोषं बिभ्रत्” अतीन्द्रिय सुखरूप परिणमा है। और कैसा है ? “परमम्” उत्कृष्ट है। और कैसा है ? “अमलालोकम्” सर्वथा प्रकार सर्व काल सर्व त्रैलोक्यमें निर्मल है — साक्षात् शुद्ध है। और कैसा है ? “अम्लानम्” सदा प्रकाशरूप है। और कैसा है ? “एकं” निर्विकल्प है। शुद्ध ज्ञान ऐसा जिस प्रकार हुआ है उसी प्रकार कहते हैं — “कर्मणां संवरेण” ज्ञानावरणादिरूप आस्रवते थे जो कर्मपुद्गल उनके निरोधसे। कर्म का निरोध जिस प्रकार हुआ है उस प्रकार कहते हैं — “रागग्रामप्रलयकरणात्” [राग] राग, द्वेष, मोहरूप अशुद्ध विभाव परिणाम, उनका [ग्राम] समूह — असंख्यात लोकमात्र भेद, उनका [प्रलय] मूलसे सत्तानाश, उसके [करणात्] करनेसे। ऐसा भी किस कारणसे ? “शुद्धतत्त्वोपलम्भात्” [शुद्धतत्त्व] शुद्ध चैतन्यवस्तु, उसकी [उपलम्भात्] साक्षात् प्राप्ति, उससे। ऐसा भी किस कारण से ? “भेदज्ञानोच्छलनकलनात्” [भेदज्ञान] शुद्धस्वरूप ज्ञान, उसका [उच्छलन] प्रगटपना, उसका [कलनात्] निरंतर अभ्यास, उससे। भावार्थ इस प्रकार है — शुद्ध स्वरूपका अनुभव उपादेय है ॥ ८-१३२ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- “अधुना निर्जरा व्याजृम्भते” [अधुना] यहाँसे लेकर [निर्जरा] पूर्वबद्ध कर्मका अकर्मरूप परिणाम [व्याजृम्भते] प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है — निर्जराका स्वरूप जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं। निर्जरा किसके निमित्त [किसके लिए] है? “तु तत् एव प्राग्बद्धं दग्धम्” [तु] संवरपूर्वक [तत्] जो ज्ञानावरणादि कर्म [एव] निश्चयसे [प्राग्बद्धं] सम्यक्त्वके नहीं होनेपर मिथ्यात्व, राग, द्वेष परिणामसे बँधा था उसको [दग्धम्] जलाने के लिए। कुछ विशेष — “संवरः स्थितः” संवर अग्रसर हुआ है जिसका, ऐसी है निर्जरा। भावार्थ इस प्रकार है — संवरपूर्वक जो निर्जरा सो निर्जरा, क्योंकि जो संवरके बिना होती है सब जीवोंको उदय देकर कर्मकी निर्जरा सो निर्जरा नहीं है। कैसा है संवर? “रागाद्यास्रवरोधतः निजधुरां धृत्वा आगामि समस्तम् एव कर्म भरतः दूरात् निरुन्धन्” [रागाद्यास्रवरोधतः] रागादि आस्रव भावोंके निरोधसे [निजधुरां] अपने एक संवररूप पक्षको [धृत्वा] धरता हुआ [आगामि] अखंड धाराप्रवाहरूप आस्रवित होनेवाले [समस्तम् एव कर्म] नाना प्रकारके ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय इत्यादि अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मको [भरतः] अपने बड़प्पनसे [दूरात् निरुन्धन्] पासमें आने नहीं देता है। संवरपूर्वक निर्जरा कहनेपर जो कुछ कार्य हुआ सो कहते हैं — “यतः ज्ञानज्योतिः अपावृत्तं रागादिभिः न मूर्च्छति” [यतः] जिस निर्जरा द्वारा [ज्ञानज्योतिः] जीवका शुद्ध स्वरूप [अपावृत्तं] निरावरण होता हुआ [रागादिभिः] अशुद्ध परिणामोंसे [न मूर्च्छति] अपने स्वरूपको छोड़कर रागादिरूप नहीं होता ॥ १-१३३ ॥

[अनुष्टुप]

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।**यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥ २-१३४ ॥**

[दोहा]

ज्ञानी न बंधे कर्मसे सब कर्म करते भोगते ।**यह ज्ञान की सामर्थ्य अर वैराग्य का बल जानिये ॥१३४॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तत् सामर्थ्यं किल ज्ञानस्य एव वा विरागस्य एव ” [तत् सामर्थ्यं] ऐसी सामर्थ्य [किल] निश्चयसे [ज्ञानस्य एव] शुद्ध स्वरूपके अनुभवकी है, [वा विरागस्य एव] अथवा रागादि अशुद्धपना छूटा है, उसकी है। वह सामर्थ्य कौन ? “ यत् कः अपि कर्म भुञ्जानः अपि कर्मभिः न बध्यते ” [यत्] जो सामर्थ्य ऐसी है कि [कः अपि] कोई सम्यग्दृष्टि जीव [कर्म भुञ्जानः अपि] पूर्व ही बाँधा है ज्ञानावरणादि कर्म उसके उदयसे हुई है शरीर, मन, वचन, इन्द्रिय, सुख, दुःखरूप नाना प्रकारकी सामग्री, उसको यद्यपि भोगता है तथापि [कर्मभिः] ज्ञानावरणादिसे [न बध्यते] नहीं बँधता है। जिस प्रकार कोई वैद्य प्रत्यक्षरूपसे विषको खाता है तो भी नहीं मरता है और गुण जानता है, इससे अनेक यत्न जानता है, उससे विषकी प्राणघातक शक्ति दूर करदी है। वही विष अन्य जीव खावे तो तत्काल मरे, उससे वैद्य नहीं मरता। ऐसी जानपनेकी सामर्थ्य है। अथवा कोई शूद्र मदिरा पीता है। परन्तु परिणामोंमें कुछ दुश्चिन्ता है, मदिरा पीनेमें रुचि नहीं है, ऐसा शूद्रजीव मतवाला नहीं होता। जैसा था वैसा ही रहता है। मद्य तो ऐसा है जो अन्य कोई पीता है तो तत्काल मतवाला होता है। सो जो कोई मतवाला नहीं होता ऐसा अरुचिपरिणामका गुण जानो। उसी प्रकार कोई सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकारकी सामग्रीको भोगता है, सुख—दुःखको जानता है, परन्तु ज्ञानमें शुद्धस्वरूप आत्माको अनुभवता है, उससे ऐसा अनुभवता है जो ऐसी सामग्री कर्मका स्वरूप है, जीवको दुःखमय है, जीवका स्वरूप नहीं, उपाधि है ऐसा जानता है। उस जीवको ज्ञानावरणादि कर्मका बंध नहीं होता है। सामग्री तो ऐसी है जो मिथ्यादृष्टि के भोगनेमात्र कर्मबंध होता है। जो जीवको कर्मबंध नहीं होता, वह जानपना की सामर्थ्य है ऐसा जानना। अथवा सम्यग्दृष्टि जीव नाना प्रकारके कर्मके उदयफल भोगता है, परन्तु अभ्यन्तर शुद्धस्वरूपको अनुभवता है, इसलिए कर्मके उदयफलमें रति नहीं उपजती, उपाधि जानता है, दुःख जानता है, इसलिए अत्यन्त रुखा है। ऐसे जीवके कर्मका बंध नहीं होता है, वह रूखे परिणामोंकी सामर्थ्य है ऐसा जानो। इसलिए ऐसा अर्थ ठहराया जो सम्यग्दृष्टि जीवके शरीर, इन्द्रिय आदि विषयोंका भोग निर्जराके लेखे में है, निर्जरा होती है। क्योंकि आगामी कर्म तो नहीं बँधता है, पिछला उदयफल देकर मूलसे निर्जर जाता है, इसलिए सम्यग्दृष्टिका भोग निर्जरा है ॥ २-१३४ ॥

[रथोद्धता]

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥ ३-१३५ ॥

[दोहा]

बंधे न ज्ञानी कर्म से, बल विराग अर ज्ञान ।
यद्यपि सेवें विषय को, तदपि असेवक जान ॥ १३५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तत् असौ सेवकः अपि असेवकः ” [तत्] तिस कारणसे [असौ] सम्यग्दृष्टि जीव [सेवकः अपि] कर्मके उदयसे हुआ है जो शरीर पञ्चेन्द्रिय विषय सामग्री, उसको भोगता है तथापि [असेवकः] नहीं भोगता है। किस कारण? “ यत् ना विषयसेवने अपि विषयसेवनस्य स्वं फलं न अश्नुते ” [यत्] जिस कारणसे [ना] सम्यग्दृष्टि जीव [विषयसेवने अपि] पञ्चेन्द्रिय संबंधी विषयोंको सेवता है तथापि [विषयसेवनस्य स्वं फलं] पञ्चेन्द्रिय भोगका फल है ज्ञानावरणादि कर्मका बंध, उसको [न अश्नुते] नहीं पाता है। ऐसा भी किस कारणसे? “ ज्ञानवैभवविरागताबलात् ” [ज्ञानवैभव] शुद्धस्वरूपका अनुभव, उसकी महिमा, उसके कारण अथवा [विरागताबलात्] कर्मके उदयसे है विषयका सुख, जीवका स्वरूप नहीं है, इसलिए विषयसुखमें रति नहीं उत्पन्न होती है, उदास भाव है, इस कारण कर्मबंध नहीं होता है। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जो भोग भोगता है सो निर्जरा के निमित्त है ॥ ३-१३५ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥ ४-१३६ ॥

[हरिगीत]

निजभाव को निज जान अपना पन करें जो आतमा ।
परभाव से हो भिन्न नित निज में रमें जो आतमा ॥
वे आतमा सदृष्टि उनके ज्ञान अर वैराग्य बल ।
हो नियम से- यह जानिये पहिचानिये निज आत्मबल ॥ १३६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सम्यग्दृष्टेः नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः भवति ” [सम्यग्दृष्टेः] द्रव्यरूपसे मिथ्यात्वकर्म उपशमा है, भावरूपसे शुद्ध सम्यक्त्वभावरूप परिणमा है जो जीव, उसके [ज्ञान] शुद्धस्वरूपका अनुभवरूप जानपना, [वैराग्य] जितने परद्रव्य द्रव्यकर्मरूप, भावकर्मरूप, नोकर्मरूप ज्ञेयरूप है उन समस्त परद्रव्योंका सर्व प्रकार त्याग — [शक्तिः] ऐसी दो शक्तियाँ [नियतं भवति] अवश्य होती हैं—सर्वथा होती हैं। दोनों शक्तियाँ जिस प्रकार होती हैं उस प्रकार कहते हैं—
“ यस्मात् अयं

स्वस्मिन् आस्ते परात् सर्वतः रागयोगात् विरमति ’’ [यस्मात्] जिस कारण [अयं] सम्यग्दृष्टि [स्वस्मिन् आस्ते] सहज ही शुद्धस्वरूपमें अनुभवरूप होता है तथा [परात् रागयोगात्] पुद्गलद्रव्यकी उपाधिसे है जितनी रागादि अशुद्ध परिणति उससे [सर्वतः विरमति] सर्व प्रकार रहित होता है। भावार्थ इस प्रकार है — ऐसा लक्षण सम्यग्दृष्टि जीवके अवश्य होता है। ऐसा लक्षण होनेपर अवश्य वैराग्य गुण है। क्या करके ऐसा होता है? ‘‘स्वं परं च इदं व्यतिकरम् तत्त्वतः ज्ञात्वा’’ [स्वं] शुद्ध चैतन्यमात्र मेरा स्वरूप है, [परं] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मका विस्तार पराया — पुद्गल द्रव्यका है, [इदं व्यतिकरम्] ऐसा विवरण [तत्त्वतः ज्ञात्वा] कहनेके लिए नहीं है, वस्तुस्वरूप ऐसा ही है ऐसा अनुभवरूप जानता है सम्यग्दृष्टि जीव, इसलिए ज्ञानशक्ति है। आगे इतना करता है सम्यग्दृष्टि जीव सो किसके लिए? उत्तर इस प्रकार है — ‘‘स्वं वस्तुत्वं कलयितुम्’’ [स्वं वस्तुत्वं] अपना शुद्धपना, उसके [कलयितुम्] निरंतर अभ्यास अर्थात् वस्तुकी प्राप्तिके निमित्त। उस वस्तुकी प्राप्ति किससे होती है? ‘‘स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या’’ अपने शुद्ध स्वरूपका लाभ परद्रव्यका सर्वथा त्याग ऐसे कारणसे॥ ४-१३६॥

[मंदाक्रान्ता]

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः॥ ५-१३७॥

[हरिगीत]

मैं स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ हूँ बंध से विरहित सदा।
यह मानकर अभिमान में पुलकित वदन मस्तक उठा॥
जो समिति आलंबे महाव्रत आचरे पर पापमय।
दिग्मूढ़ जीवों का अरे जीवन नहीं अध्यात्ममय॥१३७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- इस बार ऐसा कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीवके विषय भोगते हुए कर्मका बंध नहीं है, सो कारण ऐसा है कि सम्यग्दृष्टिका परिणाम अति ही रूखा है, इसलिए भोग ऐसा लगता है मानो कोई रोगका उपसर्ग होता है। इसलिए कर्मका बंध नहीं है, ऐसा ही है। जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव पञ्चेन्द्रियोंके विषयके सुखको भोगते हैं वे परिणामोंसे चिकने हैं, मिथ्यात्व भावका ऐसा ही परिणाम है, सहारा किसका है। सो वे जीव ऐसा मानते हैं कि हम भी सम्यग्दृष्टि हैं, हमारे भी विषयसुख भोगते हुए कर्मका बंध नहीं है। सो वे जीव धोखेमें पड़े हैं, उनको कर्मका बंध अवश्य है। इसलिए वे जीव मिथ्यादृष्टि अवश्य है। मिथ्यात्वभावके बिना कर्मकी सामग्रीमें प्रीति नहीं उपजती है, ऐसा कहते हैं — ‘‘ते रागिणः अद्यापि पापाः’’ [ते] मिथ्यादृष्टि जीवराशि [रागिणः] शरीर पञ्चेन्द्रियके भोगसुखमें अवश्यकर रंजक हैं। [अद्यापि] करोड़ उपाय जो करे अनंत कालतक तथापि [पापाः] पापमय है। ज्ञानावरणादि कर्मबंधको करते हैं, महानिन्द्य हैं।

किस कारणसे ऐसे हैं? “यतः सम्यक्त्वरिक्ताः सन्ति” [यतः] जिस कारणसे विषयसुख रंजक हैं जितनी जीवराशि वे, [सम्यक्त्वरिक्ताः सन्ति] शुद्धात्मस्वरूपके अनुभवसे शून्य हैं। किस कारणसे? “आत्मानात्मावगमविरहात्” [आत्मा] शुद्ध चैतन्य वस्तु, [अनात्मा] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म, उनका [अवगम] हेयउपादेयरूप भिन्नपनेरूप जानपना, उसका [विरहात्] शून्यपना होनेसे। भावार्थ इस प्रकार है — मिथ्यादृष्टि जीवके शुद्ध वस्तुके अनुभवकी शक्ति नहीं होती ऐसा नियम है, इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव कर्मका उदय आया जानकर अनुभवता है, पर्यायमात्रमें अत्यंत रत है। इस कारण मिथ्यादृष्टि सर्वथा रागी है। रागी होनेसे कर्मबंध कर्ता है। कैसा है मिथ्यादृष्टि जीव? “अयम् अहं स्वयम् सम्यग्दृष्टिः जातु मे बन्धः न स्यात्” [अयम् अहं] यह जो हूँ मैं, [स्वयम् सम्यग्दृष्टिः] स्वयं सम्यग्दृष्टि हूँ, इस कारण [जातु] त्रिकाल ही [मे बन्धः न स्यात्] अनेक प्रकारका विषयसुख भोगते हुए भी हमें तो कर्मका बंध नहीं है। “इति आचरन्तु” ऐसे जीव ऐसा मानते हैं तो मानो तथापि उनके कर्मबंध हैं। और कैसे हैं? “उत्तानोत्पुलकवदनाः” [उत्तान] ऊँचा कर [उत्पुलक] फुलाया है [वदनाः] गाल—मुख जिन्होंने, ऐसे हैं। “अपि” अथवा कैसे हैं? “समितिपरतां आलम्बन्तां” [समिति] मौनपना अथवा थोड़ा बोलना अथवा अपने को हीना करके बोलना, इनका [परतां] समानरूप सावधानपना, उसको [आलम्बन्तां] अवलंबन करते हैं अर्थात् सर्वथा प्रकार इस रूप प्रकृतिका स्वभाव है जिनका, ऐसे हैं। तथापि रागी होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं, कर्मका बंध करते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — जो कोई जीव पर्यायमात्रमें रत होते हुए प्रगट मिथ्यादृष्टि हैं उनकी प्रकृतिका स्वभाव है कि ‘हम सम्यग्दृष्टि, हमें कर्मका बंध नहीं’ ऐसा मुखसे गरजते हैं, कितने ही प्रकृतिके स्वभावके कारण मौन—सा रहते हैं, कितने थोड़ा बोलते हैं। सो ऐसा होकर रहते हैं सो यह समस्त प्रकृतिका स्वभावभेद है। इसमें परमार्थ तो कुछ नहीं। जितने काल तक जीव पर्यायमें आपापन अनुभवता है उतने काल तक मिथ्यादृष्टि है, रागी है, कर्मका बंध करता है॥ ५—१३७॥

[मंदाक्रान्ता]

आसंसारत्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः

सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।

एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः।

शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ ६—१३८॥

[हरिगीत]

अपदपद में मत्त नित अन्धे जगत के प्राणियों ।

यह पद तुम्हारा पद नहीं निज जानकर क्यों सो रहे॥

जागो इधर आओ रहो नित मगन परमानन्द में।

हो परमपदमय तुम स्वयं तुम स्वयं हो चैतन्यमय॥१३८॥

खंडान्वय सहित अर्थः— “भो अन्धाः” [भो] सम्बोधन वचन, [अन्धाः] शुद्ध स्वरूपके अनुभवसे शून्य है जितनी जीवराशि। “तत् अपदम् अपदं विबुध्यध्वम्”

[तत्] कर्मके उदयसे है जो चार गतिरूप पर्याय तथा रागादि अशुद्ध परिणाम तथा इन्द्रियविषयजनित सुख-दुःख इत्यादि अनेक हैं वह [अपदम् अपदं] जितना कुछ है — कर्म संयोग की उपाधि है, दो बार कहने पर सर्वथा जीवका स्वरूप नहीं है, [विबुध्यध्वम्] ऐसा अवश्य कर जानो। कैसा है मायाजाल? “यस्मिन् अमी रागिणः आसंसारत् सुप्ताः” [यस्मिन्] जिसमें—कर्मका उदयजनित अशुद्ध पर्यायमें [अमी रागिणः] प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान हैं जो पर्यायमात्र में राग करने वाले जीव वे [आसंसारत् सुप्ताः] अनादि कालसे लेकर सोए हैं अर्थात् अनादि कालसे उसरूप अपने को अनुभवते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — अनादि कालसे लेकर ऐसे स्वादको सर्व मिथ्यादृष्टि जीव आस्वादते हैं कि ‘मैं देव हूँ, मनुष्य हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ,’ ऐसा पर्यायमात्रको आपा अनुभवते हैं, इसलिए सर्व जीवराशि जैसा अनुभवती है सो सर्व झूठा है, जीवका तो स्वरूप नहीं है। कैसी है सर्व जीवराशि? “प्रतिपदम् नित्यमत्ताः [प्रतिपदम्] जैसी पर्याय ली उसीरूप [नित्यमत्ताः] ऐसे मतवाले हुए कि कोई काल कोई उपाय करनेपर मतवालापन उतरता नहीं। शुद्ध चैतन्यस्वरूप जैसा है वैसा दिखलाते हैं — “इतः एत एत” पर्यायमात्र अवधारा है आपा, ऐसे मार्ग मत जाओ, मत जाओ, क्योंकि [वह] तेरा मार्ग नहीं है, नहीं है। इस मार्ग पर आओ, अरे! आओ, क्योंकि “इदम् पदम् इदं पदं” तेरा मार्ग यहाँ है, यहाँ है। “यत्र चैतन्यधातुः” [यत्र] जिसमें [चैतन्यधातुः] चेतनामात्र वस्तुका स्वरूप है। कैसा है? “शुद्धः शुद्धः” सर्वथा प्रकार सर्व उपाधिसे रहित है। ‘शुद्ध शुद्ध’ दो बार कहकर अत्यंत गाढ़ किया है। और कैसा है? “स्थायिभावत्वम् एति” अविनश्वर भावको पाता है। किस कारणसे? “स्वरसभरतः” [स्वरस] चेतनास्वरूप उसके [भरतः] भारसे अर्थात् कहनामात्र नहीं है, सत्यस्वरूप वस्तु है, इसलिए नित्य शाश्वत है। भावार्थ इस प्रकार है — जिसको—पर्यायको मिथ्यादृष्टि जीव आपाकर जानता है वे तो सर्व विनाशीक हैं, इसलिए जीवका स्वरूप नहीं हैं। चेतनामात्र अविनाशी है, इसलिए जीवका स्वरूप है।। ६-१३८।।

[अनुष्टुप्]

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।

अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः।। ७-१३९।।

[हरिगीत]

अरे जिसके सामने हों सभी पद भासित अपद।

सब अपदाओं से रहित आराध्य है वह ज्ञान पद।। १३९।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् पदम् स्वाद्यं” [तत्] शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तुरूप [पदम्] मोक्षका कारण [स्वाद्यं] निरंतर अनुभव करना। कैसा है? “हि एकम् एव” [हि] निश्चयसे [एकम् एव] समस्त भेद विकल्पसे रहित निर्विकल्प वस्तुमात्र है। और कैसा है? “विपदाम् अपदं” [विपदाम्] चतुर्गति संसार संबंधी नाना प्रकारके दुःखोंका [अपदं] अभावलक्षण है। भावार्थ इस प्रकार है — आत्मा सुखस्वरूप है। साता—

असाताकर्मके उदयके संयोग होते हैं जो सुख—दुःख सो जीवका स्वरूप नहीं है, कर्मकी उपाधि हैं। और कैसा है? “यत्पुरः अन्यानि पदानि अपदानि एव भासन्ते” [यत्पुरः] जिस शुद्धस्वरूपका अनुभवरूप आस्वाद आनेपर [अन्यानि पदानि] चार गतिकी पर्याय, राग, द्वेष, मोह, सुख—दुःखरूप इत्यादि जितने अवस्थाभेद हैं वे [अपदानि एव भासन्ते] जीवका स्वरूप नहीं हैं, उपाधिरूप हैं, विनश्वर हैं, दुःखरूप हैं, ऐसा स्वाद स्वानुभवप्रत्यक्षरूपसे आता है। भावार्थ इस प्रकार है — शुद्ध चिद्रूप उपादेय, अन्य समस्त हेय॥ ७—१३९॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं
सामान्यं कलयन् किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम्॥ ८-१४०॥**

[हरिगीत]

**उस ज्ञानके आस्वाद में ही नित रमे जो आतमा।
अर द्वन्द्वमय आस्वाद में असमर्थ है जो आतमा॥
आत्मानुभव के स्वाद में ही मगन है जो आतमा।
सामान्य में एकत्व को धारण करे वह आतमा॥१४०॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एषः आत्मा सकलं ज्ञानं एकताम् नयति” [एषः आत्मा] वस्तुरूप विद्यमान चेतनद्रव्य [सकलं ज्ञानं] जितनी पर्यायरूप परिणमा है ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि अनेक विकल्परूप परिणमा है ज्ञान, उसको [एकताम्] निर्विकल्परूप [नयति] अनुभवता है। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार उष्णतामात्र अग्नि है, इसलिए दाह्यवस्तुको जलाती हुई दाह्यके आकार परिणमती है, इसलिए लोगोंको ऐसी बुद्धि उपजती है कि काष्ठकी अग्नि, छानाकी अग्नि, तृणकी अग्नि। सो ये समस्त विकल्प झूठे हैं। अग्निके स्वरूपका विचार करनेपर उष्णतामात्र अग्नि है, एकरूप है। काष्ठ, छाना, तृण अग्निका स्वरूप नहीं है उसी प्रकार ज्ञान चेतनाप्रकाशमात्र है, समस्त ज्ञेयवस्तुको जाननेका स्वभाव है, इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तुको जानता है, जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है। इससे ज्ञानी जीवको ऐसी बुद्धि उपजती है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ऐसे भेद विकल्प सब झूठे हैं। ज्ञेयकी उपाधिसे मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ऐसे विकल्प उपजे हैं। कारण कि ज्ञेयवस्तु नाना प्रकार है। जैसे ही ज्ञेयका ज्ञायक होता है वैसा ही नाम पाता है, वस्तुस्वरूपका विचार करनेपर ज्ञानमात्र है। नाम धरना सब झूठा है। ऐसा अनुभव शुद्ध स्वरूपका अनुभव है। “किल” निश्चयसे ऐसा ही है। कैसा है अनुभवशीली आत्मा? “एकज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्” [एक] निर्विकल्प ऐसा जो [ज्ञायकभाव] चेतनद्रव्य, उसमें [निर्भर] अत्यंत मग्नपना, उससे हुआ है [महास्वाद] अनाकुललक्षण सौख्य, उसको [समासादयन्] आस्वादता हुआ।

और कैसा है ? “ द्वन्द्वमयं स्वादं विधातुम् असहः ” [द्वन्द्वमयं] कर्मके संयोगसे हुआ है विकल्परूप आकुलतारूप [स्वादं] अज्ञानी जन सुख करके मानते हैं परंतु दुःखरूप है ऐसा जो इन्द्रिय विषयजनित सुख उसको [विधातुम्] अंगीकार करने के लिए [असहः] असमर्थ है। भावार्थ इस प्रकार है — विषय कषायको दुःखरूप जानते हैं। और कैसा है ? “ स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ” [स्वां] अपना द्रव्यसंबंधी [वस्तुवृत्तिं] आत्माका शुद्ध स्वरूप, उससे [विदन्] तद्रूप परिणमता हुआ। और कैसा है ? “ आत्मात्मानुभवानुभावविवशः ” [आत्मा] चेतनद्रव्य, उसका [आत्मानुभव] आस्वाद उसकी [अनुभाव] महिमा उसके द्वारा [विवशः] गोचर है। और कैसा है ? “ विशेषोदयं भ्रश्यत् ” [विशेष] ज्ञानपर्याय उसके द्वारा [उदयं] नाना प्रकार उनको [भ्रश्यत्] मेटता हुआ। और कैसा है ? “ सामान्यं कलयन् ” [सामान्यं] निर्भेद सत्तामात्र वस्तुको [कलयन्] अनुभव करता हुआ। ८-१४०॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
वल्गात्युत्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥ ९-१४१ ॥

[हरिगीत]

सब भाव पी संवेदनाएँ मत्त होकर स्वयं ही ।
हों उछलती जिस भावमें अद्भुत निधि वह आतमा ॥
भगवान वह चैतन्य रत्नाकर सदा ही एक है ।
फिर भी अनेकाकार होकर स्वयं में ही उछलता ॥१४१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सः एषः चैतन्यरत्नाकरः ” [सः एषः] जिसका स्वरूप कहा है तथा कहेंगे ऐसा [चैतन्यरत्नाकरः] जीवद्रव्यरूपी महासमुद्र। भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य समुद्रकी उपमा देकर कहा गया है सो इतना कहनेपर द्रव्यार्थिकनयसे एक है, पर्यायार्थिकनयसे अनेक है। जिसप्रकार समुद्र एक है, तरंगावलिसे अनेक है। “ उत्कलिकाभिः ” समुद्रके पक्षमें तरंगावलि, जीवके पक्षमें एक ज्ञानगुणके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान इत्यादि अनेक भेद उनके द्वारा “ वल्गाति ” अपने बलसे अनादि कालसे परिणम रहा है। कैसा है ? “ अभिन्नरसः ” जितनी पर्याय हैं उनसे भिन्न सत्ता नहीं है, एक ही सत्त्व है। और कैसा है ? “ भगवान् ” ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनेक गुणोंसे बिराजमान है। और कैसा है ? “ एकः अपि अनेकीभवन् ” [एकः अपि] सत्तास्वरूपसे एक है तथापि [अनेकीभवन्] अंशभेद करनेपर अनेक है। और कैसा है ? “ अद्भुतनिधिः ” [अद्भुत] अनंत कालतक चारों गतियोंमें फिरते हुए जैसा सुख कहीं नहीं पाया ऐसे सुखका [निधिः] निधान है। और कैसा है ? “ यस्य इमाः संवेदनव्यक्तयः स्वयं उच्छलन्ति ” [यस्य] जिस द्रव्यके [इमाः] प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान [संवेदन]

ज्ञान, उसके [**व्यक्तयः**] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान इत्यादि अनेक पर्यायरूप अंशभेद [**स्वयं**] द्रव्यका सहज ऐसा ही है उस कारण [**उच्छलन्ति**] अवश्य प्रगट होते हैं। भावार्थ इस प्रकार है — कोई आशंका करेगा कि ज्ञान तो ज्ञानमात्र है, ऐसे जो मतिज्ञान आदि पांच भेद वे क्यों हैं? समाधान इस प्रकार है — जो ज्ञानकी पर्याय है, विरुद्ध तो कुछ नहीं। वस्तुका ऐसा ही सहज है। पर्यायमात्र विचारनेपर मति आदि पांच भेद विद्यमान है, वस्तुमात्र अनुभवनेपर ज्ञानमात्र है। विकल्प जितने हैं उतने समस्त झूठे हैं, क्योंकि विकल्प कोई वस्तु नहीं है, वस्तु तो ज्ञानमात्र है। कैसी है संवेदन व्यक्ति? [**अच्छाच्छाः**] निर्मलसे भी निर्मल है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई ऐसा मानेगा कि जितनी ज्ञानकी पर्याय हैं वे समस्त अशुद्धरूप हैं सो ऐसा तो नहीं, कारण कि जिस प्रकार ज्ञान शुद्ध है उसी प्रकार ज्ञानकी पर्याय वस्तुका स्वरूप है, इसलिए शुद्धस्वरूप है। परंतु एक विशेष—पर्यायमात्रका अवधारण करनेपर विकल्प उत्पन्न होता है, अनुभव निर्विकल्प है, इसलिए वस्तुमात्र अनुभवनेपर समस्त पर्यायभी ज्ञानमात्र है, इसलिए ज्ञानमात्र अनुभवयोग्य है। और कैसी है संवेदनव्यक्ति? “ **निःपीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ताः इव** ” [**निःपीत**] निगला है [**अखिल**] समस्त [**भाव**] जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, आकाश ऐसे समस्त द्रव्य उनका [**मण्डल**] अतीत, अनागत, वर्तमान अनंत पर्याय ऐसा है [**रस**] रसायनभूत दिव्य औषधि उसका [**प्राग्भार**] समूह उसके द्वारा [**मत्ताः इव**] मग्न हुई है ऐसी है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई परम रसायनभूत दिव्य औषधि पीता है तो सर्वांग तरंगावलिसेी उपजती है उसी प्रकार समस्त द्रव्योंके जाननेमें समर्थ है ज्ञान, इसलिए सर्वांग आनंदतरंगावलिसे गर्भित है॥ ९-१४१॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥ १०-१४२ ॥**

[हरिगीत]

**पंचाग्नि तप या महाव्रत कुछ भी करो सिद्धि नहीं ।
जाने बिना निज आत्मा जिनवर कहे सब व्यर्थ है॥
मोक्षमय जो ज्ञानपद वह ज्ञान से ही प्राप्त हो ।
निज ज्ञान गुण के बिना उसको कोई पा सकता नहीं॥१४२॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ परे इदं ज्ञानं ज्ञानगुणं विना प्राप्तुं कथम् अपि न हि क्षमन्ते ” [परे] शुद्धस्वरूप अनुभवसे भ्रष्ट हैं जो जीव वे [**इदं ज्ञानं**] पूर्व ही कहा है समस्त भेदविकल्पसे रहित ज्ञानमात्र वस्तु उसको [**ज्ञानगुणं विना**] शुद्धस्वरूप अनुभवशक्तिके बिना [**प्राप्तुं**] प्राप्त करनेको [**कथम् अपि**] हजार उपाय किये जाँय तो भी [**न हि क्षमन्ते**] निश्चयसे समर्थ नहीं होते हैं। कैसा है ज्ञानपद? “ **साक्षात् मोक्षः** ”

प्रत्यक्षतया सर्वथा प्रकार मोक्षस्वरूप है। और कैसा है? “निरामयपदं” जितने उपद्रव क्लेश हैं उन सबसे रहित है। और कैसा है? “स्वयं संवेद्यमानं” [स्वयं] आपके द्वारा [संवेद्यमानं] आस्वाद करनेयोग्य है। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानगुण ज्ञानगुणके द्वारा अनुभवयोग्य है, कारणान्तरके द्वारा ज्ञानगुण ग्राह्य नहीं। कैसी है मिथ्यादृष्टि जीवराशि? “कर्मभिः क्लिश्यन्तां” [कर्मभिः] विशुद्ध शुभोपयोगरूप परिणाम, जैनोक्त सूत्रका अध्ययन, जीवादि द्रव्योंके स्वरूपका बारंबार स्मरण, पञ्च परमेष्ठीकी भक्ति इत्यादि हैं जो अनेक क्रियाभेद उनके द्वारा [क्लिश्यन्ता] बहुत आक्षेप [घटाटोप] करते हैं तो करो तथापि शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति होगी सो तो शुद्ध ज्ञान द्वारा होगी। कैसी है करतूति? “स्वयम् एव दुष्करतरैः” [स्वयम् एव] सहजपने [दुष्करतरैः] कष्टसाध्य है। भावार्थ इस प्रकार है कि जितनी क्रिया है वह सब दुःखात्मक है। शुद्धस्वरूप अनुभवकी नाई सुखस्वरूप नहीं है। और कैसी है? “मोक्षोन्मुखैः” [मोक्ष] सकल कर्मक्षय उसकी [उन्मुखैः] परम्परा — आगे मोक्षका कारण होगी ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है सो झूठा है। “च” और कैसे हैं मिथ्यादृष्टि जीव? “महाव्रततपोभारेण चिरं भग्नाः क्लिश्यन्तां” [महाव्रत] हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म, परिग्रहसे रहितपना [तपः] महा परीषहोंका सहना उनका [भार] बहुत बोझ उसके द्वारा [चिरं] बहुत काल पर्यन्त [भग्नाः] मरके चूरा होते हुए [क्लिश्यन्तां] बहुत कष्ट करते हैं तो करो तथापि ऐसा करते हुए कर्मक्षय तो नहीं होता। १०-१४२।

[द्रुतविलंबित]

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं
सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्
कलयितुं यततां सततं जगत् ॥ ११-१४३ ॥

[दोहा]

क्रियाकाण्ड से ना मिले, यह आतम अभिराम।
ज्ञानकला से सहज ही सुलभ आतमाराम ॥
अतः जगत के प्राणियों! छोड़ जगत की आश।
ज्ञानकला का ही अरे! करो नित्य अभ्यास ॥ १४३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ततः ननु इदं जगत् इदं पदम् कलयितुं सततं यततां” [ततः] तिस कारणसे [ननु] अहो [इदं जगत्] विद्यमान है जो त्रैलोक्यवर्ती जीवराशि वह [इदं पदम्] निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र वस्तु उसका [कलयितुं] निरंतर अभ्यास करनेके निमित्त [सततं] अखण्ड धाराप्रवाहरूप [यततां] यत्न करे। किस कारण के द्वारा? “निजबोधकलाबलात्” [निजबोध] शुद्ध ज्ञान उसका [कला] प्रत्यक्ष अनुभव उसका [बलात्] सामर्थ्यपना उससे। क्योंकि “किल” निश्चयसे ज्ञानपद “कर्मदुरासदं” [कर्म] जितनी क्रिया है उससे [दुरासदं] अप्राप्य है और

“सहजबोधकलासुलभं” [सहजबोध] शुद्ध ज्ञान उसका [कला] निरंतर अनुभव उसके द्वारा [सुलभं] सहज ही प्राप्त होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुभ अशुभरूप हैं जितनी क्रिया उनका ममत्व छोड़कर एक शुद्ध स्वरूप—अनुभव कारण है।। ११—१४३।।

[उपजाति]

**अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देव-
चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते
ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण।। १२—१४४।।**

[दोहा]

**अचिन्त्यशक्ति धारक अरे चिन्तामणि चैतन्य।
सिद्धारथ यह आत्मा ही है कोई न अन्य।।
सभी प्रयोजन सिद्ध हैं फिर क्यों पर की आश।
ज्ञानी जाने यह रहस्य करे न पर की आश।। १४४।।**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ज्ञानी [ज्ञानं] विधत्ते” [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [ज्ञानं] निर्विकल्प चिद्रूप वस्तुको [विधत्ते] निरंतर अनुभवता है। क्या जानकर? “सर्वार्थसिद्धात्मतया” [सर्वार्थसिद्ध] चतुर्गति संसारसंबंधी दुःखका विनाश, अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्ति [आत्मतया] ऐसा कार्य सिद्ध होता है जिससे ऐसा है शुद्ध ज्ञानपद। “अन्यस्य परिग्रहेण किम्” [अन्यस्य] शुद्धस्वरूप अनुभव उससे बाह्य हैं जितने विकल्प। विवरण—शुभ—अशुभ क्रियारूप अथवा रागादि विकल्परूप अथवा द्रव्योंके भेदविचाररूप ऐसे हैं जो अनेक विकल्प उनका [परिग्रहेण] सावधानरूपसे प्रतिपालन अथवा आचरण अथवा स्मरण उसके द्वारा [किम्] कौन कार्यसिद्धि, अपितु कोई कार्यसिद्धि नहीं। ऐसा किस कारणसे? “यस्मात् एषः स्वयं चिन्मात्रचिन्तामणिः एव” [यस्मात्] जिस कारणसे [एषः] शुद्ध जीववस्तु [स्वयम्] आपमें [चिन्मात्रचिन्तामणिः] शुद्ध ज्ञानमात्र ऐसा अनुभव चिन्तामणि रत्न है। [एव] इस बातको निश्चय जानना, धोखा कुछ नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार किसी पुण्यवान जीवके हाथमें चिन्तामणिरत्न होता है, उससे सब मनोरथ पूरा होता है, वह जीव लोहा, तांबा, रूपा ऐसी धातुका संग्रह करता नहीं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके पास शुद्धस्वरूप—अनुभव ऐसा चिन्तामणिरत्न है, उसके द्वारा सकलकर्मक्षय होता है। परमात्मपदकी प्राप्ति होती है। अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्ति होती है। वह सम्यग्दृष्टि जीव शुभ—अशुभरूप अनेक क्रियाविकल्प का संग्रह करता नहीं, कारण कि इनसे कार्यसिद्धि नहीं होती। और कैसा है? “अचिन्त्यशक्तिः” वचनगोचर नहीं है महिमा जिसकी ऐसा है। और कैसा है? “देवः” परम पूज्य है।। १२—१४४।।

[वसन्ततिलका]

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव
सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम्।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद्
भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः॥ १३-१४५॥

[सोरठा]

सभी परिग्रह त्याग इस प्रकार सामान्य से।
विविध वस्तु परित्याग अब आगे विस्तार से॥१४५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अधुना अयं भूयः प्रवृत्तः” [अधुना] यहाँसे आरंभ कर [अयं] ग्रंथका कर्ता [भूयः प्रवृत्तः] कुछ विशेष कहनेका उद्यम करता है। कैसा है ग्रंथका कर्ता? “अज्ञानम् उज्झितुमना” [अज्ञानम्] जीवका कर्मका एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्वभाव वह [उज्झितुमना] जैसे छूटे वैसा है अभिप्राय जिसका ऐसा है। क्या कहना चाहता है? “तम् एव विशेषात् परिहर्तुम्” [तम् एव] जितना परद्रव्यरूप परिग्रह है उसको [विशेषात् परिहर्तुम्] भिन्न भिन्न नामोंके विवरण सहित छोड़ने के लिए अथवा छुड़ाने के लिए। यहाँ तक कहा सो क्या कहा? “इत्थं समस्तम् एव परिग्रहम् सामान्यतः अपास्य” [इत्थं] यहाँ तक जो कुछ कहा सो ऐसा कहा [समस्तम् एव परिग्रहम्] जितनी पुद्गलकर्मकी उपाधिरूप सामग्री उसको [सामान्यतः अपास्य] जो कुछ परद्रव्य सामग्री है सो त्याज्य है ऐसा कहकर परद्रव्यका त्याग कहा। अब विशेषरूप कहते हैं। विशेषार्थ इस प्रकार है — जितना परद्रव्य उतना त्याज्य है ऐसा कहा। अब क्रोध परद्रव्य है, इसलिए त्याज्य है। मान परद्रव्य है, इसलिए त्याज्य है इत्यादि। भोजन परद्रव्य है, इसलिए त्याज्य है। पानी पीना परद्रव्य है, इसलिए त्याज्य है। कैसा है परद्रव्य परिग्रह? “स्वपरयोः अविवेकहेतुम्” [स्व] शुद्ध चिद्रूपमात्र वस्तु [परयोः] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म उनके [अविवेक] एकत्वरूप संस्कार उसका [हेतुम्] कारण है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीवकी जीव कर्ममें एकत्वबुद्धि है, इसलिए मिथ्यादृष्टिके पर द्रव्यका परिग्रह घटित होता है। सम्यग्दृष्टि जीवके भेदबुद्धि है, इसलिए पर द्रव्यका परिग्रह घटित नहीं होता। ऐसा अर्थ यहाँ से लेकर कहा जायगा॥१३-१४५॥

[स्वागता]

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्
 ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
 तद्भवत्वथ च रागवियोगात्
 नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥ १४-१४६ ॥

[दोहा]

होंय कर्म के उदय से, ज्ञानी के जो भोग ।
 परिग्रहत्व पावे नहीं, क्योंकि रागवियोग ॥ १४६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यदि ज्ञानिनः उपभोगः भवति तत् भवतु” [यदि] जो कदाचित् [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [उपभोगः] शरीर आदि संपूर्ण भोगसामग्री [भवति] सम्यग्दृष्टि जीव भोगता है, [तत्] तो [भवतु] सामग्री होवे। सामग्रीका भोग भी होवे। “नूनम् परिग्रहभावम् न एति” [नूनम्] निश्चयसे [परिग्रहभावम्] विषय —सामग्रीकी स्वीकारता ऐसे अभिप्रायको [न एति] नहीं प्राप्त होता है। किस कारणसे? “अथ च रागवियोगात्” [अथ च] वहाँसे लेकर सम्यग्दृष्टि हुआ, [रागवियोगात्] वहाँसे लेकर विषयसामग्रीमें राग, द्वेष, मोहसे रहित हुआ, इस कारणसे। कोई प्रश्न करता है कि ऐसे विरागीके—सम्यग्दृष्टि जीवके विषयसामग्री क्यों होती है? उत्तर इस प्रकार है—“पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात्” [पूर्वबद्ध] सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके पहले मिथ्यादृष्टि जीव था, रागी था, वहाँ रागभावके द्वारा बाँधा था जो [निजकर्म] अपने प्रदेशोंमें ज्ञानावरणादिरूप कर्मणवर्गणा उसके [विपाकात्] उदयसे। भावार्थ इस प्रकार है कि राग द्वेष मोह परिणामके मिटनेपर पर द्रव्यरूप बाह्य सामग्रीका भोग बंधका कारण नहीं है, निर्जराका कारण है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव अनेक प्रकारकी विषयसामग्री भोगता है परंतु रंजक परिणाम नहीं है, इसलिए बंध नहीं है, पूर्व में बाँधा था जो कर्म उसकी निर्जरा है ॥ १४-१४६ ॥

[स्वागता]

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्
वेद्यते न खलु कांक्षितमेव ।
तेन कांक्षति न किञ्चन विद्वान्
सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १५-१४७ ॥

[हरिगीत]

हम जिन्हें चाहें अरे उनका भोग हो सकता नहीं ।
क्योंकि पलपल प्रलय पावें वेद्य-वेदक भाव सब ॥
बस इसलिये सबके प्रति अति ही विरक्त रहें सदा ।
चाहें न कुछ भी जगत में निजतत्त्वविद विद्वानजन ॥ १४७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तेन विद्वान् किञ्चन न कांक्षति ” [तेन] तिस कारणसे [विद्वान्] सम्यग्दृष्टि जीव [किञ्चन] कर्मका उदय करता है नाना प्रकारकी सामग्री उसमेंसे कोई सामग्री [न कांक्षति] कर्मकी सामग्रीमें कोई सामग्री जीवको सुखका कारण ऐसा नहीं मानता है, सर्व सामग्री दुःखका कारण ऐसा मानता है। और कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? “ सर्वतः अतिविरक्तिम् उपैति ” [सर्वतः] जितनी कर्मजनित सामग्री है उससे मन, वचन, काय त्रिशुद्धि के द्वारा [अतिविरक्तिम्] सर्वथा त्यागरूप [उपैति] परिणमता है। किस कारणसे ऐसा है ? “ यतः खलु कांक्षितम् न वेद्यते एव ” [यतः] जिस कारणसे [खलु] निश्चयसे [कांक्षितम्] जो कुछ चिंतवन किया है वह [न वेद्यते] नहीं प्राप्त होता है। [एव] ऐसा ही है। किस कारणसे ? “ वेद्यवेदकविभावचलत्वात् ” [वेद्य] वांछी [इच्छी] जाती है जो वस्तुसामग्री, [वेदक] वांछारूप जीवका अशुद्ध परिणाम, ऐसे हैं [विभाव] दोनों अशुद्ध विनश्वर कर्मजनित, इस कारणसे [चलत्वात्] क्षण प्रति क्षण प्रति औरसा होते हैं। कोई अन्य चिन्ता जाता है, कुछ अन्य होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि अशुद्ध रागादि परिणाम तथा विषयसामग्री दोनों समय समय प्रति विनश्वर हैं, इसलिए जीवका स्वरूप नहीं। इस कारण सम्यग्दृष्टिके ऐसे भावोंका सर्वथा त्याग है। इसलिए सम्यग्दृष्टिको बंध नहीं है, निर्जरा है ॥ १५-१४७ ॥

[स्वागता]

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं
कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे
स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १६-१४८ ॥

[हरिगीत]

जबतक कषायित नकरें सर्वांग फिटकरी आदिसे ।
तबतलक सूती वस्त्र पर सर्वांग रंग चढ़ता नहीं ॥
बस उसतरह ही रागरस से रिक्त सम्यक्ज्ञानिजन ।
सब कर्म करते पर परीग्रहभाव को ना प्राप्त हो ॥ १४८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “कर्म ज्ञानिनः परिग्रहभावं न हि एति” [कर्म] जितनी विषयसामग्री भोगरूप क्रिया है वह [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [परिग्रहभावं] ममतारूप स्वीकारपने को [न हि एति] निश्चयसे नहीं प्राप्त होती है। किस कारणसे? “रागरसरिक्ततया” [राग] कर्मकी सामग्रीको आपा जानकर रंजक परिणाम ऐसा जो [रस] वेग, उससे [रिक्ततया] रीता है, ऐसा भाव होने से। दृष्टान्त कहते हैं—“हि इह अकषायितवस्त्रे रङ्गयुक्तिः बहिः लुठति एव” [हि] जैसे [इह] सब लोकमें प्रगट है कि [अकषायित] नहीं लगा है हरडा फिटकरी लोद जिसको ऐसे [वस्त्रे] कपड़ामें [रङ्गयुक्तिः] मजीठके रंगका संयोग किया जाता है तथापि [बहिः लुठति] कपड़ासे नहीं लगता है, बाहर बाहर फिरता है उस प्रकार। भावार्थ ऐसा है कि सम्यग्दृष्टि जीवके पंचेन्द्रिय विषयसामग्री है, भोगता भी है। परंतु अंतरंग राग द्वेष मोहभाव नहीं है, इस कारण कर्मका बंध नहीं है, निर्जरा है। कैसी है रंगयुक्ति? “स्वीकृता” कपड़ा रंग इकट्ठा किया है ॥ १६-१४८ ॥

[स्वागता]

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्
सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः
कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १७-१४९ ॥

[हरिगीत]

रागरस से रहित ज्ञानी जीव इस भूलोक में ।
कर्मस्थ हों पर कर्मरज से लिप्त होते हैं नहीं ॥ १४९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यतः ज्ञानवान् स्वरसतः अपि सर्वरागरसवर्जनशीलः स्यात्”
 [यतः] जिस कारणसे [ज्ञानवान्] शुद्धस्वरूप अनुभवशीली है जो जीव वह [स्वरसतः] विभाव परिणमन मिटा है, इस कारण शुद्धतारूप द्रव्य परिणमा है, इसलिए [सर्वराग] जितना राग द्वेष मोह परिणामरूप [रस] अनादिका संस्कार, उससे [वर्जनशीलः स्यात्] रहित है स्वभाव जिसका ऐसा है। “ततः एषः कर्ममध्यपतितः अपि सकलकर्मभिः न लिप्यते” [ततः] तिस कारणसे [एषः] सम्यग्दृष्टि जीव [कर्म] कर्मके उदयजनित अनेक प्रकारकी भोगसामग्री उसमें [मध्यपतितः अपिः] पंचेन्द्रिय भोगसामग्री भोगता है, सुख दुःखको प्राप्त होता है तथापि [सकलकर्मभिः] आठों प्रकारके हैं जो ज्ञानावरणादि कर्म, उनके द्वारा [न लिप्यते] नहीं बाँधा जाता है। भावार्थ इस प्रकार है कि अन्तरंग चिकनापन नहीं है, इससे बन्ध नहीं होता है, निर्जरा होती है॥ १७-१४९॥

[शार्दूलविक्रीडित]

यादृक् तादृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
 कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्यादृशः शक्यते ।
 अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेज्ज्ञानं भवत्सन्ततं
 ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥ १८-१५० ॥

[हरिगीत]

स्वयं ही हो परिणमित स्वाधीन हैं सब वस्तुयें।
 अर अन्यके द्वारा कभी वे नहीं बदली जा सकें॥
 जिम परजनित अपराध से बंधते नहीं जन जगत में।
 तिम भोग भोगें किन्तु ज्ञानीजन कभी बंधते नहीं॥१५०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई प्रश्न करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव परिणामसे शुद्ध है तथापि पंचेन्द्रिय विषय भोगता है सो विषयको भोगते हुए कर्मका बंध है कि नहीं है? समाधान इस प्रकार है कि कर्मका बंध नहीं है। “ज्ञानीन् भुंक्ष्व” [ज्ञानिन्] भो सम्यग्दृष्टि जीव! [भुंक्ष्व] कर्मके उदयसे प्राप्त हुई है जो भोगसामग्री उसको भोगते हो तो भोगो “तथापि तव बन्धः नास्ति” [तथापि] तो भी [तव] तेरे [बन्धः] ज्ञानावरणादि कर्मका आगमन [नास्ति] नहीं है। कैसा बंध नहीं है? “परापराधजनितः” [पर] भोगसामग्री, उसका [अपराध] भोगनेमें आना, उससे [जनितः] उत्पन्न हुआ।

भावार्थ इस प्रकार है —सम्यग्दृष्टि जीवको विषयसामग्री भोगते हुए बन्ध नहीं है, निर्जरा है। कारण कि सम्यग्दृष्टि जीव सर्वथा अवश्यकर परिणामोंसे शुद्ध है। ऐसा ही वस्तुका स्वरूप है। परिणामोंकी शुद्धता रहते हुए बाह्यभोगसामग्रीके द्वारा बन्ध किया नहीं जाता। ऐसा वस्तुका स्वरूप है। यहाँ कोई आशंका करता है कि सम्यग्दृष्टि जीव भोग भोगता है सो भोग भोगते हुए रागरूप अशुद्ध परिणाम होता होगा सो उस रागपरिणामके द्वारा बन्ध होता होगा सो ऐसा तो नहीं। कारण कि वस्तुका स्वरूप ऐसा है जो शुद्ध ज्ञान होनेपर भोगसामग्रीको भोगते हुए सामग्रीके द्वारा अशुद्धरूप किया नहीं जाता। कितनी ही भोगसामग्री भोगो तथापि शुद्धज्ञान अपने स्वरूप—शुद्ध ज्ञानस्वरूप रहता है। वस्तुका ऐसा सहज है। ऐसा कहते हैं —“**ज्ञानं कदाचनापि अज्ञानं न भवेत्**” [**ज्ञानं**] शुद्ध स्वभावरूप परिणाम है आत्मद्रव्य, वह [**कदाचन अपि**] अनेक प्रकार भोगसामग्रीको भोगता हुआ अतीत, अनागत, वर्तमान कालमें [**अज्ञानं**] विभाव अशुद्ध रागादिरूप [**न भवेत्**] नहीं होता। कैसा है ज्ञान? “**सन्ततं भवत्**” शाश्वत शुद्धत्वरूप जीवद्रव्य परिणाम है, मायाजालके समान क्षण विनश्वर नहीं है। आगे दृष्टान्तके द्वारा वस्तुका स्वरूप साधते हैं —“**हि यस्य वशतः यः यादृक् स्वभावः तस्य तादृक् इह अस्ति**” [**हि**] जिस कारणसे [**यस्य**] जिस किसी वस्तुका [**यः यादृक् स्वभावः**] जो स्वभाव जैसा स्वभाव है वह [**वशतः**] अनादि—निधन है [**तस्य**] उस वस्तुका [**तादृक् इह अस्ति**] वैसा ही है। जिस प्रकार शंखका श्वेत स्वभाव है, श्वेत प्रगट है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिका शुद्ध परिणाम होता हुआ शुद्ध है। “**एषः परैः कथञ्चन अपि अन्यादृशः कर्तुं न शक्यते**” [**एषः**] वस्तुका स्वभाव [**परैः**] अन्य वस्तुके किये [**कथञ्चन अपि**] किसी प्रकार [**अन्यादृशः**] दूसरेरूप [**कर्तुं**] करनेको [**न शक्यते**] नहीं समर्थ है। भावार्थ इस प्रकार है कि स्वभावसे श्वेत शंख है सो शंख काली मिट्टी खाता है, पीली मिट्टी खाता है, नाना वर्ण मिट्टी खाता है। ऐसी मिट्टी खाता हुआ शंख उस मिट्टीके रंगका नहीं होता है, अपने श्वेत रूप रहता है। वस्तुका ऐसा ही सहज है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव स्वभावसे राग द्वेष मोहसे रहित शुद्ध परिणामरूप है, वह जीव नाना प्रकार भोगसामग्री भोगता है तथापि अपने शुद्धपरिणामरूप परिणमता है। सामग्रीके रहते हुए अशुद्धरूप परिणमाया जाता नहीं ऐसा वस्तुका स्वभाव है, इसलिए सम्यग्दृष्टिके कर्मका बन्ध नहीं है, निर्जरा है॥ १८—१५०॥

[शार्दूलविक्रीडित]

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किञ्चित्तथाप्युच्यते
 भुंक्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः ।
 बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
 ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥ १९-१५१ ॥

[हरिगीत]

कर्म करना ज्ञानियों को उचित हो सकता नहीं ।
 फिर भी भोगासक्त जो दुर्भुक्त ही वे जानिये ॥
 हो भोगनेसे बन्ध ना पर भोगने के भाव से ।
 तो बन्ध है बस इसलिए निज आत्मा में रत रहो ॥ १५१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ज्ञानिन् जातु कर्म कर्तुम् न उचितं ” [ज्ञानिन्] हे सम्यग्दृष्टि जीव ! [जातु] किसी प्रकार कभी भी [कर्म] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड [कर्तुम्] बाँधनेको [न उचितं] योग्य नहीं है । भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका बन्ध नहीं है । “ तथापि किञ्चित् उच्यते ” [तथापि] तो भी [किञ्चित् उच्यते] कुछ विशेष है वह कहते हैं—“ हन्त यदि मे परं न जातु भुंक्षे भोः दुर्भुक्तः एव असि ” [हन्त] कड़क वचनके द्वारा कहते हैं । [यदि] जो ऐसा जानकर भोगसामग्री भोगता है कि [मे] मेरे [परं न जातु] कर्मका बंध नहीं है । ऐसा जानकर [भुंक्षे] पंचेन्द्रियविषय भोगता है तो [भोः] अहो जीव ! [दुर्भुक्तः एव असि] ऐसा जानकर भोगोंका भोगना अच्छा नहीं । कारण कि वस्तुस्वरूप इस प्रकार है—“ यदि उपभोगतः बन्धः न स्यात् तत् ते किं कामचारः अस्ति ” [यदि] जो ऐसा है कि [उपभोगतः] भोगसामग्रीको भोगते हुए [बन्धः न स्यात्] ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध नहीं है [तत्] तो [ते] अहो सम्यग्दृष्टि जीव ! तेरे [कामचारः] स्वेच्छा आचरण [किं अस्ति] क्या ऐसा है अपितु ऐसा तो नहीं है । भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके कर्मका बंध नहीं है । कारण कि सम्यग्दृष्टि जीव राग द्वेष मोहसे रहित है । वही सम्यग्दृष्टि जीव, यदि सम्यक्त्व छूटे मिथ्यात्वरूप परिणमे तो, ज्ञानावरणादि कर्मबंधको अवश्य करे, क्योंकि मिथ्यादृष्टि होता हुआ राग द्वेष मोहरूप परिणमता है ऐसा कहते हैं —“ ज्ञानं सन्वस ” सम्यग्दृष्टि होता हुआ जितने काल प्रवर्तता उतने काल बंध नहीं है “ अपरथा स्वस्य अपराधात् बन्धम् ध्रुवम् एषि ” [अपरथा] मिथ्यादृष्टि होता हुआ [स्वस्य अपराधात्] अपने ही दोषसे—रागादि अशुद्धरूप परिणमनके कारण [बन्धम् ध्रुवम् एषि] ज्ञानावरणादि कर्मबंधको तू ही अवश्य करता है ॥ १९-१५१ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
 कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
 ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
 कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥ २०-१५२ ॥

[हरिगीत]

तू भोग मुझको ना कहे यह कर्म निज करतार को ।
 फलाभिलाषी जीव ही नित कर्मफल को भोगता ॥
 फलाभिलाषा विरत मुनिजन ज्ञानमय वर्तन करें ।
 सब कर्म करते हुए भी वे कर्म बन्धन ना करें ॥ १५२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् मुनिः कर्मणा नो बध्यते” [तत्] तिस कारणसे [मुनिः] शुद्धस्वरूप अनुभव बिराजमान सम्यग्दृष्टि जीव [कर्मणा] ज्ञानावरणादि कर्मसे [नो बध्यते] नहीं बँधता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “हि कर्म कुर्वाणः अपि” [हि] निश्चयसे [कर्म] कर्मजनित विषयसामग्री भोगरूप क्रियाको [कुर्वाणः अपि] करता है—यद्यपि भोगता है तो भी “तत्फलपरित्यागैकशीलः” [तत्फल] कर्मजनित सामग्रीमें आत्मबुद्धि जानकर रंजक परिणामका [परित्याग] सर्वथा प्रकार स्वीकार छूट गया ऐसा है [एक] सुखरूप [शीलः] स्वभाव जिसका, ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके विभावरूप मिथ्यात्वपरिणाम मिट गया है, उसके मिटनेसे अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय सुख अनुभवगोचर हुआ है। और कैसा है? “ज्ञानं सन् तदपास्तरागरचनः” ज्ञानमय होते हुए दूर किया है रागभाव जिसमेंसे ऐसा है। इस कारण कर्मजनित है जो चार गतिकी पर्याय तथा पंचेन्द्रियोंके भोग वे समस्त आकुलतालक्षण दुःखरूप हैं। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा ही अनुभव करता है। इस कारण जितना कुछ साता—असातारूप कर्मका उदय, उससे जो कुछ इष्ट विषयरूप अथवा अनिष्ट विषयरूप सामग्री सो सम्यग्दृष्टिके सर्व अनिष्टरूप है। इसलिए जिस प्रकार किसी जीवके अशुभ कर्मके उदय रोग, शोक, दारिद्र आदि होता है, उसे जीव छोड़नेको बहुतही करता है, परंतु अशुभ कर्मके उदय नहीं छूटता है, इसलिए भोगना ही पड़े। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके, पूर्वमें अज्ञान परिणामके द्वारा बांधा है जो सातारूप असातारूप कर्म उसके उदय अनेक प्रकार विषयसामग्री होती है, उसे सम्यग्दृष्टि जीव दुःखरूप अनुभवता है, छोड़ने को बहुतही करता है। परंतु जब तक क्षपकश्रेणी चढ़े तब तक छूटना अशक्य है, इसलिए परवश हुआ भोगता है। हृदयमें अत्यंत विरक्त है, इसलिए अरंजक है, इसलिए भोग सामग्री को भोगते हुए कर्मका बन्ध नहीं है, निर्जरा है। यहाँ दृष्टान्त कहते हैं—“यत् किल कर्म कर्तारं स्वफलेन बलात् योजयेत्” [यत्] जिस कारणसे ऐसा है। [किल] ऐसा ही है, संदेह नहीं कि [कर्म] राजाकी सेवा आदिसे लेकर जितनी कर्मभूमिसम्बन्धी क्रिया [कर्तारं] क्रियामें रंजक होकर—तन्मय होकर करता है जो कोई पुरुष,

उसको [स्वफलेन] जिस प्रकार राजाकी सेवा करते हुए द्रव्यकी प्राप्ति, भूमिकी प्राप्ति, जैसे खेती करते हुए अन्नकी प्राप्ति [बलात् योजयेत्] अवश्यकर कर्ता पुरुषका क्रियाके फलके साथ संयोग होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो क्रियाको नहीं करता उसको क्रियाके फलकी प्राप्ति नहीं होती। उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीवको बंध नहीं होता, निर्जरा होती है। कारण कि सम्यग्दृष्टि जीव भोगसामग्री क्रियाका कर्ता नहीं है, इसलिए क्रियाका फल नहीं है कर्मकाबन्ध, वह तो सम्यग्दृष्टिके नहीं है। दृष्टान्तसे दृढ़ करते हैं—“ यत् कुर्वाणः फललिप्सुः ना एव हि कर्मणः फलं प्राप्नोति ” [यत्] जिस कारणसे पूर्वोक्त नाना प्रकारकी क्रिया [कुर्वाणः] कोई करता हुआ [फललिप्सुः] फलकी अभिलाषा करके क्रियाको करता है ऐसा [ना] कोई पुरुष [कर्मणः फलं] क्रियाके फलको [प्राप्नोति] प्राप्त होता है। भावार्थ इस प्रकार है — जो कोई पुरुष क्रिया करता है, निरभिलाष होकर करता है, उसको तो क्रियाका फल नहीं है॥ २०-१५२॥

[शार्दूलविक्रीडित]

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किञ्चिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः॥ २१-१५३॥

[हरिगीत]

जिसे फल की चाह ना वह करे- यह जंचता नहीं ।
यदि विवशता वश आ पड़े तो बात ही कुछ और है॥
अकंप ज्ञान स्वभाव में थिर रहें जो वे ज्ञानीजन ।
सब कर्म करते या नहीं-यह कौन जाने विज्ञजन॥१५३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ येन फलं त्यक्तं स कर्म कुरुते इति वयं न प्रतीमः ” [येन] जिस सम्यग्दृष्टि जीवने [फलं त्यक्तं] कर्मके उदयसे है जो भोगसामग्री उसका [फलं] अभिलाष [त्यक्तं] सर्वथा ममत्व छोड़ दिया है [सः] वह सम्यग्दृष्टि जीव [कर्म कुरुते] ज्ञानावरणादि कर्मको करता है [इति वयं न प्रतीमः] ऐसी तो हम प्रतीति नहीं करते। भावार्थ इस प्रकार है कि जो कर्मके उदयके प्रति उदासीन है उसे कर्मका बन्ध नहीं है, निर्जरा है। “ किन्तु ” कुछ विशेष—“ अस्य अपि ” इस सम्यग्दृष्टिके भी “ अवशेन कुतः अपि किञ्चित् अपि कर्म आपतेत् ” [अवशेन] बिना ही अभिलाष किये बलात्कार ही [कुतः अपि किञ्चित् अपि कर्म] पहले ही बाँधा था जो ज्ञानावरणादि कर्म, उसके उदयसे हुई है जो पंचेन्द्रिय विषय भोगक्रिया वह [आपतेत्] प्राप्त होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार किसी को रोग, शोक, दारिद्र्य बिना ही वांछाके होता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवके जो कोई क्रिया होती है सो बिना ही वांछाके होती है। “ तस्मिन् आपतिते ” अनिच्छक है सम्यग्दृष्टि पुरुष, उसको बलात्कार होती

हैं भोगक्रिया, उसके होते हुए “ज्ञानी किं कुरुते” [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [किं कुरुते] अनिच्छक होकर कर्मके उदयमें क्रिया करता है तो क्रियाका कर्ता हुआ क्या? “अथ न कुरुते” सर्वथा क्रियाका कर्ता सम्यग्दृष्टि जीव नहीं है। किसका कर्ता नहीं है? “कर्मइति” भोगक्रियाका। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “जानाति कः” ज्ञायक — स्वरूपमात्र है। तथा कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “अकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितः” निश्चल परम ज्ञानस्वभावमें स्थित है॥ २१-१५३॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥ २२-१५४ ॥**

[हरिगीत]

वज्र का हो पात जो त्रैलोक्य को विह्वल करे।
फिर भी अरे अति साहसी सदृष्टिजन निश्चल रहें॥
निश्चल रहें निर्भय रहें निशंक निज में ही रहें।
निसर्ग ही निजबोधवपु निज बोध से अच्युत रहें॥१५४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सम्यग्दृष्टयः एव इदं साहसम् कर्तुं क्षमन्ते” [सम्यग्दृष्टयः] स्वभावगुणरूप परिणमी है जो जीवराशि वह [एव] निश्चयसे [इदं साहसम्] ऐसा धीरपना [कर्तुं] करने के लिए [क्षमन्ते] समर्थ होती है। कैसा है साहस? “परं” सबसे उत्कृष्ट है। कौन साहस? “यत् वज्रे पतति अपि अमी बोधात् न हि च्यवन्ते” [यत्] जो साहस ऐसा है कि [वज्रे पतति अपि] महान वज्रके गिरनेपर भी [अमी] सम्यग्दृष्टि जीवराशि [बोधात्] शुद्धस्वरूपके अनुभवसे [न हि च्यवन्ते] सहज गुणसे स्थूलित नहीं होती है। भावार्थ इस प्रकार है — कोई अज्ञानी ऐसा मानेगा कि सम्यग्दृष्टि जीवके साताकर्मके उदय अनेक प्रकार इष्ट भोगसामग्री होती है, असाताकर्मके उदय अनेक प्रकार रोग, शोक, दारिद्र्य, परीषह, उपसर्ग इत्यादि अनिष्ट सामग्री होती है, उसको भोगते हुए शुद्धस्वरूप अनुभवसे चूकता होगा। उसका समाधान इस प्रकार है कि अनुभवसे नहीं चूकता है, जैसा अनुभव है वैसा ही रहता है, वस्तुका ऐसा ही स्वरूप है। कैसा है वज्र? “भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि” [भय] वज्र के गिरनेपर उसके त्राससे [चलत्] चलायमान ऐसी जो [त्रैलोक्य] सर्व संसारी जीवराशि, उसके द्वारा [मुक्त] छोड़ी गई है [अध्वनि] अपनी अपनी क्रिया जिसके गिरनेपर, ऐसा है वज्र। भावार्थ इस प्रकार है — ऐसा है उपसर्ग परीषह जिनके होनेपर मिथ्यादृष्टिको ज्ञानकी सुध नहीं रहती है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? “स्वं जानन्तः” [स्वं] शुद्ध चिद्रूपको [जानन्तः] प्रत्यक्षरूपसे अनुभवते हैं। कैसा है स्व? “अवध्यबोधवपुषं” [अवध्य] शाश्वत जो [बोध] ज्ञानगुण, वह है [वपुषं] शरीर जिसका, ऐसा है। क्या करके? “सर्वाम् एव शङ्कां विहाय” [सर्वाम् एव] सात प्रकारके

[शङ्कां] भयको [विहाय] छोड़कर। जिस प्रकार भय छूटता है उस प्रकार कहते हैं—
 “निसर्गनिर्भयतया” [निसर्ग] स्वभावसे [निर्भयतया] भयसे रहितपना होनेसे। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीवोंका निर्भय स्वभाव है, इस कारण सहज ही अनेक प्रकारके परिषह उपसर्गका भय नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवको कर्मका बन्ध नहीं है, निर्जरा है। कैसे है निर्भयपना ? “स्वयं” ऐसा सहज है॥ २२-१५४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

लोकः शाश्वत एक एष सकलव्यक्तो विविक्तात्मन-
 श्रिल्लोकं स्वयमेव केवलमयं यल्लोकयत्येककः ।
 लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
 निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २३-१५५ ॥

[हरिगीत]

इहलोक अर परलोक से मेरा न कुछ सम्बन्ध है।
 अर भिन्न पर से एक यह चिल्लोक ही मम लोक है॥
 जब जानते यह ज्ञानीजन तब होंय क्यों भयभीत वे।
 वे तो सतत निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें॥१५५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सः सहजं ज्ञानं स्वयं सततं सदा विन्दति” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [सहजं] स्वभाव ही से [ज्ञानं] शुद्ध चैतन्य वस्तुको [विन्दति] अनुभवता है — आस्वादता है। कैसे अनुभवता है ? [स्वयं] अपनेमें आपको अनुभवता है। किस काल ? [सततं] निरंतररूपसे [सदा] अतीत, अनागत, वर्तमानमें अनुभवता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? “निःशङ्कः” सात भयोंसे रहित है। कैसा होनेसे ? “तस्य तद्भीः कुतः अस्ति” [तस्य] उस सम्यग्दृष्टिके [तद्भीः] इहलोकभय, परलोकभय [कुतः अस्ति] कहासे होवे ? अपितु नहीं होता। जैसा विचार करते हुए भय नहीं होता वैसा कहते हैं—“तव अयं लोकः तदपरः अपरः न” [तव] भो जीव ! तेरा [अयं लोकः] विद्यमान है जो चिद्रूपमात्र वह लोक है। [तद्-अपरः] उससे अन्य जो कुछ है इहलोक, परलोक। विवरण:- इहलोक अर्थात् वर्तमान पर्याय। उसमें ऐसी चिन्ता कि पर्याय पर्यंत सामग्री रहेगी कि नहीं रहेगी। परलोक अर्थात् यहाँसे मरकर अच्छी गतिमें जावेंगे कि नहीं जावेंगे ऐसी चिन्ता। ऐसा जो [अपरः] इहलोक, परलोक पर्यायरूप [न] जीवका स्वरूप नहीं है। “यत् एषः अयं लोकः केवलं चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति” [यत्] जिस कारणसे [एषः अयं लोकः] अस्तिरूप है जो चैतन्यलोक वह [केवलं] निर्विकल्प है। [चिल्लोकं स्वयं एव लोकयति] ज्ञानस्वरूप आत्माको स्वयं ही देखता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो जीवका स्वरूप ज्ञानमात्र सो तो ज्ञानमात्र ही है। कैसा है चैतन्यलोक ? “शाश्वतः” अविनाशी है। और कैसा है ? “एककः” एक वस्तु है। और कैसा है ? “सकलव्यक्तः” [सकल] त्रिकालमें [व्यक्तः] प्रगट है। किसको प्रगट है ?

“विविक्तात्मनः” [विविक्त] भिन्न है [आत्मनः] आत्मस्वरूप जिसको ऐसा है जो भेदज्ञानी पुरुष उसे ॥ २३-१५५ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २४-१५६ ॥

[हरिगीत]

चूँकि एक-अभेद में ही वेद्य-वेदक भाव हों ।
अतएव ज्ञानी नित्य ही निज ज्ञान का अनुभव करें ॥
अन वेदना कोई है नहीं तब होंय क्यों भयभीत वे ।
वे तो सतत् निःशंक हो निज ज्ञानका अनुभव करें ॥ १५६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सः स्वयं सततं सदा ज्ञानं विन्दति” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [स्वयं] अपने आप [सततं] निरंतररूपसे [सदा] त्रिकालमें [ज्ञानं] जीवके शुद्ध स्वरूपको [विन्दति] अनुभवता है — आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? “सहजं” स्वभावसे ही उत्पन्न है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “निःशंकः” सात भयोंसे मुक्त है। “ज्ञानिनः तद्भीः कुतः” [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवको [तद्भीः] वेदनाका भय [कुतः] कहाँ से होवे? अपितु नहीं होता है। कारण कि “सदा अनाकुलैः” सदा भेदज्ञानसे बिराजमान हैं जो पुरुष वे पुरुष “स्वयं वेद्यते” स्वयं ऐसा अनुभव करते हैं कि “यत् अचलं ज्ञानं एषा एका एव वेदना” [यत्] जिस कारणसे [अचलं ज्ञानं] शाश्वत है जो ज्ञान [एषा] यही [एका वेदना] जीवको एक वेदना है [एव] निश्चयसे। “अन्यागतवेदना एव न भवेत्” [अन्या] इसे छोड़कर जो अन्य [आगतवेदना एव] कर्मके उदयसे हुई है सुखरूप अथवा दुःखरूप वेदना [न भवेत्] जीवको है ही नहीं। ज्ञान कैसा है? “एकं” शाश्वत है—एकरूप है। किस कारणसे एकरूप है? “निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलात्” [निर्भेदोदित] अभेदरूपसे [वेद्यवेदक] जो वेदता है वही वेदा जाता है ऐसा जो [बलात्] सामर्थ्यपना, उसके कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका स्वरूप ज्ञान है, वह एकरूप है। जो साता-असाता कर्मके उदयसे सुख-दुःखरूप वेदना होती है वह जीवका स्वरूप नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीवको रोग उत्पन्न होनेका भय नहीं होता ॥ २४-१५६ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल तत्तन्नातं किमस्यापरैः।

अस्यात्राणमतो न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो

निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २५-३५७ ॥

[हरिगीत]

निज आत्मा सत् और सत् का नाश हो सकता नहीं।

है सदा रक्षित सत् अरक्षा भाव हो सकता नहीं ॥

जब जानते यह ज्ञानीजन तब होंय क्यों भयभीत वें।

वे तो सतत् निःशंक हो निजज्ञान का अनुभव करें ॥ ३५७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सः ज्ञानं सदा विन्दति ” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [ज्ञानं] शुद्धस्वरूप [सदा] तीनों कालोंमें [विन्दति] अनुभवता है — आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? “ सततं ” निरंतर वर्तमान है। और कैसा है ज्ञान? “ स्वयं ” अनादि—निधन है। और कैसा है? “ सहजं ” बिना कारण द्रव्यरूप है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “ निःशंकः ” “ कोई मेरा रक्षक है कि नहीं है ऐसे भयसे रहित है। किस कारणसे? “ ज्ञानिनः तद्भीः कुतः ” [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [तद्भीः] ‘ मेरा रक्षक कोई है कि नहीं ऐसा भय [कुतः] कहाँसे होवे? अपितु नहीं होता है। “ अतः अस्य किञ्चन अत्राणं न भवेत् ” [अतः] इस कारणसे [अस्य] जीव वस्तुके [अत्राणं] अरक्षकपना [किञ्चन] परमाणुमात्र भी [न भवेत्] नहीं है। किस कारणसे नहीं है? “ यत् सत् तत् नाशं न उपैति ” [यत् सत्] जो कुछ सत्तास्वरूप वस्तु है [तत् नाशं न उपैति] वह तो विनाशको नहीं प्राप्त होती है। “ इति नियतं वस्तुस्थितिः व्यक्ता ” [इति] इस कारणसे [नियतं] अवश्य ही [वस्तुस्थितिः] वस्तुका अविनश्वरपना [व्यक्ता] प्रगट है। “ किल तत् ज्ञानं स्वयं एव सत् ततः अस्य अपरैः किं त्रातं ” [किल] निश्चयसे [तत् ज्ञानं] ऐसा है जीवका शुद्धस्वरूप [स्वयं एव सत्] सहज ही सत्तास्वरूप है। [ततः] तिस कारणसे [अस्य] जीवके स्वरूपकी [अपरैः] किसी द्रव्यान्तरके द्वारा [किं त्रातं] क्या रक्षा की जायगी। भावार्थ इस प्रकार है कि सब जीवोंको ऐसा भय उत्पन्न होता है कि मेरा रक्षक कोई है कि नहीं, सो ऐसा भय सम्यग्दृष्टि जीवके नहीं होता। कारण कि वह ऐसा अनुभव करता है कि शुद्ध जीवस्वरूप सहज ही शाश्वत है। इसकी कोई क्या रक्षा करेगा ॥ २५-३५७ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यत्
 शक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
 अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्ग्रीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २६-१५८ ॥

[हरिगीत]

कोई किसी का कुछ करे यह बात संभव है नहीं ।
 सब है सुरक्षित स्वयं में अगुप्ति का भय है नहीं ॥
 जब जानते यह ज्ञानीजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत् निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १५८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सः ज्ञानं सदा विन्दति” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [ज्ञानं] शुद्ध चैतन्यवस्तुको [सदा विन्दति] निरंतर अनुभवता है — आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? “स्वयं” अनादिसिद्ध है। और कैसा है? “सहजं” शुद्ध वस्तुस्वरूप है। और कैसा है? “सततं” अखंडधारा प्रवाहरूप है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “निःशंकः” ‘वस्तुको जतनसे रखा जाय, नहीं तो कोई चुरा लेगा ऐसा जो अगुप्तिभय उससे रहित है। “अतः अस्य काचन अगुप्तिः एव न भवेत् ज्ञानिनः तद्ग्रीः कुतः” [अतः] इस कारणसे [अस्य] शुद्ध जीवके [काचन अगुप्तिः] किसी प्रकारका अगुप्तिपना [न भवेत्] नहीं है, [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [तद्ग्रीः] ‘मेरा कुछ कोई छीन न लेवे ऐसा अगुप्तिभय [कुतः] कहाँसे होवे? अपितु नहीं होता। किस कारणसे? “किल वस्तुनः स्वरूपं परमा गुप्तिः अस्ति” [किल] निश्चयसे [वस्तुनः] जो कोई द्रव्य है उसका [स्वरूपं] जो कुछ निज लक्षण है वह [परमा गुप्तिः अस्ति] सर्वथा प्रकार गुप्त है। किस कारणसे? “यत् स्वरूपे कः अपि परः प्रवेष्टुम् न शक्तः” [यत्] जिस कारणसे [स्वरूपे] वस्तुके सत्त्वमें [कः अपि परः] कोई अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यमें [प्रवेष्टुम्] संक्रमण को [न शक्तः] समर्थ नहीं है। “नुः ज्ञानं स्वरूपं च” [नुः] आत्मद्रव्यका [ज्ञानं स्वरूपं] चैतन्य स्वरूप है। [च] वही ज्ञानस्वरूप कैसा है? “अकृतं” किसीने किया नहीं, कोई हर सकता नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि सब जीवोंको ऐसा भय होता है कि ‘मेरा कुछ कोई चुरा लेगा, छीन लेगा सो ऐसा भय सम्यग्दृष्टिको नहीं होता। जिस कारणसे सम्यग्दृष्टि ऐसा अनुभव करता है कि मेरा तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, उसको तो कोई चुरा सकता नहीं, छीन सकता नहीं; वस्तुका स्वरूप अनादि—निधन है ॥ २६-१५८ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
 ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।
 तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २७-१५९ ॥

[हरिगीत]

मृत्यु कहे सारा जगत बस प्राण के उच्छेद को ।
 ज्ञान ही है प्राण मम उसका नहीं उच्छेद हो ॥
 तब मरण भय हो किस तरह हों ज्ञानिजन भयभीत क्यों ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञानका अनुभव करें ॥ १५९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सः ज्ञानं सदा विन्दति” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [ज्ञानं] शुद्ध चैतन्यवस्तुको [सदा] निरंतर [विन्दति] आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? “स्वयं” अनादिसिद्ध है। और कैसा है? “सततं” अखंडधारा प्रवाहरूप है। और कैसा है? “सहजं” बिना कारण सहज ही निष्पन्न है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “निःशंकः” मरणशंकाके दोषसे रहित है। क्या विचारता हुआ निःशंक है? “अतः तस्य मरणं किञ्चन न भवेत्, ज्ञानिनः तद्भीः कुतः” [अतः] इस कारणसे [तस्य] आत्मद्रव्यके [मरणं] प्राणवियोग [किञ्चन] सूक्ष्ममात्र [न भवेत्] नहीं होता, तिस कारण [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टिके [तद्भीः] मरणका भय [कुतः] कहाँसे होवे? अपितु नहीं होता। जिस कारणसे “प्राणोच्छेदम् मरणं उदाहरन्ति” [प्राणोच्छेदम्] इन्द्रिय, बल, उच्छ्वास, आयु ऐसे हैं जो प्राण, उनका विनाश ऐसा जो [मरणं] मरण कहनेमें आता है [उदाहरन्ति] अरिहंतदेव ऐसा कहते हैं। “किल आत्मनः ज्ञानं प्राणाः” [किल] निश्चयसे [आत्मनः] जीवद्रव्यका [ज्ञानं प्राणाः] शुद्ध चैतन्यमात्र प्राण है। “तत् जातुचित् न उच्छिद्यते” [तत्] शुद्धज्ञान [जातुचित्] किसी कालमें [न उच्छिद्यते] नहीं विनशता है। किस कारणसे? “स्वयम् एव शाश्वततया” [स्वयम् एव] बिना ही जतन [शाश्वततया] अविनश्वर है तिस कारणसे। भावार्थ इस प्रकार है कि सभी मिथ्यादृष्टि जीवोंको मरणका भय होता है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा अनुभवता है कि मेरा शुद्ध चैतन्यमात्र स्वरूप है सो तो विनशता नहीं, प्राण नष्ट होते हैं सो तो मेरा स्वरूप है ही नहीं, पुद्गलका स्वरूप है। इसलिए मेरा मरण होवे तो डरूँ मैं किसलिए डरूँ, मेरा स्वरूप शाश्वत है ॥ २७-१५९ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
 यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
 तन्नाकस्मिकमत्र किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
 निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥ २८-१६० ॥

[हरिगीत]

इसमें अचानक कुछ नहीं यह ज्ञान निश्चल एक है ।
 यह है सदा ही एकसा एवं अनादि अनन्त है ॥
 जब जानते यह ज्ञानीजन तब होंय क्यों भयभीत वे ।
 वे तो सतत निःशंक हो निज ज्ञान का अनुभव करें ॥ १६० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ सः ज्ञानं सदा विन्दति ’’ [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [ज्ञानं] शुद्धचैतन्य वस्तुको [सदा] त्रिकाल [विन्दति] आस्वादता है। कैसा है ज्ञान? ‘‘ स्वयं ’’ सहजही से उपजा है। और कैसा है? ‘‘ सततं ’’ अखंडधारा प्रवाहरूप है। और कैसा है? ‘‘ सहजं ’’ बिना उपाय ऐसी ही वस्तु है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? ‘‘ निःशंकः ’’ आकस्मिक भयसे रहित है। आकस्मिक अर्थात् अनचिन्ता तत्काल ही अनिष्टका उत्पन्न होना। क्या विचारता है सम्यग्दृष्टि जीव? ‘‘ अत्र तत् आकस्मिकम् किञ्चन न भवेत्, ज्ञानिनः तद्भीः कुतः ’’ [अत्र] शुद्ध चैतन्यवस्तुमें, [तत्] कहा है लक्षण जिसका ऐसा [आकस्मिकम्] क्षणमात्रमें अन्य वस्तुसे अन्य वस्तुपना [किञ्चन न भवेत्] ऐसा कुछ है ही नहीं, तिस कारण [ज्ञानिनः] सम्यग्दृष्टि जीवके [तद्भीः] आकस्मिकपनाका भय [कुतः] कहाँसे होवे? अपितु नहीं होता। किस कारणसे? ‘‘ एतत् ज्ञानं स्वतः यावत् ’’ [एतत् ज्ञानं] शुद्ध जीव वस्तु [स्वतः यावत्] आप सहज जैसी है जितनी है ‘‘ इदं तावत् सदा एव भवेत् ’’ [इदं] शुद्ध वस्तुमात्र [तावत्] वेसी है उतनी है। [सदा] अतीत, अनागत, वर्तमान कालमें [एव भवेत्] निश्चयसे ऐसी ही है। ‘‘ अत्र द्वितीयोदयः न ’’ [अत्र] शुद्ध वस्तुमें [द्वितीयोदयः] औरसा स्वरूप [न] नहीं होता है। कैसा है ज्ञान? ‘‘ एकं ’’ समस्त विकल्पोंसे रहित है। और कैसा है? ‘‘ अनाद्यनन्तम् ’’ नहीं है आदि, नहीं है अंत जिसका ऐसा है। और कैसा है? ‘‘ अचलं ’’ अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। और कैसा है? ‘‘ सिद्धं ’’ निष्पन्न है ॥ २८-१६० ॥

[मन्दाक्रान्ता]

टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
 सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
 तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
 पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ २९-३६१ ॥

[दोहा]

नित निःशंक सदृष्टि को कर्मबन्ध न होय ।
 पूर्वोदय को भोगते सतत निर्जरा होय ॥ ३६१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यत् इह सम्यग्दृष्टेः लक्ष्माणि सकलं कर्म घ्नन्ति” [यत्] जिस कारणसे [इह] विद्यमान [सम्यग्दृष्टेः] शुद्धस्वरूप परिणामा है जो जीव, उसके [लक्ष्माणि] निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना अंगरूप गुण [सकलं कर्म] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार पुद्गलद्रव्यके परिणामनको [घ्नन्ति] हनन करते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके जितने कोई गुण हैं वे शुद्धपरिणामनरूप हैं, इससे कर्मकी निर्जरा है। “तत् तस्य अस्मिन् कर्मणः मनाक् बन्धः पुनः अपि नास्ति” [तत्] तिस कारण [तस्य] सम्यग्दृष्टि जीवके [अस्मिन्] शुद्ध परिणामके होनेपर [कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मोंका [मनाक् बन्धः] सूक्ष्ममात्र भी बन्ध [पुनः अपि नास्ति] कभी नहीं। “तत् पूर्वोपात्तं अनुभवतः निश्चितं निर्जरा एव” [तत्] ज्ञानावरणादि कर्म [पूर्वोपात्तं] सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके पहले अज्ञान रागपरिणामसे बाँधा था जो कर्म उसके उदयको [अनुभवतः] जो भोगता है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवके [निश्चितं] निश्चयसे [निर्जरा एव] ज्ञानावरणादि कर्मका गलना है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः” [टङ्कोत्कीर्ण] शाश्वत जो [स्वरस] स्वपरग्राहक शक्ति उससे [निचित] परिपूर्ण ऐसा [ज्ञान] प्रकाश गुण, वही है [सर्वस्व] आदि मूल जिसका ऐसा जो जीवद्रव्य, उसका [भाजः] अनुभव करनेमें समर्थ है। ऐसा है सम्यग्दृष्टि जीव, सो उसके नूतन कर्मका बन्ध नहीं है, पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा है ॥ २९-३६१ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः सङ्गतोऽष्टाभिरङ्गैः
 प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन्निर्जरोज्जृम्भणेन ।
 सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं
 ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥ ३०-१६२ ॥

[दोहा]

बंध न हो नव कर्म का पूर्व कर्म का नाश ।
 नृत्य करें अष्टांग में सम्यग्ज्ञान प्रकाश ॥ १६२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सम्यग्दृष्टिः ज्ञानं भूत्वा नटति” [सम्यग्दृष्टिः] शुद्ध स्वभावरूप होकर परिणत हुआ जीव [ज्ञानं भूत्वा] शुद्ध ज्ञानस्वरूप होकर [नटति] अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमता है। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “आदिमध्यान्तमुक्तं” अतीत, अनागत, वर्तमान कालगोचर शाश्वत है। क्या करके? “गगनाभोगरङ्गं विगाह्य” [गगन] जीवका शुद्ध स्वरूप है [आभोगरङ्गं] अखाड़ेकी नाचनेकी भूमि, उसको [विगाह्य] अनुभवगोचर करके, ऐसा है ज्ञानमात्र वस्तु। किस कारणसे? “स्वयम् अतिरसात्” अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय जो सुख उसे प्राप्त होनेसे। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “नवम् बन्धं रुन्धन्” [नवम्] धाराप्रवाहरूप परिणमा है जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिण्ड ऐसा जो [बन्धं] जीव के प्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप, उसको [रुन्धन्] मेटता हुआ। क्योंकि “निजैः अष्टाभिः अङ्गैः सङ्गतः” [निजैः अष्टाभिः] अपनेही निःशंकित, निःकांक्षित इत्यादि कहे जो आठ [अङ्गैः] सम्यक्त्वके सहारेके गुण, उनसे [सङ्गतः] भावरूप परिणमा है, ऐसा है। और कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “तु प्राग्बद्धं कर्म क्षयं उपनयन्” [तु] दूसरा कार्य ऐसा भी होता है कि [प्राग्बद्धं] पूर्व में बांधा है जो ज्ञानावरणादि [कर्म] पुद्गलपिण्ड, उसका [क्षयं] मूलसे सत्तानाश [उपनयन्] करता हुआ। किसके द्वारा? “निर्जरोज्जृम्भणेन” [निर्जरा] शुद्ध परिणामके [उज्जृम्भणेन] प्रगटपनाके द्वारा ॥ ३०-१६२ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ज्ञानं समुन्मज्जति ” [ज्ञानं] शुद्ध जीव [समुन्मज्जति] प्रगट होता है। भावार्थ — यहाँ से लेकर जीवका शुद्ध स्वरूप कहते हैं। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “ आनन्दामृतनित्यभोजि ” [आनन्द] अतीन्द्रिय सुख, ऐसा है [अमृत] अपूर्व लब्धि, उसका [नित्यभोजि] निरंतर आस्वादनशील है। और कैसा है? “ स्फुटं सहजावस्थां नाटयत् ” [स्फुटं] प्रगटरूपसे [सहजावस्थां] अपने शुद्ध स्वरूपको [नाटयत्] प्रगट करता है। और कैसा है? “ धीरोदारम् ” [धीर] अविनश्वर सत्तारूप है। [उदारम्] धाराप्रवाहरूप परिणमनस्वभाव है। और कैसा है? “ अनाकुलं ” सर्व दुःखसे रहित है। और कैसा है? “ निरुपधि ” समस्त कर्मकी उपाधिसे रहित है। क्या करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है? “ बन्धं धुनत् ” [बन्धं] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्डका परिणमन, उसको [धुनत्] मेटता हुआ। कैसा है बन्ध? “ क्रीडन्तं ” प्रगटरूपसे गर्जता है। किसके द्वारा क्रीड़ा करता है? “ रसभावनिर्भरमहानाट्येन ” [रसभाव] समस्त जीवराशिको अपने वशकर उत्पन्न हुआ जो अहंकारलक्षण गर्व, उससे [निर्भर] भरा हुआ जो [महानाट्येन] अनंत कालसे लेकर अखाड़े का सम्प्रदाय, उसके द्वारा। क्या करके ऐसा है बंध? “ सकलं जगत् प्रमत्तं कृत्वा ” [सकलं जगत्] सर्व संसारी जीवराशिको [प्रमत्तं कृत्वा] जीवके शुद्ध स्वरूपसे भ्रष्ट कर। किसके द्वारा? “ रागोद्गारमहारसेन ” [राग] राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिका [उद्गार] अति ही अधिकपना, ऐसी जो [महारसेन] मोहरूप मदिरा, उसके द्वारा। भावार्थ इस प्रकार है — जिस प्रकार किसी जीवको मदिरा पिलाकर विकल किया जाता है, सर्वस्व छीन लिया जाता है, पदसे भ्रष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार अनादि कालसे लेकर सर्व जीवराशि राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणामसे मतवाली हुई है।

इससे ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध होता है। ऐसे बन्धको शुद्ध ज्ञानका अनुभव मेटनशील है, इसलिए शुद्ध ज्ञान उपादेय है।। १-१६३।।

[पृथ्वी]

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ।। २-१६४ ।।

[हरिगीत]

कर्म की ये वर्गणाएं बन्धका कारण नहीं ।
अत्यन्त चंचल योग भी है बन्ध का कारण नहीं ।।
करण कारण है नहीं चिद-अचिद हिंसा भी नहीं ।
बस बन्ध के कारण कहे अज्ञानमय रागादि ही ।। १६४ ।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- प्रथम ही बन्धका स्वरूप कहते हैं : -“ यत् उपयोगभूः रागादिभिः ऐक्यम् समुपयाति सः एव केवलं किल नृणाम् बन्धहेतुः भवति ” [यत्] जो [उपयोग] चेतनागुणरूप [भूः] मूल वस्तु [रागादिभिः] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणाम के साथ [ऐक्यम्] मिश्रितपनेरूपसे [समुपयाति] परिणमती है [सः एव] एतावन्मात्र [केवलं] अन्य सहाय बिना [किल] निश्चयसे [नृणाम्] जितनी संसारी जीवराशि है उसके [बन्धहेतुः भवति] ज्ञानावरणादि कर्मबन्धका कारण होता है। यहां कोई प्रश्न करता है कि बन्धका कारण इतना ही है कि और भी कुछ बन्धका कारण है? समाधान इस प्रकार है कि बन्धका कारण इतना ही है, और तो कुछ नहीं है; ऐसा कहते हैं -“ कर्मबहुलं जगत् न बन्धकृत् वा चलनात्मकं कर्म न बन्धकृत् वा अनेककरणानि न बन्धकृत् वा चिदचिद्वधः न बन्धकृत् ” [कर्म] ज्ञानावरणादि कर्मरूप बाँधने को योग्य है जो कर्मणवर्गणा, उनसे [बहुलं] घृतघटके समान भरा है ऐसा जो [जगत्] तीनसो तैंतालीस राजुप्रमाण लोकाकाशप्रदेश [न बन्धकृत्] वह भी बन्धका कर्ता नहीं है। समाधान इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणामोंके बिना कर्मणवर्गणामात्रसे बन्ध होता तो जो मुक्त जीव है उनके भी बन्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणाम हैं तो ज्ञानावरणादि कर्मका बंध है, तो फिर कर्मण वर्गणाका सहारा कुछ नहीं है; जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं तो कर्मका बन्ध नहीं है, तो फिर कर्मणवर्गणाका सहारा कुछ नहीं है। [चलनात्मकं कर्म] मन-वचन-काययोग [न बन्धकृत्] वह भी बन्धका कर्ता नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो मन-वचन-काययोग बन्धका कर्ता होता तो तेरहवें गुणस्थानमें मन-वचन-काययोग है सो उनके द्वारा भी कर्मका बन्ध होता, इस कारण जो रागादि अशुद्ध भाव हैं तो कर्मका बन्ध है, तो फिर मन-वचन-काययोगोंका सहारा कुछ नहीं है; रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं तो कर्मका बन्ध नहीं है, तो फिर मन-वचन-काययोगोंका सहारा कुछ नहीं है।

[अनेककरणानि] पाँच इन्द्रियां—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, छठा मन [न बन्धकृत्] ये भी बन्धके कर्ता नहीं हैं। समाधान इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके पाँच इन्द्रियाँ हैं, मन भी हैं। उनके द्वारा पुद्गलद्रव्यके गुणका ज्ञायक भी हैं। जो पाँच इन्द्रिय और मनमात्रसे कर्मका बन्ध होता तो सम्यग्दृष्टि जीवको भी बन्ध सिद्ध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध भाव हैं तो कर्मका बन्ध है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मनका सहारा कुछ नहीं है ; जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं तो कर्मका बन्ध नहीं है, तो फिर पाँच इन्द्रिय और छठे मनका सहारा कुछ नहीं है। [चित्] जीवके संबंध सहित एकेन्द्रियादि शरीर [अचित्] जीवके संबंध रहित पाषाण, लोह, माटी उनका [वध] मूल से विनाश अथवा बाधा—पीड़ा [न बन्धकृत्] वह भी बन्धका कर्ता नहीं है। समाधान इस प्रकार है कि जो कोई महामुनीश्वर भावलिंगी मार्ग चलता है, दैवसंयोगसे सूक्ष्म जीवोंको बाधा होती है सो जो जीवघातमात्रसे बन्ध होता तो मुनीश्वरनके कर्मबंध होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जो रागादि अशुद्ध परिणाम हैं तो कर्मका बन्ध है, तो फिर जीवघातका सहारा कुछ नहीं है। जो रागादि अशुद्ध भाव नहीं हैं तो कर्मका बन्ध नहीं है, तो फिर जीवघातका सहारा कुछ नहीं है॥ २-१६४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन्करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत्।
रागादिनुपयोगभूमिमनयन् ज्ञानं भवेत् केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा ध्रुवम्॥ ३-१६५॥

[हरिगीत]

भले ही सब कर्मपुदगल से भरा यह लोक हो।
भले ही मन-वचन-तन परिस्पन्दमय यह योग हो॥
चिद अचिद् का घात एवं करण का उपभोग हो।
फिर भी नहीं रागादि विरहित ज्ञानियों को बन्ध हो॥१६५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘अहो अयम् सम्यग्दृगात्मा कुतः अपि ध्रुवम् एव बन्धं न उपैति’’
[अहो] भो भव्यजीव! [अयम् सम्यग्दृगात्मा] यह शुद्ध स्वरूपका अनुभवनशील सम्यग्दृष्टि जीव
[कुतः अपि] भोग सामग्रीको भोगते हुए अथवा बिना भोगते हुए [ध्रुवम्] अवश्यकर [एव]
निश्चयसे [बन्धं न उपैति] ज्ञानावरणादि कर्मबन्धको नहीं करता है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव?
‘‘रागादीन् उपयोगभूमिम् अनयन्’’ [रागादीन्] अशुद्धरूप विभावपरिणामोंको [उपयोगभूमिम्]
चेतनामात्र गुणके प्रति [अनयन्] न परिणमाता हुआ। ‘‘केवलं ज्ञानं भवेत्’’ मात्र ज्ञानस्वरूप रहता
है। भावार्थ इस प्रकार है — सम्यग्दृष्टि जीवको बाह्य आभ्यंतर सामग्री जैसी थी वैसी ही है, परंतु
रागादि अशुद्धरूप विभाव परिणति नहीं है, इसलिए ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध नहीं है। ‘‘ततः
लोकः कर्म अस्तु च तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म अस्तु अस्मिन् तानि करणानि सन्तु च तत्
चिदचिद्व्यापादनं अस्तु’’ [ततः] तिस कारणसे [लोकःकर्म अस्तु] कर्मणवर्गणासे भरा है जो
समस्त लोकाकाश सो तो जैसा है वैसा ही रहो।

[च] और [तत् परिस्पन्दात्मकं कर्म अस्तु] ऐसा है जो आत्मप्रदेशकम्परूप मन—वचन—कायरूप तीन योग वे भी जैसा है वैसा ही रहो तथापि कर्मका बन्ध नहीं। क्या होनेपर? [अस्मिन्] राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणामके चले जानेपर [तानि करणानि सन्तु] वे भी पाँच इन्द्रियाँ तथा मन सो जैसे हैं वैसे ही रहो [च] और [तत् चिद्-अचिद्व्यापादनं अस्तु] पूर्वोक्त चेतन अचेतनका घात जैसा होता था वैसा ही रहो तथापि शुद्ध परिणामके होनेपर कर्मका बन्ध नहीं है॥ ३-१६५॥

[पृथ्वी]

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च॥ ४-१६६॥

[हरिगीत]

तो भी निरर्गल प्रवर्तन तो ज्ञानियों को वर्ज है।
क्यों कि निरर्गल प्रवर्तन तो बन्धका स्थान है॥
वांछा रहित जो प्रवर्तन वह बंध विरहित जानये।
जानना करना परस्पर विरोधी ही मानिये॥१६६॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तथापि ज्ञानिनां निरर्गलं चरितुम् न इष्यते ” [तथापि] यद्यपि कार्मणवर्गणा, मन—वचन—काययोग, पाच इन्द्रियाँ, मन, जीवका घात इत्यादि बाह्य सामग्री कर्मबन्धका कारण नहीं है। कर्मबन्धका कारण रागादि अशुद्धपना है। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है। तो भी [ज्ञानिनां] शुद्धस्वरूपके अनुभवशील है जो सम्यग्दृष्टि जीव उनकी [निरर्गलं चरितुम्] प्रमादी होकर विषयभोगका सेवन किया तो किया ही, जीवोंका घात हुआ तो हुआ ही, मन वचन काय जैसे प्रवर्ते वैसे प्रवर्तो ही — ऐसी निरंकुश वृत्ति [न इष्यते] जानकर करते हुए कर्मका बन्ध नहीं है ऐसा तो गणधरदेव नहीं मानते हैं। किस कारणसे नहीं मानते हैं? कारण कि “ सा निरर्गला व्यापृतिः किल तदायतनम् एव ” [सा] पूर्वोक्त [निरर्गला व्यापृतिः] बुद्धिपूर्वक जानकर, अन्तरंगमें रुचिकर विषय—कषायोंमें निरंकुशरूपसे आचरण [किल] निश्चयसे [तद्-आयतनम् एव] अवश्य कर, मिथ्यात्व—राग—द्वेषरूप अशुद्ध भावोंको लिये हुए है, इससे कर्मबन्धका कारण है। भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसी युक्तिका भाव मिथ्यादृष्टि जीवके होता है, सो मिथ्यादृष्टि कर्मबन्धका कर्ता प्रगट ही है। कारण कि “ ज्ञानिनां तत् अकामकृत कर्म अकारणं मतम् ” [ज्ञानिनां] सम्यग्दृष्टि जीवोंके [तत्] जो कुछ पूर्वबद्ध कर्मके उदयसे है वह समस्त [अकामकृत कर्म] अवांछित क्रियारूप है, इसलिए [अकारणं मतम्] कर्मबन्धका कारण नहीं है ऐसा गणधरदेवने माना है और ऐसा ही है। कोई कहेगा “ करोति जानाति च ” [करोति] कर्मके उदयसे होती है जो भोगसामग्री सो होती हुई अन्तरंग रुचिपूर्वक सुहाती है ऐसा भी है [जानाति च] तथा शुद्ध स्वरूपको अनुभवता है, समस्त कर्मजनित सामग्रीको हेयरूप जानता है ऐसा भी है।

ऐसा कोई कहता है सो झूठा है। कारण कि “द्वयं किमु न हि विरुध्यते” [द्वयं] ज्ञाता भी वांछक भी ऐसी दो क्रिया [किमु न हि विरुध्यते] विरुद्ध नहीं क्या? अपितु सर्वथा विरुद्ध है॥ ४-१६६॥

[वसन्ततिलका]

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु
जानात्ययं न खलु तत्किल कर्म रागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहु-
र्मिथ्यादृशः स नियतं स च बन्धहेतुः॥ ५-१६७॥

[हरिगीत]

जो ज्ञानीजन हैं जानते वे कभी भी करते नहीं।
करना तो है बस राग ही जो करे वे जाने नहीं॥
अज्ञानमय यह राग तो है भाव अध्यवसान ही।
बन्धकारण कहे ये अज्ञानियोंके भाव ही॥१६७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यः जानाति सः न करोति” [यः] जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव [जानाति] शुद्ध स्वरूपको अनुभवता है [सः] वह सम्यग्दृष्टि जीव [न करोति] कर्मकी उदय सामग्रीमें अभिलाषा नहीं करता। “तु यः करोति अयं न जानाति” [तु] और [यः] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव [करोति] कर्मकी विचित्र सामग्रीको आपरूप जानकर अभिलाषा करता है [अयं] वह मिथ्यादृष्टि जीव [न जानाति] शुद्धस्वरूप जीवको नहीं जानता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीवको जीवके स्वरूपका जानपना नहीं घटित होता। “खलु” ऐसा वस्तुका निश्चय है। ऐसा कहा जो मिथ्यादृष्टि कर्ता है वहाँ करना सो क्या? “तत् कर्म किल रागः” [तत् कर्म] कर्मके उदयसामग्रीका करना वह [किल] वास्तवमें [रागः] कर्म सामग्रीमें अभिलाषारूप चिकना परिणाम है। कोई मानेगा कि कर्मसामग्रीमें अभिलाषा हुई तो क्या न हुई तो क्या? सो ऐसा तो नहीं है, अभिलाषामात्र पूरा मिथ्यात्वपरिणाम है ऐसा कहते हैं —“तु रागं अबोधमयम् अध्यवसायम् आहुः” [तु] वह वस्तु ऐसी है कि [रागं अबोधमयम् अध्यवसायम्] परद्रव्य सामग्रीमें है जो अभिलाषा वह केवल मिथ्यात्वरूप परिणाम है ऐसा [आहुः] गणधरदेवने कहा है। “सः नियतं मिथ्यादृशः भवेत्” [सः] कर्मकी सामग्रीमें राग [नियतं] अवश्यकर [मिथ्यादृशः भवेत्] मिथ्यादृष्टि जीवके होता है। सम्यग्दृष्टि जीवके निश्चयसे नहीं होता। “सः च बन्धहेतुः” वह रागपरिणाम कर्मबंधका कारण है। इसलिए भावार्थ ऐसा है कि मिथ्यादृष्टि जीव कर्मबन्ध करता है, सम्यग्दृष्टि जीव नहीं करता॥ ५-१६७॥

[वसन्ततिलका]

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
 कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
 अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
 कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥ ६-१६८ ॥

[हरिगीत]

जीवन-मरण अर दुःख-सुख सब प्राणियों के सदा ही ।
 अपने कर्म के उदय के अनुसार ही हों नियम से ॥
 करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
 विविध भूलों से भरी यह मान्यता अज्ञान है ॥१६८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इह एतत् अज्ञानम्” [इह] मिथ्यात्व परिणामका एक अंग दिखलाते हैं — [एतत् अज्ञानम्] ऐसा भाव मिथ्यात्वमय है। “तु यत् परः पुमान् परस्य मरणजीवितदुःखसौख्यम् कुर्यात्” [तु] वह कैसा भाव ? [यत्] वह भाव ऐसा कि [परः पुमान्] कोई पुरुष [परस्य] अन्य पुरुषके [मरणजीवितदुःखसौख्यम्] मरण—प्राणघात, जीवित—प्राणरक्षा, दुःख—अनिष्टसंयोग, सौख्य—इष्टप्राप्ति ऐसे कार्यको [कुर्यात्] करता है। भावार्थ इस प्रकार है — अज्ञानी मनुष्योंमें ऐसी कहावत है कि ‘इस जीवने इस जीवको मारा, ‘इस जीवने इस जीवको जिलाया, ‘इस जीवने इस जीवको सुखी किया, ‘इस जीवने इस जीवको दुःखी किया’ ऐसी कहावत है सो ऐसी ही प्रतीति जिस जीवको होवे वह जीव मिथ्यादृष्टि है ऐसा निःसंदेह जानियेगा, धोका कुछ नहीं। क्यों जानना कि मिथ्यादृष्टि है ? कारण कि “मरणजीवितदुःखसौख्यम् सर्वं सदा एव नियतं स्वकीयकर्मोदयात् भवति” [मरण] प्राणघात [जीवित] प्राणरक्षा [दुःखसौख्यम्] इष्ट—अनिष्टसंयोग यह जो [सर्व] सर्व जीवराशिको होता है वह सब [सदा एव] सर्व काल [नियतं] निश्चयसे [स्वकीयकर्मोदयात् भवति] जिस जीवने अपने विशुद्ध अथवा संक्लेशरूप परिणामके द्वारा पहले ही बाँधा है जो आयुकर्म अथवा साताकर्म अथवा असाताकर्म, उस कर्मके उदयसे उस जीवको मरण अथवा जीवन अथवा दुःख अथवा सुख होता है ऐसा निश्चय है। इस बातमें धोका कुछ नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जीव किसी जीवको मारने के लिए समर्थ नहीं है, जिलाने के लिए समर्थ नहीं है, सुखी—दुःखी करने के लिए समर्थ नहीं है ॥ ६-१६८ ॥

[वसन्ततिलका]

अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
 पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
 कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
 मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ ७-१६९ ॥

[हरिगीत]

करे कोई किसी के जीवन-मरण अर दुःख-सुख ।
 मानते हैं जो पुरुष अज्ञानमय इस बात को ॥
 कर्तृत्व रस से लबालब हैं अहंकारी वे पुरुष ।
 भव-भव भ्रमें मिथ्यामती अर आत्मघाती वे पुरुष ॥ १६९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ ये परात् परस्य मरणजीवितदुःखसौख्यम् पश्यन्ति ’’ [ये] जो कोई अज्ञानी जीवराशि [परात्] अन्य जीवसे [परस्य] अन्य जीवका [मरणजीवितदुःखसौख्यम्] मरना, जीना, दुःख, सुख [पश्यन्ति] मानती है। क्या करके? ‘‘ एतत् अज्ञानम् अधिगम्य ’’ [एतत् अज्ञानम्] मिथ्यात्वरूप अशुद्ध परिणामको—ऐसे अशुद्धपनेको [अधिगम्य] पाकर। ‘‘ ते नियतम् मिथ्यादृशः भवन्ति ’’ [ते] जो जीवराशि ऐसा मानती है वह [नियतम्] निश्चयसे [मिथ्यादृशः भवन्ति] सर्व प्रकार मिथ्यादृष्टिराशि है। कैसे हैं वे मिथ्यादृष्टि? ‘‘ अहंकृतिरसेन कर्माणि चिकीर्षवः ’’ [अहंकृति] मैं देव, मैं मनुष्य, मैं तिर्यच, मैं नारक, मैं दुःखी, मैं सुखी ऐसी कर्मजनितपर्यायमें है आत्मबुद्धिरूप जो [रसेन] मग्नपना उसके द्वारा [कर्माणि] कर्मके उदयसे जितनी क्रिया होती है उसे [चिकीर्षवः] ‘ मैं करता हूं , मैंने किया है, ऐसा करूँगा ’ ऐसे अज्ञानको लिए हुए मानते हैं। और कैसे हैं? ‘‘ आत्महनः ’’ अपने को घातनशील हैं ॥ ७-१६९ ॥

[अनुष्टुप]

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।

य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्माऽस्य दृश्यते ॥ ८-१७० ॥

[दोहा]

विविध कर्म बंधन करें जो मिथ्याध्यवसाय ।

मिथ्यामति निशदिन करें वे मिथ्याध्यवसाय ॥१७०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अस्य मिथ्यादृष्टेः सः एव बन्धहेतुः भवति ’’ [अस्य मिथ्यादृष्टेः] इस मिथ्यादृष्टि जीवके [सः एव] मिथ्यात्वरूप है जो ऐसा परिणाम कि इस जीवने इस जीवको मारा, इस जीवने इस जीवको जिलाया ‘ऐसा भाव [बन्धहेतुः भवति] ज्ञानावरणादि कर्मबंधका कारण होता है। किस कारणसे? ‘‘ विपर्ययात् ’’ कारण कि ऐसा परिणाम मिथ्यात्वरूप है। ‘‘ यः एव अयम् अध्यवसायः ’’ ‘इसको मारूँ, ‘इसको जिलाऊँ’ ‘ऐसा जो मिथ्यात्वरूप परिणाम जिसके होता है ‘‘ अस्य अज्ञानात्मा दृश्यते ’’ [अस्य] ऐसे जीवका [अज्ञानात्मा] मिथ्यात्वमय स्वरूप [दृश्यते] देखने में आता है ॥ ८-१७० ॥

[अनुष्टुप]

अनेनाध्यवसायेन निष्फलेन विमोहितः ।

तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥ ९-१७१ ॥

[दोहा]

निष्फल अध्यवसान में मोहित हो यह जीव ।

सर्वरूप निज को करे जाने सब निजरूप ॥१७१॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ आत्मा आत्मानं यत् न करोति तत् किञ्चन अपि न एव अस्ति ’’ [आत्मा] मिथ्यादृष्टि जीव [आत्मानं] अपनेको [यत् न करोति] जिसरूप नहीं आस्वादता [तत् किञ्चन] ऐसी पर्याय ऐसा विकल्प [न एव अस्ति] त्रैलोक्यमें है ही नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव जैसी पर्याय धारण करता है, जैसे भावरूप परिणमता है, उस सबको आपस्वरूप जान अनुभवता है। इसलिए कर्मके स्वरूपको जीवके स्वरूपसे भिन्न कर नहीं जानता है, एकरूप अनुभव करता है। ‘‘ अनेन अध्यवसायेन ’’ इसको मारूँ, इसको जिलाऊँ, इसे मैंने मारा, इसे मैंने जिलाया, इसे मैंने सुखी किया, इसे मैंने दुःखी किया ऐसे परिणामसे ‘‘ विमोहितः ’’ गहल हुआ है। कैसा है परिणाम? ‘‘ निःफलेन ’’ झूठा है। भावार्थ इस प्रकार है कि यद्यपि मारनेकी कहता है, जिलाने की कहता है तथापि जीवोंका मरना जीना अपने कर्मके उदयके हाथ है। इसके परिणामोंके आधीन नहीं है। यह अपने अज्ञानपनाको लिए हुए अनेक झूठे विकल्प करता है ॥ ९-१७१ ॥

[इन्द्रवज्रा]

विश्वाद्धिभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-
दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष
नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १०-१७२ ॥

[रोला]

यद्यपि चेतन पूर्ण विश्व से भिन्न सदा है ,फिर भी निजको करे विश्वमय जिसके कारण ।
मेहमूल वह अध्यवसाय ही जिसके न हो ,परमप्रतापी दृष्टवन्त वे ही मुनिवर हैं ॥१७२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ते एव यतयः ” वे ही यतीश्वर है “ येषांइह एष अध्यवसायः नास्ति ” [येषां] जिनको [इह] सूक्ष्मरूप वा स्थूलरूप [एषः अध्यवसायः] ‘ इसको मारूँ , ‘ इसको जिलाऊँ ’ ऐसा मिथ्यात्वरूप परिणाम [नास्ति] नहीं है। कैसा है परिणाम ? “ मोहैककन्दः ” [मोह] मिथ्यात्वका [एककन्दः] मूल कारण है। “ यत्प्रभावात् ” जिस मिथ्यात्व परिणामके कारण “ आत्मा आत्मानम् विश्वम् विदधाति ” [आत्मा] जीवद्रव्य [आत्मानम्] आपको [विश्वम्] ‘ मैं देव , मैं मनुष्य , मैं क्रोधी , मैं मानी , मैं दुःखी , मैं सुखी इत्यादि नानारूप [विदधाति] अनुभवता है। कैसा है आत्मा ? “ विश्वात् विभक्त अपि ” कर्मके उदयसे हुई समस्त पर्यायोंसे भिन्न है , ऐसा है यद्यपि। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमें रत है , इसलिए पर्यायको आपरूप अनुभवता है। ऐसे मिथ्यात्वभाव के छूटनेपर ज्ञानी भी साँचा , आचरण भी साँचा ॥ १०-१७२ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥ ११-१७३ ॥

[अडिल्ल]

सबही अध्यवसान त्यागने योग्य है ,यह जो बात विशेष जिनेश्वर ने कही ।
इसका तो स्पष्ट अर्थ यह जानिये ,अन्याश्रित व्यवहार त्यागने योग्य है ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का जो ज्ञेय है ,शुद्ध निजातमराम एक ही ध्येय है ।
यदि ऐसी है बात तो मुनिजन क्यों नहीं ,शुद्धज्ञानघन आतम में निश्चल रहे ॥१७३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ अमी सन्तः निजे महिम्नि धृतिम् किं न बध्नन्ति ” [अमी सन्तः] सम्यग्दृष्टि जीवराशि [निजे महिम्नि] अपने शुद्ध चिद्रूप स्वरूपमें [धृतिम्] स्थिरतारूप सुखको [किं न बध्नन्ति] क्यों न करे ? अपितु सर्वथा करे। कैसी है निज महिमा ? “ शुद्धज्ञानघने ” [शुद्ध] रागादि रहित ऐसे [ज्ञान] चेतनागुणका [घने] समूह है।

क्या करके? “तत् सम्यक् निश्चयं आक्रम्य” [तत्] तिस कारणसे [सम्यक् निश्चयम्] निर्विकल्प वस्तुमात्रको [आक्रम्य] जैसी है वैसी अनुभवगोचर कर। कैसा है निश्चय? “एकम् एव” [एकम्] निर्विकल्प वस्तुमात्र है, [एव] निश्चयसे। और कैसा है? “निष्कम्पम्” सर्व उपाधिसे रहित है। “यत् सर्वत्र अध्यवसानम् अखिलं एव त्याज्यं” [यत्] जिस कारणसे [सर्वत्र अध्यवसानम्] ‘मैं मारूँ, मैं जिलाऊँ, मैं दुःखी करूँ, मैं सुखी करूँ, मैं देव, मैं मनुष्य’ इत्यादि हैं जो मिथ्यात्वरूप असंख्यात् लोकमात्र परिणाम [अखिलं एव त्याज्यं] वे समस्त परिणाम हेय हैं। कैसा है परिणाम? “जिनैः उक्तं” परमेश्वर केवलज्ञान बिराजमान, उन्होंने ऐसा कहा है। “तत्” मिथ्यात्वभावका हुआ है त्याग, उसको “मन्ये” मैं ऐसा मानता हूँ कि “निखिलः अपि व्यवहारः त्याजितः एव” [निखिलः अपि] जितना है सत्यरूप अथवा असत्यरूप [व्यवहारः] शुद्धस्वरूपमात्रसे विपरीत जितने मन वचन कायके विकल्प वे सब [त्याजितः] सर्व प्रकार छूटे हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वोक्त मिथ्याभाव जिसके छूट गया उसके समस्त व्यवहार छूट गया। कारण कि मिथ्यात्वके भाव तथा व्यवहारके भाव एक वस्तु है। कैसा है व्यवहार? “अन्याश्रयः” [अन्य] विपरीतपना वही है, [आश्रयः] अवलंबन जिसका, ऐसा है।। ११-१७३।।

[उपजाति]

रागादयो बन्धनिदानमुक्ता-
स्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्त-
मिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः।। १२-१७४।।

[सोरठा]

कहे जिनागम माँहि शुद्धातमसे भिन्न जो।
रागादिक परिणाम कर्मबन्ध के हेतु वे ।।
यहाँ प्रश्न अब एक उन रागादिक भाव का।
यह आत्मा या अन्य कौन हेतु है अब कहें।। १७४।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “पुनः एवम् आहुः” [पुनः] शुद्ध वस्तुस्वरूपका निरूपण किया तथापि पुनः [एवम् आहुः] ऐसा कहते हैं ग्रंथके कर्ता श्री कुन्दकुंदाचार्य। कैसा है? “इति प्रणुन्नाः” ऐसा प्रश्नरूप नम्र होकर पूछा है। कैसा प्रश्नरूप? “ते रागादयः बन्धनिदानम् उक्ताः” अहो स्वामिन्! [ते रागादयः] अशुद्ध चेतनारूप है राग द्वेष मोह इत्यादि असंख्यात लोकमात्र विभाव परिणाम, वे [बन्धनिदानम् उक्ताः] ज्ञानावरणादि कर्मबंधके कारण है ऐसा कहा, सुना, जाना, माना। कैसे हैं वे भाव? “शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः” [शुद्धचिन्मात्र] शुद्ध ज्ञानचेतनामात्र हैं जो [महः] ज्योतिस्वरूप जीववस्तु, उससे [अतिरिक्ताः] बाहर हैं। अब एक प्रश्न मैं करता हूँ कि “तन्निमित्तम् आत्मा वा परः” [तन्निमित्तम्] उन राग द्वेष मोहरूप अशुद्ध परिणामोंका कारण कौन है? [आत्मा] जीवद्रव्य कारण है [वा] कि [परः] मोह कर्मरूप परिणाम है

जो पुद्गलद्रव्य का पिण्ड वह कारण है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर कहते हैं ॥ १२ — १७४ ॥

[उपजाति]

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव
वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १३-१७५ ॥

[सोरठा]

अग्निरूप न होय सूर्यकान्तमणि सूर्य बिन ।
रागरूप नहोय यह आतम परसंग बिन ॥ १७५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ तावत् अयम् वस्तुस्वभावः उदेति ’’ [तावत्] किया था प्रश्न, उसका उत्तर इस प्रकार — [अयम् वस्तुस्वभावः] यह वस्तुका स्वरूप [उदेति] सर्व काल प्रगट है। कैसा है वस्तुका स्वभाव ? ‘‘ जातु आत्मा आत्मनः रागादिनिमित्तभावम् न याति ’’ [जातु] किसी कालमें [आत्मा] जीवद्रव्य [आत्मनः रागादिनिमित्तभावम्] आपसबंधी हैं जो राग द्वेष मोहरूप अशुद्ध परिणाम उनके कारणपनारूप [न याति] नहीं परिणमता है। भावार्थ इस प्रकार है कि द्रव्यके परिणामका कारण दो प्रकारका है — एक उपादान कारण है, एक निमित्त कारण है। उपादान कारण द्रव्यके अन्तर्गर्भित है अपने परिणाम पर्यायरूप परिणमनशक्ति, वह तो जिस द्रव्यकी उसी द्रव्यमें होती है ऐसा निश्चय है। निमित्तकारण— जिस द्रव्यका संयोग प्राप्त होनेसे अन्य द्रव्य अपनी पर्यायरूप परिणमता है। वह तो जिस द्रव्यकी उस द्रव्यमें होती है, अन्य द्रव्यगोचर नहीं होती ऐसा निश्चय है। जैसे मिट्टी घट पर्यायरूप परिणमती है। उसका उपादान कारण है मिट्टी में घटरूप परिणमनशक्ति। निमित्तकारण है बाह्यरूप कुम्हार, चक्र, दण्ड इत्यादि। वैसे ही जीवद्रव्य अशुद्ध परिणाम मोह राग द्वेषरूप परिणमता है। उसका उपादानकारण है जीवद्रव्यमें अन्तर्गर्भित विभावरूप अशुद्ध परिणमनशक्ति। ‘‘ तस्मिन् निमित्तं ’’ निमित्तकारण है ‘‘ परसङ्गः एव ’’ दर्शनमोह चारित्रमोह कर्मरूप बँधा जो जीवके प्रदेशोंमें एकक्षेत्रावगाहरूप पुद्गल द्रव्यका पिण्ड, उसका उदय। यद्यपि मोहकर्मरूप पुद्गलपिण्डका उदय अपने द्रव्यके साथ व्याप्य—व्यापकरूप है, जीवद्रव्यके साथ व्याप्य—व्यापकरूप नहीं है तथापि मोह कर्मका उदय होनेपर जीवद्रव्य अपने विभाव परिणामरूप परिणमता है ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है। सहारा किसका ? यहाँ दृष्टांत है — ‘‘ यथा अर्ककान्तः ’’ जैसे स्फटिकमणि लाल, पीली, काली इत्यादि अनेक छविरूप परिणमती है। उसका उपादानकारण है स्फटिकमणिके अन्तर्गर्भित नाना वर्णरूप परिणमनशक्ति। निमित्तकारण है बाह्य नाना वर्णरूप पूरीका [आश्रयरूप वस्तुका] संयोग ॥ १३-१७५ ॥

[अनुष्टुप]

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १४-१७६ ॥

[दोहा]

ऐसे वस्तुस्वभाव को जाने विज्ञ सदीव ।
अपनापन ना राग में अतः अकारक जीव ॥ १७६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ ज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं जानाति ’’ [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [इति] पूर्वोक्त प्रकार [वस्तुस्वभावं] द्रव्यका स्वरूप ऐसा जो [स्वं] अपना शुद्ध चैतन्य, उसको [जानाति] आस्वादरूप अनुभवता है, ‘‘ तेन सः रागादीन् आत्मनः न कुर्यात् ’’ [तेन] तिस कारणसे [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [रागादीन्] राग द्वेष मोहरूप अशुद्ध परिणाम [आत्मनः] जीवद्रव्यके स्वरूप है ऐसा [न कुर्यात्] नहीं अनुभवता है, कर्मके उदयकी उपाधि है ऐसा अनुभवता है । ‘‘ अतः कारकः न भवति ’’ [अतः] इस कारणसे [कारकः] रागादि अशुद्ध परिणामोंका कर्ता [न भवति] नहीं होता । भावार्थ इस प्रकार है कि सम्यग्दृष्टि जीवके रागादि अशुद्ध परिणामोंका स्वामित्वपना नहीं है, इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव कर्ता नहीं है ॥ १४-१७६ ॥

[अनुष्टुप]

इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥ १५-१७७ ॥ ❀

[दोहा]

ऐसे वस्तु स्वभाव को ना जाने अल्पज्ञ ।
धरे एकता राग में नहीं अकारक अज्ञ ॥ १७७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अज्ञानी इति वस्तुस्वभावं स्वं न वेत्ति ’’ [अज्ञानी] मिथ्यादृष्टि जीव [इति] पूर्वोक्त प्रकार [वस्तुस्वभावं] द्रव्यका स्वरूप ऐसा जो [स्वं] अपना शुद्ध चैतन्य, उसको [न वेत्ति] आस्वादरूप नहीं अनुभवता है, ‘‘ तेन सः रागादीन् आत्मनः कुर्यात् ’’ [तेन] तिस कारणसे [सः] मिथ्यादृष्टि जीव [रागादीन्] राग—द्वेष— मोहरूप अशुद्ध परिणाम [आत्मनः] जीवद्रव्यके स्वरूप है ऐसा [कुर्यात्] अनुभवता है, कर्मके उदयकी उपाधि है ऐसा नहीं अनुभवता है, ‘‘ अतः कारकः भवति ’’ [अतः] इस कारणसे [कारकः] रागादि अशुद्ध परिणामोंका कर्ता [भवति] होता है । भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीवके रागादि अशुद्ध परिणामोंका स्वामित्वपना है, इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव कर्ता है ॥ १५-१७७ ॥

❀ पंडित श्री राजमल्लजीकी टीकामें यह श्लोक एवं उसका अर्थ छूट गया है । श्लोक नं १७६के आधारसे इस श्लोकका ‘खंडान्वय सहित अर्थ’ बनाकर यहाँ पादटिप्पण में दिया है ।

[शार्दूलविक्रीडित]

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्
तन्मूलां बहुभावसन्ततिमिमामुद्धर्तुकामः समम् ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णकसंविद्युतं
येनोन्मूलितबन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥ १६-१७८ ॥

[सवैया इकतीसा]

परद्रव्य है निमित्त परभाव नैमित्तिक, नैमित्तिक भावों से कषायवान हो रहा ।
भावीकर्मबन्धन हो इन कषायभावों से, बंधन में आतमा विलायमान हो रहा ॥
इस प्रकार जान परभावों की संतति को, जड़से उखाड़ स्फुरायमान हो रहा ।
आनन्दकन्द निज आतम के वेदन में, निज भगवान शोभायमान हो रहा ॥ १७८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एषः आत्मा आत्मानं समुपैति येन आत्मनि स्फूर्जति” [एषः आत्मा] प्रत्यक्ष है जो जीवद्रव्य वह [आत्मानं समुपैति] अनादि कालसे स्वरूपसे भ्रष्ट हुआ था तथापि इस अनुक्रमसे अपने स्वरूपको प्राप्त हुआ । [येन] जिस स्वरूपकी प्राप्तिके कारण [आत्मनि स्फूर्जति] परद्रव्य से सम्बन्ध छूट गया, आपसे सम्बन्ध रहा । कैसा है ? “उन्मूलितबन्धः” [उन्मूलित] मूल सत्तासे दूर किया है [बन्धः] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलद्रव्यका पिण्ड जिसने ऐसा है । और कैसा है ? “भगवान्” ज्ञानस्वरूप है । कैसा करके अनुभवता है ? “निर्भरवहत्पूर्णकसंविद्युतं” [निर्भर] अनंत शक्तिके पुञ्जुरूपसे [वहत्] निरंतर परिणमता है ऐसा जो [पूर्ण] स्वरससे भरा हुआ [एकसंविद्] विशुद्ध ज्ञान, उससे [युतं] मिला हुआ है ऐसे शुद्ध स्वरूपको अनुभवता है । और कैसा है आत्मा ? “इमाम् बहुभावसन्ततिम् समम् उद्धर्तुकामः” [इमाम्] कहा है स्वरूप जिसका ऐसा है [बहुभाव] राग द्वेष मोह आदि अनेक प्रकारके अशुद्ध परिणाम उनकी [सन्ततिम्] परम्परा, उसको [समम्] एक ही कालमें [उद्धर्तुकामः] उखाड़कर दूर करनेका है अभिप्राय जिसका ऐसा है । कैसी है भावसंतति ? “तन्मूलां” परद्रव्यका स्वामित्वपना है मूल कारण जिसका ऐसी है । क्या करके ? “किल बलात् तत् समग्रं परद्रव्यं इति आलोच्य विवेच्य” [किल] निश्चयसे [बलात्] ज्ञानके बलकर [तत्] द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मरूप [समग्रं परद्रव्यं] ऐसी है जितनी पुद्गलद्रव्यकी विचित्र परिणति, उसको [इति आलोच्य] पूर्वोक्त प्रकार से विचारकर [विवेच्य] शुद्ध ज्ञानस्वरूपसे भिन्न किया है । भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूप उपादेय है, अन्य समस्त परद्रव्य हेय है ॥ १६-१७८ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां
कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥ १७-१७९ ॥

[सवैया इकतीसा]

बंध के जो मूल उन रागादिकभावों को, जड़ से उखाड़ने उदीयमान हो रही ।
जिसके उदय से चिन्मयलोक की, यह कर्मकालिमा विलीयमान हो रही ॥
जिसके उदय को कोई नहीं रोक सके, अद्भुत शौर्य से विकासमान हो रही ।
कमर कसे हुए धीर-वीर गंभीर, ऐसी दिव्य ज्योति प्रकाशमान हो रही ॥ १७९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एतत् ज्ञानज्योतिः तद्वत् सन्नद्धम्” [एतत् ज्ञानज्योतिः]
स्वानुभवगोचर शुद्ध चैतन्यवस्तु [तद्वत् सन्नद्धम्] अपने बल पराक्रमके साथ ऐसी प्रगट हुई कि
“यद्वत् अस्य प्रसरम् अपरः कः अपि न आवृणोति” [यद्वत्] जैसे [अस्य प्रसरम्] शुद्ध ज्ञानका
लोक अलोकसम्बन्धी सकल ज्ञेयको जाननेका ऐसा प्रसार जिसको [अपरः कः अपि] अन्य कोई
दूसरा द्रव्य [न आवृणोति] नहीं रोक सकता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका स्वभाव
केवलज्ञान केवलदर्शन है, वह ज्ञानावरणादि कर्मबन्धके द्वारा आच्छादित है। ऐसा आवरण शुद्ध
परिणामसे मिटता है, वस्तुस्वरूप प्रगट होता है। ऐसा शुद्ध स्वरूप जीवको उपादेय है। कैसी है
ज्ञानज्योति? “क्षपिततिमिरं” [क्षपित] विनाश किया है [तिमिरं] ज्ञानावरण दर्शनावरणकर्म
जिसने ऐसी है। और कैसी है? “साधु” सर्व उपद्रवोंसे रहित है। और कैसी है? “कारणानां
रागादीनाम् उदयं दारयत्” [कारणानां] कर्मबंधके कारण ऐसे जो [रागादीनाम्] राग द्वेष
मोहरूप अशुद्ध परिणाम, उनके [उदयं] प्रगटपनेको [दारयत्] मूलसे ही उखाड़ती हुई। कैसे
उखाड़ती है? “अदयं” निर्दयपनेके समान। और क्या करके ऐसी होती है? “कार्यं बन्धं अधुना
सद्यः एव प्रणुद्य” [कार्यं] रागादि अशुद्ध परिणामोंके होनेपर होता है ऐसे [बन्धं] धाराप्रवाहरूप
होनेवाले पुद्गलकर्मके बन्धको [सद्यः एव] जिस कालमें रागादि मिट गये उसी कालमें [प्रणुद्य]
मेटकरके। कैसा है बन्ध? “विविधम्” ज्ञानावरण दर्शनावरण इत्यादि असंख्यात लोकमात्र है।
कोई वितर्क करेगा कि ऐसा तो द्रव्यरूप विद्यमान ही था। समाधान इस प्रकार है कि [अधुना]
द्रव्यरूप यद्यपि विद्यमान ही था तथापि प्रगटरूप बन्धको दूर करनेपर हुआ ॥ १७-१७९ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- “इदानीं पूर्ण ज्ञानं विजयते” [इदानीम्] यहाँ से लेकर [पूर्ण ज्ञानं] समस्त आवरणका विनाश होनेपर होता है जो शुद्ध वस्तुका प्रकाश वह [विजयते] आगामी अनन्त काल पर्यन्त उसी रूप रहता है, अन्यथा नहीं होता। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “कृतसकलकृत्यं” [कृत] किया है [सकलकृत्यं] करने योग्य समस्त कर्मका विनाश जिसने ऐसा है। और कैसा है? “उन्मज्जुत्सहजपरमानन्दसरसं” [उन्मज्जुत्] अनादि कालसे गया था सो प्रगट हुआ है ऐसा जो [सहजपरमानन्द] द्रव्यके स्वभावरूपसे परिणमनेवाला अनाकुलत्वलक्षण अतीन्द्रिय सुख, उससे [सरसं] संयुक्त है। भावार्थ इस प्रकार है कि मोक्षका फल अतीन्द्रिय सुख है। क्या करता हुआ ज्ञान प्रगट होता है? “पुरुषम् साक्षात् मोक्षं नयत्” [पुरुषम्] जीवद्रव्यको [साक्षात् मोक्षं] सकल कर्मका विनाश होनेपर शुद्धत्व—अवस्थाके प्रगटपनेरूप [नयत्] परिणमाता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि यहाँ से आरम्भकर सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षके स्वरूपका निरूपण किया जाता है। और कैसा है? “परं” उत्कृष्ट है। और कैसा है? “उपलम्भैकनियतम्” एक निश्चयस्वभावको प्राप्त है। क्या करता हुआ आत्मा मुक्त होता है? “बन्ध—पूरुषौ द्विधाकृत्य” [बन्ध] द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूप उपाधि [पुरुषौ] शुद्ध जीवद्रव्य इनको, [द्विधाकृत्य] ‘सर्व बन्ध हेय, शुद्ध जीव उपादेय ऐसी भेदज्ञानरूप प्रतीति उत्पन्न कराकर। ऐसी प्रतीति जिस प्रकार उत्पन्न होती है उस प्रकार कहते हैं—“प्रज्ञाक्रकचदलनात्” [प्रज्ञा] शुद्धज्ञानमात्र जीवद्रव्य, अशुद्ध रागादि उपाधि बन्ध— ऐसी भेदज्ञानरूपी बुद्धि, ऐसी जो [क्रकच] करोंत, उसके द्वारा [दलनात्] निरन्तर अनुभवका अभ्यास करनेसे।

भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार करोंतके बारबार चालू करनेसे पुद्गलवस्तु काष्ठ आदि दो खण्ड हो जाता है, उसी प्रकार भेदज्ञानके द्वारा जीव—पुद्गलको बारबार भिन्न भिन्न अनुभव करनेपर भिन्न भिन्न हो जाते हैं। इसलिए भेदज्ञान उपादेय है॥ १-१८०॥

[स्तम्भधरा]

**प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्दाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥ २-१८१॥**

[हरिगीत]

**सूक्ष्म अन्तःसंधि में अति तीक्ष्ण प्रज्ञाछैनि को।
अति निपुणता से डालकर अति निपुणजन ने बन्धको॥
अति भिन्न करके आत्मा से आत्मा में जम गये।
वे ही विवेकी धन्य हैं जो भवजलधि से तर गये॥१८१॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य तथा कर्मपर्यायरूप परिणत पुद्गलद्रव्यका पिण्ड, इन दोनोंका एक बन्ध पर्यायरूप सम्बन्ध अनादि से चला आया है सो ऐसा सम्बन्ध जब छूट जाय, जीवद्रव्य अपने शुद्ध स्वरूपरूप परिणमें अनन्त चतुष्टयरूप परिणमें तथा पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायको छोड़े—जीवके प्रदेशोंसे सर्वथा अबन्धरूप होकर सम्बन्ध छूट जाय। जीव—पुद्गल दोनों भिन्न—भिन्न हो जावें, उसका नाम मोक्ष कहनेमें आता है। उस भिन्न—भिन्न होनेका कारण ऐसा जो मोह—राग—द्वेष इत्यादि विभावरूप अशुद्ध परिणतिके मिटनेपर जीवका शुद्धत्वरूप परिणमन। उसका विवरण इस प्रकार है कि शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा सकल कर्मोंके क्षय करनेका कारण है। ऐसा शुद्धत्वपरिणमन सर्वथा द्रव्यका परिणमनरूप है, निर्विकल्परूप है, इसलिए वचनके द्वारा कहनेका समर्थपना नहीं है। इस कारण इस रूपमें कहते हैं कि जीवके शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप परिणमाता है ज्ञानगुण सो मोक्षका कारण है। उसका समाधान ऐसा है कि शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप है जो ज्ञान वह जीवके शुद्धत्व परिणमनको सर्वथा लिए हुए है। जिसको शुद्धत्वपरिणमन होता है उस जीवको शुद्ध स्वरूपका अनुभव अवश्य होता है, धोखा नहीं, अन्यथा सर्वथा प्रकार अनुभव नहीं होता। इसलिए शुद्ध स्वरूपका अनुभव मोक्षका कारण है। यहाँ अनेक प्रकारके मिथ्यादृष्टि जीव नाना प्रकारके विकल्प करते हैं, सो उनका समाधान करते हैं। कोई कहते हैं कि जीवका स्वरूप बन्धका स्वरूप जान लेना मोक्षमार्ग है। कोई कहते हैं कि बन्धका स्वरूप जानकर ऐसा चिन्तवन करना कि बन्ध कब छूटेगा कैसे छूटेगा ऐसी चिन्ता मोक्षका कारण है। ऐसा कहते हैं सो वे जीव झूठे हैं—मथ्यादृष्टि हैं।

मोक्षका कारण जैसा है वैसा कहते हैं —“इयं प्रज्ञाच्छेत्री आत्मकर्मोभयस्य अन्तःसन्धिबन्धे निपतति” [इयं] वस्तुस्वरूपसे प्रगट है जो [प्रज्ञा] आत्माके शुद्धस्वरूप अनुभव समर्थपनेसे परिणमा हुआ जीवका ज्ञानगुण, वही है [छेत्री] छैनी। भावार्थ इस प्रकार है कि सामान्यतया जिस किसी वस्तुको छेदकर दो करते हैं सो छैनीके द्वारा छेदते हैं। यहाँ भी जीव कर्मको छेदकर दो करना है, उनको दो रूपसे छेदने के लिए स्वरूपअनुभव समर्थ ज्ञानरूप छैनी है। और तो दूसरा कारण न हुआ, न होगा। ऐसी प्रज्ञाछैनी जिस प्रकार छेदकर दो करती हैं उस प्रकार कहते हैं — [आत्मकर्मोभयस्य] आत्मा—चेतनामात्र द्रव्य, कर्म—पुद्गलका पिण्ड अथवा मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध परिणति ऐसी है उभय—दो वस्तुएँ, उनको [अन्तःसन्धि] यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है, बन्धपर्यायरूप है, अशुद्धत्व विकाररूप परिणमा है तथापि परस्पर सन्धि है, निःसन्धि नहीं हुआ है, दो द्रव्योंका एक द्रव्यरूप नहीं हुआ है ऐसा है जो [बन्धे] ज्ञानछैनीके पैठनेका स्थान, उसमें [निपतति] ज्ञानछैनी पैठती है। पैठी हुई छेदकर भिन्न—भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? “शिता” ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होनेपर मिथ्यात्वकर्मका नाश होनेपर शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें अत्यंत पैठन समर्थ है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार यद्यपि लोहसारकी छैनी अति पैनी होती है तो भी सन्धिका विचार करने पर [मारने से] छेदकर दो करदेती है उसी प्रकार यद्यपि सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञान अत्यंत तीक्ष्ण है तथापि जीव—कर्मकी है जो भीतरमें सन्धि उसमें प्रवेश करनेपर प्रथम तो बुद्धिगोचर छेदकर दो करता है। पश्चात् सकलकर्मका क्षय होनेसे साक्षात् छेदकर भिन्न भिन्न करता है। कैसा है जीव—कर्मका अन्तःसन्धिबन्ध? “सूक्ष्मे” अति ही दुर्लक्ष्य सन्धिरूप है। उसका विवरण इस प्रकार है कि जो द्रव्यकर्म है ज्ञानावरणादि पुद्गलका पिण्ड, वह यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है, तथापि उसकी तो जीवसे भिन्नपनेकी प्रतीति विचारनेपर उत्पन्न होती है; कारण कि द्रव्यकर्म पुद्गलपिण्डरूप है, यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है तथापि भिन्न भिन्न प्रदेश है, अचेतन है, बँधता है, खुलता है ऐसा विचार करनेपर भिन्नपनाकी प्रतीति उत्पन्न होती है। नोकर्म है जो शरीर—मन—वचन उससे भी उस प्रकारसे विचारने पर भेद प्रतीति उत्पन्न होती है। भावकर्म जो मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध चेतनारूप परिणाम वे अशुद्ध परिणाम वर्तमानमें जीवके साथ एकपरिणमनरूप हैं, तथा अशुद्ध परिणामके साथ वर्तमानमें जीव व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है। इस कारण उन परिणामोंका जीवसे भिन्नपनेका अनुभव कठिन है। तथापि सूक्ष्म सन्धिका भेद पाड़नेपर भिन्न प्रतीति होती है। उसका विचार ऐसा है कि जिस प्रकार स्फटिकमणि स्वरूपसे स्वच्छतामात्र वस्तु है। लाल पीली काली पुरीका [आश्रयरूप वस्तुका] संयोग प्राप्त होनेसे लाल पीली काली इसरूप स्फटिकमणि झलकती है। वर्तमानमें स्वरूपका विचार करनेपर स्वच्छतामात्र भूमिका स्फटिकमणि वस्तु है। उसमें लाल पीला कालापन परसंयोगकी उपाधि है। स्फटिकमणिका स्वभावगुण नहीं है। उसी प्रकार जीवद्रव्यका स्वच्छ चेतनामात्र स्वभाव है। अनादि सन्तानरूप मोहकर्मके उदयसे मोह राग द्वेषरूप रंजक अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है।

तथापि वर्तमानमें स्वरूपका विचार करनेपर चेतना भूमिमात्र तो जीववस्तु है। उसमें मोह राग द्वेषरूप रंजकपना कर्मके उदयकी उपाधि है। वस्तुका स्वभावगुण नहीं है। इस प्रकार विचार करनेपर भेद—भिन्न प्रतीति उत्पन्न होती है जो अनुभवगोचर है। कोई प्रश्न करता है कि कितने कालके भीतर प्रज्ञाछैनी गिरती है—भिन्न—भिन्न करती है? उत्तर इस प्रकार है —“**रभसात्**” अति सूक्ष्म काल — एक समयमें गिरती है, उसी काल भिन्न—भिन्न करती है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? “**निपुणैः कथमपि पातिता**” [**निपुणैः**] आत्मानुभवमें प्रवीण है जो सम्यग्दृष्टि जीव उनके द्वारा [**कथम् अपि**] संसारका निकटपना ऐसी काललब्धि प्राप्त होनेसे [**पातिता**] स्वरूपमें पैठानेसे पैठती है। भावार्थ इस प्रकार है कि भेदविज्ञान बुद्धिपूर्वक विकल्परूप है, ग्राह्य—ग्राहकरूप है, शुद्धस्वरूपके समान निर्विकल्प नहीं है। इसलिए उपायरूप है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? “**सावधानैः**” जीवका स्वरूप कर्मका स्वरूप उनके भिन्न भिन्न विचारमें जागरूक हैं, प्रमादी नहीं है। कैसी है प्रज्ञाछैनी? “**अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती**” [**अभितः**] सर्वथा प्रकार [**भिन्नभिन्नौ कुर्वती**] जीवको कर्मको जुदा जुदा करती है । जिस प्रकार भिन्न भिन्न करती है उस प्रकार कहते हैं—“**चैतन्यपूरे आत्मानं मग्नं कुर्वती अज्ञानभावे बन्धं नियमितं कुर्वती**” [**चैतन्य**] स्वपरस्वरूप ग्राहक ऐसा जो प्रकाशगुण उसके [**पूरे**] त्रिकालगोचर प्रवाहमें [**आत्मानं**] जीवद्रव्यको [**मग्नं कुर्वती**] एक वस्तुरूप ऐसा साधती है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्धचेतनामात्र जीवका स्वरूप है ऐसा अनुभवगोचर आता है। [**अज्ञानभावे**] रागादिपनामें [**नियमितं बन्धं कुर्वती**] नियमसे बंधका स्वभाव है ऐसा साधती है। भावार्थ इस प्रकार है कि रागादि अशुद्धपना कर्मबंधकी उपाधि है, जीवका स्वरूप नहीं है ऐसा अनुभवगोचर आता है। कैसा है चैतन्यपूर? “**अन्तःस्थिरविशदलसद्धान्नि**” [**अन्तः**] सर्व असंख्यात प्रदेशोंमें एकस्वरूप, [**स्थिर**] सर्व काल शाश्वत, [**विशद**] सर्व काल शुद्धत्वरूप और [**लसत्**] सर्व काल प्रत्यक्ष ऐसा [**धान्नि**] केवलज्ञान केवलदर्शन तेजःपुंज है जिसका, ऐसा है॥

[शार्दूलविक्रीडित]

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते
 चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
 भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि
 भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥ ३-१८२ ॥

[हरिगीत]

स्वलक्षणों के प्रबल बलसे भेदकर परभाव को ।
 चिदलक्षणों से ग्रहण कर चैतन्यमय निजभाव को ॥
 यदि भेद को भी प्राप्त हो गुण धर्म कारक आदि से ।
 तो भले हो पर मैं तो केवल शुद्ध चिन्मयमात्र हूँ ॥ १८२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि जिसके शुद्धस्वरूपका अनुभव होता है वह जीव ऐसा परिणाम संस्कार वाला होता है ‘‘अहम् शुद्धः चित् अस्मि एव’’ [अहम्] मैं [शुद्धः चित् अस्मि] शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। [एव] निश्चयसे ऐसा ही हूँ। ‘‘चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा’’ [चिन्मुद्रा] चेतनागुण उसके द्वारा [अङ्कित] चिह्नित कर दी ऐसी है [निर्विभाग] भेदसे रहित [महिमा] बड़ाई जिसकी ऐसा हूँ। ऐसा अनुभव जिस प्रकार होता है उस प्रकार कहते हैं—‘‘सर्वम् अपि भित्त्वा’’ [सर्वम्] जितनी कर्मके उदयकी उपाधि है उसको [भित्त्वा] अनादि कालसे आपा जानकर अनुभवता था सो परद्रव्य जानकर स्वामित्व छोड़ दिया। कैसा है परद्रव्य? ‘‘यत् तु भेत्तुम् शक्यते’’ [यत् तु] जो कर्मरूप परद्रव्य वस्तु [भेत्तुं शक्यते] जीवसे भिन्न करनेको शक्य है अर्थात् दूर किया जा सकता है। किस कारणसे? ‘‘स्वलक्षणबलात्’’ [स्वलक्षण] जीवका लक्षण चेतन, कर्मका लक्षण अचेतन ऐसा भेद उसके [बलात्] सहायसे। कैसा हूँ मैं? ‘‘यदि कारकाणि वा धर्माः वा गुणाः भिद्यन्ते भिद्यन्तां चिति भावे काचन भिदा न’’ [यदि] जो [कारकाणि] आत्मा आत्माको आत्मा के द्वारा आत्मामें ऐसा भेद [वा] अथवा [धर्माः] उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यरूप द्रव्य—गुण—पर्यायरूप भेदबुद्धि अथवा [गुणाः] ज्ञानगुण दर्शनगुण सुखगुण इत्यादि अनन्त गुणरूप भेदबुद्धि [भिद्यन्ते] जो ऐसा भेद वचनके द्वारा उपजाया हुआ उपजता है [तदा भिद्यन्तां] तो वचनमात्र भेद होवो। परंतु [चिति भावे] चैतन्यसत्तामें तो [काचन भिदा न] कोई भेद नहीं है। निर्विकल्पमात्र चैतन्य वस्तुका सत्त्व है। कैसा है चैतन्यभाव? ‘‘विभौ’’ अपने स्वरूपको व्यापनशील है। और कैसा है? ‘‘विशुद्धे’’ सर्व कर्मकी उपाधिसे रहित है ॥ ३-१८२ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
 तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
 तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
 दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ ४-१८३ ॥

[हरिगीत]

है यद्यपि अद्वैत ही यह चेतना इस जगत में ।
 किन्तु फिर भी ज्ञानदर्शन भेद से दो रूप है ॥
 यह चेतना दर्शन सदा सामान्य अवलोकन करे ।
 पर ज्ञान जाने सब विशेषों को तदपि निज में रहे ॥
 अस्तित्व ही ना रहे इनके बिना चेतन द्रव्य का ।
 चेतन के बिना चेतन द्रव्य का अस्तित्व क्या ?
 चेतन नहीं बिन चेतना चेतन बिना ना चेतना ।
 बस इसलिए हे आत्मन् ! इनमें सदा ही चेतना ॥ १८३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु ” [तेन] तिस कारणसे [चित्] चेतनामात्र सत्ता [नियतं] अवश्यकर [दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु] दर्शन ऐसा नाम, ज्ञान ऐसा नाम दो नाम संज्ञाके द्वारा उपदिष्ट होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि एक सत्त्वरूप चेतना, उसके नाम दो — एक तो दर्शन ऐसा नाम, दूसरा ज्ञान ऐसा नाम। ऐसा भेद होता है तो होओ, विरुद्ध तो कुछ नहीं है ऐसे अर्थको दृढ़ करते हैं—“ चेत् जगति चेतना अद्वैता अपि तत् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् । सा अस्तित्वम् एव त्यजेत् ” [चेत्] जो ऐसा है कि [जगति] त्रैलोक्यवर्ती जीवोंमें प्रगट है [चेतना] स्वपरग्राहक शक्ति। कैसी है ? [अद्वैता अपि] एक प्रकाशरूप है। तथापि [दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्] दर्शनरूप चेतना ज्ञानरूप चेतना ऐसे दो नामोंको छोड़े तो उसमें तीन दोष उत्पन्न होते हैं। प्रथम दोष — “ सा अस्तित्वम् एव त्यजेत् ” [सा] वह चेतना [अस्तित्वम् एव त्यजेत्] अपने सत्त्वको अवश्य छोड़े। भावार्थ इस प्रकार है कि चेतना सत्त्व नहीं है ऐसा भाव प्राप्त होगा। किस कारणसे ? “ सामान्यविशेषरूपविरहात् [सामान्य] सत्तामात्र [विशेष] पर्यायरूप, उनके [विरहात्] रहितपनाके कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार समस्त जीवादि वस्तु सत्त्वरूप है, वही सत्त्व पर्यायरूप है। उसी प्रकार चेतना अनादि—निधन सत्तास्वरूप वस्तुमात्र निर्विकल्प है। इस कारण चेतनाका दर्शन ऐसा नाम कहा जाता है। कारण कि समस्त ज्ञेय वस्तुको ग्रहण करती है। जिस तिस ज्ञेयाकाररूप परिणमती है। ज्ञेयाकाररूप परिणमन चेतनाकी पर्याय है, तिसरूप परिणमती है, इसलिए चेतनाका ज्ञान ऐसा नाम है। ऐसी दो अवस्थाओंको छोड़ दे तो चेतना वस्तु नहीं है ऐसी प्रतीति उत्पन्न हो जाय। यहाँ कोई आशंका करेगा कि चेतना नहीं तो नहीं रहो, जीवद्रव्य तो विद्यमान है ? उत्तर इस प्रकार है कि चेतनामात्रके द्वारा जीवद्रव्य साधा है। इस कारण उस चेतनाके सिद्ध हुए बिना जीवद्रव्य भी सिद्ध नहीं होगा अथवा जो सिद्ध होगा तो वह पुद्गलद्रव्यके समान अचेतन सिद्ध होगा, चेतन नहीं सिद्ध होगा।

इसी अर्थको कहते हैं, दूसरा दोष ऐसा —“तत्त्यागे चितः अपि जडता भवति” [तत्त्यागे] चेतनाका अभाव होनेपर [चितः अपि] जीवद्रव्यको भी [जडता भवति] पुद्गल द्रव्यके समान जीवद्रव्य भी अचेतन है ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है। “च” तीसरा दोष ऐसा कि “व्यापकात् विना व्याप्यः आत्मा अन्तम् उपैति” [व्यापकात् विना] चेतनगुणका अभाव होनेपर [व्याप्यः आत्मा] चेतना गुणमात्र है जो जीवद्रव्य वह [अन्तम् उपैति] मूलसे जीवद्रव्य नहीं है ऐसी प्रतीति भी उत्पन्न होती है। ऐसे तीन दोष मोटे दोष हैं। ऐसे दोषोंसे जो कोई भय करता है उसे ऐसा मानना चाहिए कि चेतना दर्शन ज्ञान ऐसे दो नाम संज्ञा बिराजमान है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है॥ ४-१८३॥

[इन्द्रवज्रा]

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो
भावाः परे सर्वत एव हेयाः॥ ५-१८४॥

[दोहा]

चिन्मय चेतनभाव है पर है पर के भाव।
उपादेय चिद्भाव है हेय सभी परभाव॥१८४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “चितः चिन्मयः भावः एव” [चितः] जीवद्रव्यका [चिन्मयः] चेतनामात्र ऐसा [भावः] स्वभाव है। [एव] निश्चयसे ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। कैसा है चेतनामात्र भाव? “एकः” निर्विकल्प है, निर्भेद है, सर्वथा शुद्ध है। “किल ये परे भावाः ते परेषाम्” [किल] निश्चयसे [ये परे भावाः] शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे अनमिलते हैं जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसम्बन्धी परिणाम वे [परेषाम्] समस्त पुद्गलकर्मके हैं, जीवके नहीं हैं। “ततः चिन्मयः भावः ग्राह्यः एव परे भावाः सर्वतः हेयाः एव” [ततः] तिस कारणसे [चिन्मयः भावः] शुद्ध चेतनामात्र है जो स्वभाव वह [ग्राह्यः एव] जीवका स्वरूप है ऐसा अनुभव करना योग्य है। [परे भावाः] इससे अनमिलते हैं जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मस्वभाव वे [सर्वतः हेयाः एव] सर्वथा प्रकार जीवका स्वरूप नहीं हैं ऐसा अनुभव करना योग्य है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वगुण मोक्षका कारण है॥ ५-१८४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
 शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
 एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
 स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥ ६-१८५ ॥

[हरिगीत]

मैं तो सदा ही शुद्ध परमानन्द चिन्मयज्योति हूँ।
 सेवन करें सिद्धान्त यह सब ही मुमुक्षु बन्धुजन ॥
 जो विविध परभाव मुझमें दिखें वे मुझसे पृथक।
 वे मैं नहीं हूँ क्योंकि वे मेरे लिए परद्रव्य हैं ॥१८५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ मोक्षार्थिभिः अयं सिद्धान्तः सेव्यतां ’’ [मोक्षार्थिभिः] सकल कर्मका
 क्षय होनेपर होता है अतीन्द्रिय सुख, उसे उपादेयरूप अनुभवते हैं ऐसे हैं जो कोई जीव उनके
 द्वारा [अयं सिद्धान्तः] जैसा कहेंगे वस्तुका स्वरूप उसका [सेव्यतां] निरंतर अनुभव करो। कैसे हैं
 मोक्षार्थी जीव ? ‘‘ उदात्तचित्तचरितैः ’’ [उदात्त] संसार—शरीर भोगसे रहित हैं [चित्तचरितैः]
 मनका अभिप्राय जिनका ऐसे हैं। कैसा हैं वह परमार्थ ? ‘‘ अहम् शुद्धं चिन्मयम् ज्योतिः सदा एव
 अस्मि ’’ [अहम्] स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हूँ जो मैं जीवद्रव्य [शुद्धं चिन्मयम् ज्योतिः] शुद्ध ज्ञानस्वरूप
 प्रकाश [सदा] सर्व काल [एव] निश्चयसे [अस्मि] हूँ ‘‘ तुं ये एते विविधाः भावाः ते अहं न
 अस्मि ’’ [तु] एक विशेष है— [ये एते विविधाः भावाः] शुद्ध चैतन्यस्वरूपसे अनमिलते हैं जो
 रागादि अशुद्ध भाव शरीर आदि सुखदुःख आदि नाना प्रकार अशुद्ध पर्याय [ते अहं न अस्मि] ये
 सब जीवद्रव्यस्वरूप नहीं हैं। कैसे हैं अशुद्ध भाव ? ‘‘ पृथग्लक्षणाः ’’ मेरे शुद्ध चैतन्यस्वरूप से नहीं
 मिलते हैं। किस कारणसे ? ‘‘ यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यं ’’ [यतः] जिस कारणसे
 [अत्र] निजस्वरूपका अनुभव करनेपर [ते समग्राः अपि] जितने हैं रागादि अशुद्ध विभाव पर्याय वे
 [मम परद्रव्यं] मुझे परद्रव्यरूप हैं। कारण कि शुद्ध चैतन्य लक्षणसे मिलते हुए नहीं हैं, इसलिए
 समस्त विभावपरिणाम हेय हैं ॥ ६-१८५ ॥

[अनुष्टुप]

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बन्धेतैवापराधवान् ।
 बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥ ७-१८६ ॥

[दोहा]

परग्राही अपराधि जन बाँधे कर्म सदीव ।
 स्व में ही संवृत जो वे ना बंधे कदीव ॥ १८६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अपराधवान् बध्येत एव” [अपराधवान्] शुद्ध चिद्रूप अनुभवस्वरूपसे भ्रष्ट है जो जीव वह [बध्येत] ज्ञानावरणादि कर्मों के द्वारा बाँधा जाता है। कैसा है? “परद्रव्यग्रहं कुर्वन्” [परद्रव्य] शरीर मन वचन रागादि अशुद्ध परिणाम उनका [ग्रहं] आत्मबुद्धिरूप स्वामित्वको [कुर्वन्] करता हुआ। “अनपराधः मुनिः न बध्येत” [अनपराधः] कर्मके उदयके भावको आत्माका जानकर नहीं अनुभवता है ऐसा है जो [मुनिः] परद्रव्यसे विरक्त सम्यग्दृष्टि जीव [न बध्येत] ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड द्वारा नहीं बाँधा जाता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार कोई चोर परद्रव्य चुराता है, गुनहगार होता है। गुनहगार होनेसे बाँधा जाता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव परद्रव्यरूप है जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म उनको आपा जान अनुभवता है, शुद्धस्वरूप अनुभवसे भ्रष्ट है। परमार्थबुद्धिसे विचार करनेपर गुनहगार है, ज्ञानावरणादि कर्मका बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे भावसे रहित है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “स्वद्रव्ये संवृतः” अपने आत्मद्रव्यमें संवररूप है। अर्थात् आत्मामें मग्न है ॥ ७-१८६ ॥

[मालिनी]

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
 स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
 नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
 भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥ ८-१८७ ॥

[हरिगीत]

जो सापराधी निरन्तर वे कर्मबंधन कर रहे ।
 जो निरपराधी वे कभी भी कर्मबंधन ना करें ॥
 अशुद्ध जाने आत्मा को सापराधी जन सदा ।
 शुद्धात्मसेवी निरपराधी शान्ति सेवें सर्वदा ॥ १८७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सापराधः अनवरतम् अनन्तैः बध्यते” [सापराधः] परद्रव्यरूप है पुद्गलकर्म, उसको आपरूप जानता है ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव [अनवरतम्] अखंडधाराप्रवाहरूप [अनन्तैः] गणनासे अतीत ज्ञानावरणादिरूप बँधी है पुद्गलवर्गणा उनके द्वारा [बध्यते] बाँधा जाता है। “निरपराधः जातु बन्धनं न एव स्पृशति” [निरपराधः] शुद्धस्वरूपको अनुभवता है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव [जातु]

किसी भी कालमें [बन्धनं] पूर्वोक्त कर्मबन्धको [न स्पृशति] नहीं छूता है, [एव] निश्चयसे। आगे सापराध—निरपराधका लक्षण कहते हैं—“अयम् अशुद्धं स्वं नियतम् भजन् सापराधः भवति” [अयम्] मिथ्यादृष्टि जीव [अशुद्धं] रागादि अशुद्ध परिणामरूप परिणमा है ऐसे [स्वं] आपसम्बन्धी जीवद्रव्यको [नियतम् भजन्] ऐसा ही निरंतर अनुभवता हुआ [सापराधः भवति] अपराध सहित होता है। “साधु शुद्धात्मसेवी निरपराधः भवति” [साधु] जैसा है वैसा [शुद्धात्म] सकल रागादि अशुद्धपनासे भिन्न शुद्ध चिद्रूपमात्र ऐसे जीवद्रव्यके [सेवी] अनुभवसे बिराजमान है जो सम्यग्दृष्टि जीव वह [निरपराधः भवति] सर्व अपराधसे रहित है। इसलिए कर्मका बंधक नहीं होता॥ ८—१८७॥

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां
प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम्।
आत्मन्येवालानितं च चित्त
मासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥ १-१८८॥

[हरिगीत]

अरे मुक्तिमार्ग में चापल्य अर परमाद को।
है नहीं कोई जगह कोई और आलम्बन नहीं॥
बस इसलिए ही जब तलक आनन्दघन निज आतमा।
की प्राप्ति न हो तब तलक तुम नित्य ध्यावो आतमा॥ १८८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अतः प्रमादिनः हताः” [अतः प्रमादिनः] शुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिसे भ्रष्ट हैं जो जीव वे [हताः] मोक्षमार्गके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंका धिक्कार किया है। कैसे है? “सुखासीनतां गताः” कर्मके उदयसे प्राप्त जो भोगसामग्री उसमें सुखकी वांछा करते हैं। “चापलम् प्रलीनं” [चापलम्] रागादि अशुद्ध परिणामोंसे होती है सर्व प्रदेशोंमें आकुलता [प्रलीनं] वह भी हेय की। “आलम्बनम् उन्मूलितम्” [आलम्बनम्] बुद्धिपूर्वक ज्ञान करते हुए जितना पढ़ना विचारना चिंतवन करना स्मरण करना इत्यादि हैं वह [उन्मूलितम्] मोक्षका कारण नहीं है ऐसा जानकर हेय ठहराया है। “आत्मनि एव चित्तम् आलानितं” [आत्मनि एव] शुद्धस्वरूपमें एकाग्र होकर [चित्तम् आलानितं] मनको बाँधा है। ऐसा कार्य जिस प्रकार हुआ उस प्रकार कहते हैं—“आसम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः” [आसम्पूर्णविज्ञान] निरावरण केवलज्ञान उसका [घन] समूह जो आत्मद्रव्य उसकी [उपलब्धेः] प्रत्यक्ष प्राप्ति होनेसे॥ १-१८८॥

[वसन्ततिलका]

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं
 तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात् ।
 तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः
 किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥ १०-१८९ ॥

[रोला]

प्रतिक्रमण भी अरे जहाँ विष-जहर कहा हो,
 अमृत कैसे कहें वहाँ अप्रतिक्रमण को ॥
 अरे प्रमादी लोग आधो-अधः क्यों जाते हैं ?
 इस प्रमाद को त्याग उर्ध्व में क्यों नहीं जाते ? ॥ १८९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् जनः किं प्रमाद्यति” [तत्] तिस कारणसे [जनः] समस्त संसारी जीवराशि [किं प्रमाद्यति] क्यों प्रमाद करती है? भावार्थ इस प्रकार है कि कृपासागर है सूत्रके कर्ता आचार्य वे ऐसा कहते हैं कि नाना प्रकारके विकल्प करनेसे साध्यसिद्धि तो नहीं है। कैसा है नाना प्रकारका विकल्प करनेवाला जन? “अधः अधः प्रपतन्” जैसे जैसे अधिक क्रिया करता है, अधिक अधिक विकल्प करता है वैसे वैसे अनुभवसे भ्रष्टसे भ्रष्ट होता है। तिस कारणसे “जनः ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहति” [जनः] समस्त संसारी जीवराशि [ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम्] निर्विकल्पसे निर्विकल्प अनुभवरूप [किं न अधिरोहति] क्यों नहीं परिणमता है। कैसा है जन? “निःप्रमादः” निर्विकल्प है। कैसा है निर्विकल्प अनुभव? “यत्र प्रतिक्रमणम् विषं एव प्रणीतं” [यत्र] जिसमें [प्रतिक्रमणम्] पठन पाठन स्मरण चिन्तवन स्तुति वन्दना इत्यादि अनेक क्रियारूप विकल्प [विषं एव प्रणीतं] विषके समान कहा है। “तत्र अप्रतिक्रमणम् सुधाकुटः एव स्यात्” [तत्र] उस निर्विकल्प अनुभवमें [अप्रतिक्रमणम्] न पढ़ना, न पढ़ाना, न वन्दना, न निन्दना ऐसा भाव [सुधाकुटः एव स्यात्] अमृतके निधानके समान है। भावार्थ ऐसा है कि निर्विकल्प अनुभव सुखरूप है, इसलिए उपादेय है, नाना प्रकारके विकल्प आकुलतारूप हैं, इसलिए हेय हैं ॥ १०-१८९ ॥

[पृथ्वी]

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः
 कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः।
 अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्
 मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाऽचिरात् ॥ ११-१९० ॥

[रोला]

कषायभाव से आलस करना ही प्रमाद है,
 यह प्रमाद का भाव शुद्ध कैसे हो सकता ?
 निजरस से परिपूर्ण भाव में अचल रहें जो,
 अल्पकाल में वे मुनिवर ही बन्धमुक्त हों ॥ १९० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अलसः प्रमादकलितः शुद्धभावः कथं भवति ’’ [अलसः] अनुभवमें शिथिल हैं ऐसा जीव। और कैसा है ? [प्रमादकलितः] नाना प्रकारके विकल्पोंसे संयुक्त हैं ऐसा जीव [शुद्धभावः कथं भवति] शुद्धोपयोगी कैसे होता है, अपितु नहीं होता। ‘‘ यतः अलसता प्रमादः कषायभरगौरवात् ’’ [यतः] जिस कारणसे [अलसता] अनुभवमें शिथिलता [प्रमादः] नाना प्रकारका विकल्प है। किस कारणसे होता है ? [कषाय] रागादि अशुद्ध परिणतिके [भर] उदयके [गौरवात्] तीव्रपनासे होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो जीव शिथिल है, विकल्प करता है वह जीव शुद्ध नहीं है। कारण कि शिथिलपना विकल्पपना अशुद्धपनाका मूल है। ‘‘ अतः मुनिः परमशुद्धतां व्रजति च अचिरात् मुच्यते ’’ [अतः] इस कारणसे [मुनिः] सम्यग्दृष्टि जीव [परमशुद्धतां व्रजति] शुद्धोपयोग परिणतिरूप परिणमता है [च] ऐसा होता हुआ [अचिरात् मुच्यते] उसी काल कर्मबन्धसे मुक्त होता है। कैसा है मुनि ? ‘‘ स्वभावे नियमितः भवन् ’’ [स्वभावे] शुद्ध स्वरूपमें [नियमितः भवन्] एकाग्ररूपसे मग्न होता हुआ। कैसा है स्वभाव ? ‘‘ स्वरसनिर्भरे ’’ [स्वरस] चेतनागुणसे [निर्भरे] परिपूर्ण है ॥ ११-१९० ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वद्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छल-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥ १२-१९१ ॥

[रोला]

अरे अशुद्धता करनेवाले परद्रव्यों को,
अरे दूर से त्याग स्वयं में लीन रहे जो ।
अपराधों से दूर बन्धका नाश करें वे,
शुद्धभाव को प्राप्त मुक्त हो जाते हैं वे ॥ १९१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सः मुच्यते ” [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [मुच्यते] सकल कर्मोंका क्षयकर अतीन्द्रिय सुखलक्षण मोक्षको प्राप्त होता है। कैसा है? “ शुद्धो भवन् ” राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिसे भिन्न होता हुआ। और कैसा है? “ स्वज्योतिरच्छोच्छलचैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा ” [स्वज्योतिः] द्रव्यके स्वभाव गुणरूप [अच्छ] निर्मल [उच्छलत्] धाराप्रवाहरूप परिणमनशील ऐसा जो [चैतन्य] चेतनागुण, उसरूप जो [अमृत] अतीन्द्रिय सुख, उसके [पूर] प्रवाहसे [पूर्ण] तन्मय है [महिमा] माहात्म्य जिसका, ऐसा है। और कैसा है? “ नित्यम् उदितः ” सर्व काल अतीन्द्रिय सुखस्वरूप है। और कैसा है? “ नियतं सर्वापराधच्युतः ” [नियतं] अवश्यकर [सर्वापराध] जितने सूक्ष्म—स्थूलरूप राग द्वेष मोहपरिणाम उनसे [च्युतः] सर्व प्रकार रहित है। क्या करता हुआ ऐसा होता है? “ बन्धध्वंसम् उपेत्य ” [बन्ध] ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मकी बन्धरूप पर्यायके [ध्वंसम्] सत्ताके नाशरूप [उपेत्य] अवस्थाको प्राप्तकर। और क्या करता हुआ ऐसा होता है? “ तत् समग्रं परद्रव्यं स्वयं त्यक्त्वा ” द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसामग्रीनके मूलसे ममत्व को स्वयं छोड़कर। कैसा है परद्रव्य? “ अशुद्धिविधायि ” अशुद्ध परिणतिको बाह्यरूप निमित्तमात्र है। “ किल ” निश्चयसे। “ यः स्वद्रव्ये रतिम् एति ” [यः] जो सम्यग्दृष्टि जीव [स्वद्रव्ये] शुद्ध चैतन्यमें [रतिम् एति] निर्विकल्प अनुभवसे उत्पन्न हुए सुखमें मग्नपनाको प्राप्त हुआ है। भावार्थ इस प्रकार है — सर्व अशुद्धपनाके मिटनेसे शुद्धपना होता है। उसके सहाराका है शुद्ध चिद्रूपका अनुभव, ऐसा मोक्षमार्ग है ॥ १२-१९१ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेत-
 नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
 एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगम्भीरधीरं
 पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १३-१९२ ॥

[हरिगीत]

बन्ध छेद से मुक्त हुआ यह शुद्ध आत्मा,
 निजरस से गंभीर धीर परिपूर्ण ज्ञानमय ।
 उदित हुआ है अपनी महिमा में महिमामय,
 अचल अनाकुल अज अखण्ड यह ज्ञानदिवाकर ॥ १९२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एतत् पूर्णं ज्ञानं ज्वलितम्” [एतत्] जिस प्रकार कहा है कि [पूर्णं ज्ञानं] समस्त कर्ममल कलंकका विनाश होनेसे जीवद्रव्य जैसा था अनंत गुण बिराजमान वैसा [ज्वलितम्] प्रगट हुआ। कैसा प्रगट हुआ? “मोक्षम् कलयत्” [मोक्षम्] जीवकी जो निःकर्मरूप अवस्था, उस [कलयत्] अवस्थारूप परिणमता हुआ। कैसा है मोक्ष? “अक्षय्यम्” आगामी अनंत काल पर्यन्त अविनश्यर है, [अतुलं] उपमा रहित है। किस कारणसे? “बन्धच्छेदात्” [बन्ध] ज्ञानावरणादि आठ कर्मके [छेदात्] मूल सत्तासे नाश द्वारा। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थम्” [नित्योद्योत] शाश्वत प्रकाशसे [स्फुटित] प्रगट हुआ है [सहजावस्थम्] अनंत गुण बिराजमान शुद्ध जीवद्रव्य जिसको, ऐसा है। और कैसा है? “एकान्तशुद्धम्” सर्वथा प्रकार शुद्ध है। और कैसा है? “अत्यन्तगम्भीरधीरं” [अत्यन्तगम्भीर] अनंत गुण बिराजमान ऐसा है, [धीरं] सर्व काल शाश्वत है। किस कारणसे? “एकाकारस्वरसभरतः” [एकाकार] एकरूप हुए [स्वरस] अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख अनन्त वीर्यके [भरतः] अतिशयके कारण। और कैसा है? “स्वस्य अचले महिम्नि लीनं” [स्वस्य अचले महिम्नि] अपने निष्कम्प प्रतापमें [लीनं] मग्नरूप है। भावार्थ इस प्रकार है कि सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्ष में आत्म द्रव्य स्वाधीन है। अन्यत्र चतुर्गति में जीव पराधीन है। मोक्ष का स्वरूप कहा ॥ १३-१९२ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अयं ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति ’’ [अयं] यह विद्यमान [ज्ञानपुञ्जः] शुद्ध जीवद्रव्य [स्फूर्जति] प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि यहाँसे लेकर जीवका जैसा शुद्ध स्वरूप है उसे कहते हैं। कैसा है ज्ञानपुंज ? ‘‘ टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा ’’ [टङ्कोत्कीर्ण] सर्व काल एकरूप ऐसा है [प्रकट] स्वानुभवगोचर [महिमा] स्वभाव जिसका, ऐसा है। और कैसा है ? ‘‘ स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिः ’’ [स्वरस] शुद्ध ज्ञानचेतनाके [विसर] अनन्त अंशभेदसे [आपूर्ण] संपूर्ण ऐसा है [पुण्य] निरावरण ज्योतिरूप [अचल] निश्चल [अर्चिः] प्रकाशस्वरूप जिसका, ऐसा है। और कैसा है ? ‘‘ शुद्धः शुद्धः ’’ शुद्ध शुद्ध है, अर्थात् दो बार शुद्ध कहनेसे अति ही विशुद्ध है। और कैसा है ? ‘‘ बन्धमोक्षप्रकलृप्तेः प्रतिपदम् दूरीभूतः ’’ [बन्ध] ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड से सम्बन्धरूप एकक्षेत्रावगाह, [मोक्ष] सकल कर्मका नाश होनेपर जीवके स्वरूपका प्रगटपना, ऐसे [प्रकलृप्तेः] जो दो विकल्प, उनसे [प्रतिपदम्] एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यायरूप जहाँ है वहाँ [दूरीभूतः] अति ही भिन्न है। भावार्थ इस प्रकार है कि एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवद्रव्य जहाँ तहाँ द्रव्यस्वरूपके विचारकी अपेक्षा बन्ध ऐसे मुक्त ऐसे विकल्पसे रहित है। द्रव्यका स्वरूप जैसा है वैसा ही है। क्या करता हुआ जीवद्रव्य ऐसा है ? ‘‘ अखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा ’’ [अखिलान्] गणना करनेपर अनन्त हैं ऐसे जो [कर्तृ] ‘ जीव कर्ता है ऐसा विकल्प [भोक्तृ] ‘ जीव भोक्ता है ’ ऐसा विकल्प, [आदिभावान्] इनसे लेकर अनन्त भेद उनका [सम्यक्] मूलसे [प्रलयम् नीत्वा] विनाश कर। ऐसा कहते हैं॥

१-१९३॥

[अनुष्टुप]

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ २-१९४ ॥

[दोहा]

जैसे भोक्तृ स्वभाव नहीं वैसे कर्तृस्वभाव ।
कर्तापन अज्ञान से ज्ञान अकारक भाव ॥ १९४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अस्य चितः कर्तृत्वं न स्वभावः ’’ [अस्य चितः] चैतन्यमात्र स्वरूप जीवका [कर्तृत्वं] ज्ञानावरणादि कर्मको करे अथवा रागादि परिणामको करे ऐसा [न स्वभावः] सहजका गुण नहीं है। दृष्टान्त कहते हैं— ‘‘ वेदयितृत्ववत् ’’ जिस प्रकार जीव कर्मका भोक्ता भी नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य कर्मका भोक्ता हो तो कर्ता होवे सो तो भोक्ता भी नहीं है, इससे कर्ता भी नहीं है। ‘‘ अयं कर्ता अज्ञानात् एव ’’ [अयं] यह जीव [कर्ता] रागादि अशुद्ध परिणामको करता है ऐसा भी है सो किस कारणसे ? [अज्ञानात् एव] कर्मजनित भावमें आत्मबुद्धि ऐसा है जो मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम, उसके कारण जीव कर्ता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव वस्तु रागादि विभावपरिणामका कर्ता है ऐसा जीव का स्वभावगुण नहीं है। परन्तु अशुद्धरूप विभावपरिणति है। ‘‘ तदभावात् अकारकः ’’ [तदभावात्] मिथ्यात्व राग द्वेषरूप विभावपरिणति मिटती है सो उसके मिटनेसे [अकारकः] जीव सर्वथा अकर्ता होता है ॥ २-१९४ ॥

[शिखरिणी]

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ॥ ३-१९५ ॥

[रोला]

निज रस से सुविशुद्ध जीव शोभायमान है,
झलके लोकालोक ज्योति स्फुरायमान है ॥
अहो अकर्ता आतम फिर भी बन्ध हो रहा,
यह अपार महिमा जानो अज्ञान भाव की ॥ १९५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अयं जीवः अकर्ता इति स्वरसतः स्थितः ’’ [अयं जीवः] विद्यमान है जो चैतन्यद्रव्य वह [अकर्ता] ज्ञानावरणादिका अथवा रागादि अशुद्ध परिणामका कर्ता नहीं है [इति] ऐसा सहज [स्वरसतः स्थितः] स्वभावसे अनादिनिधन ऐसा ही है। कैसा है ? ‘‘ विशुद्धः ’’ द्रव्यकी अपेक्षा द्रव्यकर्म भावकर्म

नोकर्मसे भिन्न है। “स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः” [स्फुरत्] प्रकाशरूप ऐसे [चिज्ज्योतिर्भिः] चेतना गुणके द्वारा [छुरित] प्रतिबिम्बित हैं [भुवनाभोगभवनः] अनन्त द्रव्य अपनी अतीत अनागत वर्तमान समस्त पर्याय सहित जिसमें, ऐसा है। “तथापि किल इह अस्य प्रकृतिभिः यत् असौ बन्धः स्यात्” [तथापि] शुद्ध है जीवद्रव्य तो भी [किल] निश्चयसे [इह] संसार अवस्थामें [अस्य] जीवको [प्रकृतिभिः] ज्ञानावरणादि कर्मरूप [यत् असौ बन्धः स्यात्] जो कुछ बन्ध होता है “सः खलु अज्ञानस्य कः अपि महिमा स्फुरति” [सः] जो बन्ध होता है वह [खलु] निश्चयसे [अज्ञानस्य कः अपि महिमा स्फुरति] मिथ्यात्वरूप विभाव परिणमनशक्तिका कोई ऐसा ही स्वभाव है। कैसा है? “गहनः” असाध्य है। भावार्थ इस प्रकार है — जीवद्रव्य संसार अवस्थामें विभावरूप मिथ्यात्व राग द्वेष मोहपरिणामरूप परिणमा है, इस कारण जैसा परिणमा है वैसे भावोंका कर्ता होता है। अशुद्ध भावोंका कर्ता होता है। अशुद्ध भावोंके मिटनेपर जीवका स्वभाव अकर्ता है। ॥३-१९५॥

[अनुष्टुप]

**भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञानादेव भोक्ताऽयं तदभावादवेदकः॥ ४-१९६॥**

[दोहा]

**जैसे कर्तृस्वाव नहीं वैसे भोक्तृस्वभाव।
भोक्तापना अज्ञान से ज्ञान अभोक्ताभाव॥ १९६॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अस्य चितः भोक्तृत्वं स्वभावः न स्मृतः” [अस्य चितः] चेतन द्रव्यका [भोक्तृत्वं] ज्ञानावरणादि कर्मके फलका अथवा सुख—दुःखरूप कर्मफलचेतनाका अथवा रागादि अशुद्ध परिणामरूप कर्मचेतनाका भोक्ता जीव है ऐसा [स्वभावः] जीवद्रव्यका सहज गुण, ऐसा तो [न स्मृतः] गणधरदेवने नहीं कहा है। जीवका भोक्ता स्वभाव नहीं है ऐसा कहा है। दृष्टान्त कहते हैं — “कर्तृत्ववत्” जिस प्रकार जीवद्रव्य कर्मका कर्ता भी नहीं है। “अयं जीवः भोक्ता” यही जीवद्रव्य अपने सुख—दुःखरूप परिणामको भोगता है ऐसा भी है सो किस कारणसे? “अज्ञानात् एव” अनादिसे कर्मका संयोग है, इसलिए मिथ्यात्व राग द्वेषरूप अशुद्ध विभावरूप परिणमा है, इस कारण भोक्ता है। “तदभावात् अवेदकः” मिथ्यात्वरूप विभाव परिणामका नाश होनेसे जीवद्रव्य साक्षात् अभोक्ता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार जीव—द्रव्यका अनंतचतुष्टय स्वरूप है उस प्रकार कर्मका कर्तापन भोक्तापन स्वरूप नहीं है। कर्मकी उपाधिसे विभावरूप अशुद्ध परिणतिरूप विकार है, इसलिए विनाशीक है। उस विभाव परिणतिके विनाश होनेपर जीव अकर्ता है, अभोक्ता है। आगे मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यकर्मका अथवा भावकर्मका कर्ता है, सम्यग्दृष्टि कर्ता नहीं ऐसा कहते हैं॥ ४-१९६॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
 ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
 इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
 शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥ ५-१९७ ॥

[रोला]

प्रकृतिस्वभावरत अज्ञानी है सदाभोगते,
 प्रकृतिस्वभाव से विरत ज्ञानिजन कभी न भोगें ।
 निपुणजनो ! निजशुद्धात्ममय ज्ञानभाव को,
 अपनाओ तुम सदा त्याग अज्ञानभाव को ॥ १९७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यतां ” [निपुणैः] सम्यग्दृष्टि जीवोंको [अज्ञानिता] परद्रव्यमें आत्मबुद्धि ऐसी मिथ्यात्वपरिणति [त्यज्यतां] जिस प्रकार मिटे उस प्रकार सर्वथा मेटने योग्य है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव ? “ महसि अचलितैः ” शुद्ध चिद्रूपके अनुभवमें अखंड धारारूप मग्न है। कैसा है शुद्ध चिद्रूपका अनुभव ? “ शुद्धैकात्ममये ” [शुद्ध] समस्त उपाधिसे रहित ऐसा जो [एकात्म] अकेला जीवद्रव्य [मये] उसके स्वरूप है। और क्या करना है ? “ ज्ञानिता आसेव्यतां ” शुद्ध वस्तुके अनुभवरूप सम्यक्त्व परिणतिरूप सर्व काल रहना उपादेय है। क्या जानकर ऐसा होवे ? “ इति एवं नियमं निरूप्य ” [इति] जिस प्रकार कहते हैं— [एवं नियमं] ऐसे वस्तुस्वरूप परिणमनके निश्चयको [निरूप्य] अवधारकरके। वह वस्तुका स्वरूप कैसा है ? “ अज्ञानी नित्यं वेदकः भवेत् ” [अज्ञानी] मिथ्यादृष्टि जीव [नित्यं] सर्व काल [वेदकः भवेत्] द्रव्यकर्मका भावकर्मका भोक्ता होता है ऐसा निश्चय है। मिथ्यात्वका परिणमन ऐसा ही है। कैसा है अज्ञानी ? “ प्रकृतिस्वभावनिरतः ” [प्रकृति] ज्ञानावरणादि आठ कर्मके [स्वभाव] उदय होनेपर नाना प्रकार चतुर्गति शरीर रागादिभाव सुख—दुःखपरिणति इत्यादिमें [निरतः] आपा जानकर एकत्वबुद्धिरूप परिणमा है। “ तु ज्ञानी जातु वेदकः नो भवेत् ” [तु] मिथ्यात्वके मिटनेपर ऐसा भी है कि [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [जातु] कदाचित् [वेदकः नो भवेत्] द्रव्यकर्मका भावकर्मका भोक्ता नहीं होता ऐसा वस्तुका स्वरूप है। कैसा है ज्ञानी ? “ प्रकृतिस्वभावविरतः ” [प्रकृति] कर्मके [स्वभाव] उदयके कार्यमें [विरतः] हेय जानकर छूट गया है स्वामित्वपना जिसका, ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवके सम्यक्त्व होनेपर अशुद्धपना मिटा है, इसलिए भोक्ता नहीं है ॥ ५-१९७ ॥

[वसन्ततिलका]

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥ ६-१९८ ॥

[सोरठा]

निश्चल शुद्धस्वभाव, ज्ञानी करे न भोगवे ।
जाने कर्म स्वभाव, इस कारण वह मुक्त है ॥ १९८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते ” [ज्ञानी] सम्यग्दृष्टि जीव [कर्म न करोति] रागादि अशुद्ध परिणामोंका कर्ता नहीं है। [च] और [न वेदयते] सुख दुःखसे लेकर अशुद्ध परिणामोंका भोक्ता नहीं है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? “ किल अयं तत्स्वभावम् इति केवलम् जानाति ” [किल] निश्चयसे [अयं] जो शरीर भोग रागादि सुख दुःख इत्यादि समस्त [तत्स्वभावम्] कर्मका उदय हैं, जीवका स्वरूप नहीं है [इति केवलम् जानाति] ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव जानता है, परन्तु स्वामित्वरूप नहीं परिणमता है। “ हि सः मुक्तः एव ” [हि] तिस कारणसे [सः] सम्यग्दृष्टि जीव [मुक्तः एव] जैसे निर्विकार सिद्ध हैं वैसा है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव ? “ परं जानन् ” जितनी है परद्रव्यकी सामग्री उसका ज्ञायकमात्र है। मिथ्यादृष्टिके समान स्वामीरूप नहीं है। और कैसा है ? “ शुद्धस्वभावनियतः ” [शुद्धस्वभाव] शुद्ध चैतन्यवस्तुमें [नियतः] आस्वादरूप मग्न है। किस कारणसे ? “ करणवेदनयोः अभावात् ” [करण] कर्मका करना [वेदन] कर्मका भोग ऐसे भाव [अभावात्] सम्यग्दृष्टि जीवके मिटे हैं इस कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यात्व संसार है, मिथ्यात्वके मिटनेपर जीव सिद्धसदृश है ॥ ६-१९८ ॥

[अनुष्टुप]

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
समान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥ ७-१९९ ॥

[हरिगीत]

निज अतमा ही करे सब कुछ मानते अज्ञान से ।
हों यद्यपि वे मुमुक्षु पर रहित आत्मज्ञान से ॥
अध्ययन करें चरित्र पालें और भक्ति करें पर ।
लौकिकजनों वत उन्हें भी तो मुक्ति की प्राप्ति न हो ॥ १९९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ तेषां मोक्षः न ” [तेषां] ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंको [न मोक्षः] कर्मका विनाश, शुद्ध स्वरूपकी प्राप्ति नहीं है। कैसे हैं वे जीव ? “ मुमुक्षताम्

अपि ' ' जैन मताश्रित हैं, बहुत पढ़े हैं, द्रव्यक्रियारूप चारित्र पालते हैं, मोक्षके अभिलाषी हैं तो भी उन्हें मोक्ष नहीं है। किनके समान? ‘‘**सामान्यजनवत्**’’ जिस प्रकार तापस योगी भरड़ा इत्यादि जीवोंको मोक्ष नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई जानेगा कि जैनमत—आश्रित है, कुछ विशेष होगा सो विशेष तो कुछ नहीं है। कैसे है वे जीव? ‘‘**तु ये आत्मानं कर्तारम् पश्यन्ति**’’ [तु] जिस कारण ऐसा है कि [ये] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव [**आत्मानं**] जीवद्रव्यको [**कर्तारम् पश्यन्ति**] वह ज्ञानावरणादि कर्मको रागादि अशुद्ध परिणामको करता है ऐसा जीवद्रव्यका स्वभाव है ऐसा मानते हैं, प्रतीति करते हैं, आस्वादते हैं। और कैसे हैं? ‘‘**तमसा तताः**’’ मिथ्यात्वभाव ऐसे अंधकारसे व्याप्त है, अन्ध हुए हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि वे महामिथ्यादृष्टि हैं जो जीवका स्वभाव कर्तारूप मानते हैं, कारण कि कर्तापन जीवका स्वभाव नहीं है, विभावरूप अशुद्ध परिणति है सो भी परके संयोगसे है, विनाशीक है।। ७—१९९।।

[अनुष्टुप]

**नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः ।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।। ८—२००।।**

[दोहा]

**जब कोई सम्बन्ध ना पर अर आतम मांहि ।
तब कर्ता परद्रव्य का किस विध आत्म कहाहि।।२००।।**

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘**तत् परद्रव्यात्मतत्त्वयोः कर्तृता कुतः**’’ [तत्] तिस कारणसे [**परद्रव्य**] ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलका पिण्ड [**आत्मतत्त्वयोः**] शुद्ध जीवद्रव्य इनमें [**कर्तृता**] जीवद्रव्य पुद्गल कर्मका कर्ता, पुद्गलद्रव्य जीवभावका कर्ता ऐसा सम्बन्ध [**कुतः**] कैसे होवे? अपितु कुछ नहीं होता। किस कारणसे? ‘‘**कर्तृकर्मसम्बन्धाभावे**’’ [**कर्तृ**] जीव कर्ता, [**कर्म**] ज्ञानावरणादि कर्म ऐसा है जो [**सम्बन्ध**] दो द्रव्योंका एक सम्बन्ध ऐसा [**अभावे**] द्रव्यका स्वभाव नहीं है तिस कारण। वह भी किस कारणसे? ‘‘**सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति**’’ [**सर्वः**] जो कोई वस्तु है वह [**अपि**] यद्यपि एकक्षेत्रावगाहरूप है तथापि [**सम्बन्धः नास्ति**] अपने अपने स्वरूप हैं, कोई द्रव्य किसी द्रव्यके साथ तन्मयरूप नहीं मिलता है, ऐसा वस्तुका स्वरूप है। इस कारण जीव पुद्गलकर्मका कर्ता नहीं है।। ८—२००।।

[वसन्ततिलका]

ऐकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम् ॥ १-२०१ ॥

[रोला]

जब कोई सम्बन्ध नहीं है दो द्रव्यों में,
तब फिर कर्ताकर्म भाव भी कैसे होगा ।
इसीलिए तो मैं कहता हूँ निज को जानो,
सदा अकर्ता अरे जगतजन अरे मुनिजन ॥ २०१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् वस्तुभेदे कर्तृकर्मघटना न अस्ति” [तत्] तिस कारणसे [वस्तुभेदे] जीवद्रव्य चेतनस्वरूप पुद्गल द्रव्य अचेतनस्वरूप ऐसे भेदको अनुभवते हुए [कर्तृकर्मघटना] ‘जीवद्रव्य कर्ता पुद्गलपिण्ड कर्म ऐसा व्यवहार [न अस्ति] सर्वथा नहीं है। तो कैसा है? “मुनयः जनाः तत्त्वम् अकर्तृ पश्यन्तु” [मुनयः जनाः] सम्यग्दृष्टि हैं जो जीव वे [तत्त्वम्] जीवस्वरूपको [अकर्तृ पश्यन्तु] ‘कर्ता नहीं है ऐसा अनुभवो—आस्वादो। किस कारणसे? “यतः एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलोऽपि सम्बन्धः निषिद्धः एव” [यतः] जिस कारणसे [एकस्य वस्तुनः] शुद्ध जीवद्रव्यका [अन्यतरेण सार्धं] पुद्गल द्रव्यके साथ [सकलः अपि] द्रव्यरूप, गुणरूप अथवा पर्यायरूप [सम्बन्धः] एकत्वपना [निषिद्धः एव] अतीत अनागत वर्तमान कालमें वर्जा है। भावार्थ इस प्रकार है कि अनादि—निधन जो द्रव्य जैसा है वह वैसा ही है, अन्य द्रव्यके साथ नहीं मिलता है, इसलिए जीवद्रव्य पुद्गलकर्मका अकर्ता है ॥ १-२०१ ॥

[वसन्ततिलका]

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्म-
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥ १०-२०२ ॥

[रोला]

इस स्वभाव के सहज नियम जो नहीं जानते, अरे बिचारे वे तो डुबे भवसागर में ।
विविध कर्म को करते हैं बस इसीलिए वे, भावकर्म के कर्ता होते अन्य कोई ना ॥ २०२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “बत ते वराकाः कर्म कुर्वन्ति” [बत] दुःखके साथ कहते हैं कि [ते वराकाः] ऐसी जो मिथ्यादृष्टि जीवराशि [कर्म कुर्वन्ति] मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध परिणति करती है। कैसी है? “अज्ञानमग्नमहसः” [अज्ञान] मिथ्यात्वरूप भावके कारण [मग्न] आच्छादा गया है [महसः] शुद्ध चैतन्यप्रकाश जिसका ऐसी है। “तु ये इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति” [तु] क्योंकि [ये] जो

[इमम् स्वभावनियमं] जीवद्रव्य ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्डका कर्ता नहीं है ऐसे वस्तुस्वभावको [न कलयन्ति] स्वानुभवप्रत्यक्षरूपसे नहीं अनुभवती है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीवराशि शुद्ध स्वरूपके अनुभवसे भ्रष्ट है, इसलिए पर्यायरत है, इसलिए मिथ्यात्व राग द्वेष अशुद्ध परिणामरूप परिणमती है। “ततः भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति न अन्यः” [ततः] तिस कारण [भावकर्म] मिथ्यात्व राग द्वेष अशुद्ध चेतनारूप परिणामका, [कर्ता चेतनः एव स्वयं भवति] व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है ऐसा जीवद्रव्य, आप कर्ता होता है, [न अन्यः] पुद्गलकर्म कर्ता नहीं होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव मिथ्यादृष्टि होता हुआ जैसे अशुद्ध भावरूप परिणमता है वैसे भावोंका कर्ता होता है ऐसा सिद्धान्त है ॥ १०—२०२ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥ ११-२०३ ॥

[रोला]

अरे कार्य कर्ता के बिना नहीं हो सकता,
भावकर्म भी एक कार्य है सब जग जाने ।
और पौद्गलिक प्रकृति सदा ही रही अचेतन,
वह कैसे कर सकती चेतन भाव कर्म को ॥
प्रकृति-जीव दोनों ही मिलकर उसे करें यदि,
तो फिर दोनों मिलकर ही फल क्यों ना भोगें ?
भावकर्म तो चेतन का ही करे अनुसरण,
इसकारण यह जीव कहा है उनका कर्ता ॥ २०३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ततः अस्य जीवः कर्ता च तत् चिदनुगं जीवस्य एव कर्म ” [ततः] तिस कारणसे [अस्य] रागादि अशुद्ध चेतनापरिणामके [जीवः कर्ता] जीवद्रव्य उस कालमें व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है, इसलिए कर्ता है [च] और [तत्] रागादि अशुद्ध परिणमन [चिद-अनुगं] अशुद्धरूप है, चेतनारूप है, इसलिए [जीवस्य एव कर्म] उस कालमें व्याप्य—व्यापकरूप जीवद्रव्य आप परिणमता है, इसलिए जीवका किया है। किस कारणसे? “ यत् पुद्गलः ज्ञाता न ” [यत्] जिस कारणसे [पुद्गलः ज्ञाता न] पुद्गलद्रव्य चेतनारूप नहीं है। रागादि परिणाम चेतनारूप है, इसलिए जीवका किया है। कहा है भाव उसे गाढ़ा—पक्का करते हैं— “ कर्म अकृतं न ” [कर्म] रागादि अशुद्ध चेतनारूप परिणाम [अकृतं न] अनादिनिधन आकाशद्रव्यके समान स्वयंसिद्ध है ऐसा भी नहीं है,

किसीके द्वारा किया हुआ होता है। ऐसा है किस कारणसे? “कार्यत्वात्” कारण कि घटके समान उपजता है, विनशता है। इसलिए प्रतीति ऐसी जो करतूतिरूप है। [च] तथा “तत् जीवप्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न” [तत्] रागादि अशुद्ध चेतन परिणमन [जीव] चेतनद्रव्य [प्रकृत्योः] पुद्गलद्रव्य ऐसे [द्वयोः] दो द्रव्योंकी [कृतिः न] करतूति नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई ऐसा मानेगा कि जीव तथा कर्मके मिलनेपर रागादि अशुद्ध चेतन परिणाम होता है, इसलिए दोनों द्रव्य कर्ता है? समाधान इस प्रकार है कि दोनों द्रव्य कर्ता नहीं है, कारण कि रागादि अशुद्ध परिणामोंका बाह्य कारण—निमित्तमात्र पुद्गलकर्मका उदय है। अन्तरंग कारण व्याप्य—व्यापकरूप जीवद्रव्य विभावरूप परिणमता है। इसलिए जीवका कर्तापना घटित होता है, पुद्गलकर्मका कर्तापना घटित नहीं होता है। कारण कि “अज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्” [अज्ञायाः] अचेतन द्रव्यरूप है जो [प्रकृतेः] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, उसके [स्वकार्य] अपनी करतूतिके [फल] सुख—दुःखके [भुग्भाव] भोक्तापनेका [अनुषङ्गात्] प्रसंग प्राप्त होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो द्रव्य जिस भावका कर्ता होता है वह उस द्रव्यका भोक्ता भी होता है। ऐसा होनेपर रागादि अशुद्ध चेतन परिणाम जो जीव कर्म दोनोंने मिलकर किया होवे तो दोनों भोक्ता होंगे सो दोनों भोक्ता तो नहीं है। कारण कि जीवद्रव्य चेतन है तिस कारण सुख—दुःखका भोक्ता होवे ऐसा घटित होता है, पुद्गलद्रव्य अचेतन होनेसे सुख—दुःखका भोक्ता घटित नहीं होता। इसलिए रागादि अशुद्ध चेतनपरिणमनका अकेला संसारी जीव कर्ता है, भोक्ता भी है। इसी अर्थको और गाढ़ा—पक्का करते हैं— एकस्याः प्रकृतेः कृतिः न” [एकस्याः प्रकृतेः] अकेले पुद्गलकर्मकी [कृतिः न] करतूति नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई ऐसा मानेगा कि रागादि अशुद्ध चेतनपरिणाम अकेले पुद्गलकर्मका किया है? उत्तर ऐसा है कि ऐसा भी नहीं है। कारण कि “अचित्त्वलसनात्” अनुभव ऐसा आता है कि पुद्गलकर्म अचेतनद्रव्य है, रागादि परिणाम अशुद्ध चेतनारूप हैं। इसलिए अचेतन द्रव्यका परिणाम अचेतनरूप होता है, चेतनरूप नहीं होता। इस कारण रागादि अशुद्ध परिणामका कर्ता संसारी जीव है, भोक्ता भी है।। ११—२०३।।

[शार्दूलविक्रीडित]

कर्मेव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथञ्चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिःस्तूयते ॥ १२-२०४ ॥

[रोला]

कोई कर्ता मान कर्म को भावकर्म का,
आत्मा का कर्तृत्व उड़ाकर अरे सर्वथा ।
और कथंचित कर्ता आत्म कहनेवाली,
स्याद्वादमय जिनवाणी को कोपित करते ॥
उन्हीं मोहमोहितमतिवाले अल्पज्ञों के,
सम्बोधन के लिए सहेतुक स्याद्वादमय ।
वस्तु का स्वरूप समझाते अरे भव्यजन,
अब आगे की गाथाओं में कुन्दकुन्द मुनि ॥२०४॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ वस्तुस्थितिः स्तूयते ” [वस्तु] जीवद्रव्यके [स्थितिः] स्वभावकी मर्यादा [स्तूयते] जैसी है वैसी कहते हैं। कैसी है? “ स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया ” [स्याद्वाद] ‘जीव कर्ता है, अकर्ता भी है ऐसा अनेकान्तपना, उसकी [प्रतिबन्ध] सावधानरूपसे की गई स्थापना, उससे [लब्ध] पाया है [विजया] जीतपना जिसने ऐसी है। किस निमित्त कहते हैं? “ तेषां बोधस्य संशुद्धये ” [तेषाम्] जो जीवको सर्वथा अकर्ता कहते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवोंकी [बोधस्य संशुद्धये] विपरीत बुद्धिके छुड़ानेके निमित्त जीवका स्वरूप साधते हैं। कैसी है वह मिथ्यादृष्टि जीवराशि? “ उद्धतमोहमुद्रितधियां ” [उद्धत] तीव्र उदयरूप [मोह] मिथ्यात्वभावसे [मुद्रित] आच्छादित है [धियां] शुद्धस्वरूप अनुभवरूप सम्यक्त्वशक्ति जिनकी ऐसी है। और कैसी है? “ एषः आत्मा कथञ्चित् कर्ता इति कैश्चित् श्रुतिः कोपिता ” [एषः आत्मा] चेतनास्वरूपमात्र जीवद्रव्य [कथञ्चित् कर्ता] किसी युक्तिसे अशुद्ध भावका कर्ता भी है [इति] इस प्रकार [कैश्चित् श्रुतिः] कितनेही मिथ्यादृष्टि जीवोंको ऐसा सुननेमात्रसे [कोपिता] अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता है। कैसा क्रोध होता है? “ अचलिता ” जो अति गाढ़ा है, अमिट है। जिससे ऐसा मानते हैं— “ आत्मनः कर्तृतां क्षिप्त्वा ” [आत्मनः] जीवका [कर्तृतां] अपने रागादि अशुद्ध भावोंका कर्तापना [क्षिप्त्वा] सर्वथा मेटकर [न मानकर] क्रोध करते हैं। और कैसा मानते हैं? “ कर्म एव कर्तृ इति प्रवितर्क्य ” [कर्म एव] अकेला ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड [कर्तृ] रागादि अशुद्ध परिणामोंका अपनेमें व्याप्य—व्यापकरूप होकर कर्ता है [इति प्रवितर्क्य] ऐसा गाढ़ापन करते हैं — प्रतीति करते हैं। सो ऐसी प्रतीति करते हुए कैसे हैं? “ हतकैः ” अपने घातक हैं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि हैं ॥१२-२०४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधाद्धः ।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥ १३-२०५ ॥

[रोला]

अरे जैन होकर भी सांख्यों के समान ही,
इस आत्म को सदा अकर्ता तुम मत जानो ।
भेदज्ञान के पूर्व राग का कर्ता आत्म,
भेदज्ञान होनेपर सदा अकर्ता जानो ॥ २०५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ऐसा कहा था कि स्याद्वाद स्वरूपके द्वारा जीवका स्वरूप कहेंगे। उसका उत्तर है— “अमी आर्हताः अपि पुरुषं अकर्तारम् मा स्पृशन्तु” [अमी] विद्यमान जो [आर्हताः अपि] जैनोक्त स्याद्वाद स्वरूपको अंगीकार करते हैं ऐसे जो सम्यग्दृष्टि जीव वे भी [पुरुषं] जीवद्रव्यको [अकर्तारम्] रागादि अशुद्ध परिणामोंका सर्वथा कर्ता नहीं है ऐसा [मा स्पृशन्तु] मत अंगीकार करो। किनके समान? “सांख्याः इव” जिस प्रकार सांख्यमतवाले जीवको सर्वथा अकर्ता मानते हैं उसी प्रकार जैन भी सर्वथा अकर्ता मत मानो। जैसा मानने योग्य हैं वैसा कहते हैं— “सदा तं भेदावबोधात् अधः कर्तारं किल कलयन्तु तु ऊर्ध्वं एनं च्युतकर्तृभावम् पश्यन्तु” [सदा] सर्व काल द्रव्यका स्वरूप ऐसा है कि [तं] जीवद्रव्यको [भेदावबोधात् अधः] शुद्धस्वरूप—परिणमनरूप सम्यक्त्वसे भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि होता हुआ मोह राग द्वेषरूप परिणमता है उतने काल [कर्तारं किल कलयन्तु] मोह राग द्वेषरूप अशुद्ध चेतनपरिणामका कर्ता जीव है ऐसा अवश्य मानो—प्रतीति करो। [तु] वही जीव [ऊर्ध्वं] जब मिथ्यात्वपरिणाम छूटकर अपने शुद्धस्वरूप सम्यक्त्वभावरूप परिणमता है तब [एनं च्युतकर्तृभावम्] छोड़ा है रागादि अशुद्ध भावोंका कर्तापन जिसने ऐसी [पश्यन्तु] श्रद्धा करो—प्रतीति करो— ऐसा अनुभव करो। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार जीवका ज्ञानगुण स्वभाव है। वह ज्ञानगुण संसार अवस्था अथवा मोक्ष अवस्थामें नहीं छूटता उस प्रकार रागादिपना जीवका स्वभाव नहीं है तथापि संसार अवस्थामें जब तक कर्मका संयोग है तब तक मोह राग द्वेषरूप अशुद्धपनेसे विभावरूप जीव परिणमता है और तब तक कर्ता है। जीवके सम्यक्त्वगुणके परिणमनके बाद ऐसा जानना—“उद्धतबोधधामनियतं” [उद्धत] सकल ज्ञेय पदार्थको जाननेके लिए उतावले ऐसे [बोधधाम] ज्ञानका प्रताप है [नियतं] सर्वस्व जिसका ऐसा है। और कैसा है? “स्वयं प्रत्यक्षम्” आपको अपने आप प्रगट हुआ है। और कैसा है? “अचलं” चार गतिके भ्रमणसे रहित हुआ है। और कैसा है? “ज्ञातारम्” ज्ञानमात्र स्वरूप है। और कैसा है? “परम् एकं” रागादि अशुद्ध परिणतिसे रहित शुद्ध वस्तुमात्र है ॥ १३-२०५ ॥

[मालिनी]

**क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥ १४-२०६ ॥**

[रोला]

जो कर्ता वह नहीं भोगता इस जगती में,
ऐसा कहते कोई आत्मा क्षणिक मानकर ।
नित्यरूपसे सदा प्रकाशित स्वयं आत्मा,
मानो उनका मोह निवारण स्वयं कर रहा ॥ २०६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- — “ इह एकः निजमनसि कर्तृभोक्त्रोः विभेदम् विधत्ते ” [इह] साम्प्रत विद्यमान है ऐसा [एकः] बौद्धमतको माननेवाला कोई जीव [निजमनसि] अपने ज्ञानमें [कर्तृभोक्त्रोः] कर्तापना—भोक्तापनामें [विभेदम् विधत्ते] भेद करता है। भावार्थ इस प्रकार है कि वह ऐसा कहता है कि क्रियाका कर्ता कोई अन्य है, भोक्ता कोई अन्य है। ऐसा क्यों मानता है? “ इदम् आत्मतत्त्वं क्षणिकम् कल्पयित्वा ” [इदम् आत्मतत्त्वं] अनादिनिधन है जो चैतन्यस्वरूप जीवद्रव्य, उसको [क्षणिकम् कल्पयित्वा] जिस प्रकार अपने नेत्ररोगके कारण कोई श्वेत शंखको पीला देखता है, उसी प्रकार अनादिनिधन जीवद्रव्य को मिथ्या भ्रान्तिके कारण ऐसा मानता है कि एक समयमात्रमें पूर्वका जीव मूलसे विनश जाता है, अन्य नया जीव मूलसे उपज आता है। ऐसा मानता हुआ मानता है कि क्रियाका कर्ता अन्य कोई जीव है, भोक्ता अन्य कोई जीव है। ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्वका मूल है। इसलिए ऐसे जीवको समझाते हैं — “ अयम् चिच्चमत्कारः तस्य विमोहं अपहरति ” [अयम् चिच्चमत्कारः] किसी जीवने बाल्यावस्थामें किसी नगरको देखा था। कुछ काल जानेपर और तरुण अवस्था आनेपर उसी नगरको देखता है। देखते हुए ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है कि वही यह नगर है जिस नगरको मैंने बालकपनमें देखा था। ऐसा है जो अतीत अनागत वर्तमान शाश्वत ज्ञानमात्र वस्तु वह [तस्य विमोहं अपहरति] क्षणिकवादीके मिथ्यात्वको दूर करता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो जीवतत्त्व क्षणविनश्वर होता तो पूर्व ज्ञान को लेकर जो वर्तमान ज्ञान होता है वह किसको होवे। इसलिए ‘जीवद्रव्य सदा शाश्वत है’ ऐसा कहनेसे क्षणिकवादी प्रतिबुद्ध होता है। कैसी है जीववस्तु? “ नित्यामृतौघैः स्वयम् अभिषिञ्चत् ” [नित्य] सदाकाल अविनश्वरपनारूप जो [अमृत] जीवद्रव्यका जीवनमूल उसके [ओघैः] समूह द्वारा [स्वयम् अभिषिञ्चन्] अपनी शक्तिसे आप पुष्ट होता हुआ। “ एव ” निश्चयसे ऐसा ही जानियेगा, अन्यथा नहीं ॥ १४-२०६ ॥

[अनुष्टुप]

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।**अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥ १५-२०७ ॥**

[सोरठा]

वृत्तिमान हो नष्ट, वृत्त्यंशों के भेद से ।**कर्ता भोक्ता भिन्न; इस भय से मानो नहीं ॥ २०७**

खंडान्वय सहित अर्थ:- क्षणिकवादी प्रतिबोधित किया जाता है —“इति एकान्तः मा चकास्तु” [इति] इस प्रकार [एकान्तः] द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकके भेद बिना किये ‘सर्वथा ऐसा ही है ऐसा कहना [मा चकास्तु] किसी जीवको स्वप्नमात्रमें भी ऐसा श्रद्धान मत होओ। ऐसा कैसे? “अन्यः करोति अन्यः भुङ्क्ते” [अन्यः करोति] अन्य प्रथम समयका उत्पन्न हुआ कोई जीव कर्मका उपार्जन करता है [अन्यः भुङ्क्ते] अन्य दूसरे समयका उत्पन्न हुआ जीव कर्मको भोगता है ऐसा एकान्तपना मिथ्यात्व है। भावार्थ इस प्रकार है — जीववस्तु द्रव्यरूप है, पर्यायरूप है। इसलिए द्रव्यरूपसे विचार करनेपर जो जीव कर्मका उपार्जन करता है वही जीव उदय आनेपर भोगता है। पर्यायरूपसे विचार करनेपर जिस परिणाम अवस्थामें ज्ञानावरणादि कर्मका उपार्जन करता है, उदय आनेपर उन परिणामका अवस्थान्तर होता है; इसलिए अन्य पर्याय करती है अन्य पर्याय भोगती है। ऐसा भाव स्याद्वाद साध सकता है। जैसा बौद्धमतका जीव कहता है वह तो महाविपरीत है। सो कौन विपरीतपना? “अत्यन्तं वृत्त्यंशभेदतः वृत्तिमन्नाशकल्पनात्” [अत्यन्तं] द्रव्यका ऐसा ही स्वरूप है सहारा किसका। [वृत्ति] अवस्था, उसका [अंश] एक द्रव्यकी अनन्त अवस्था ऐसा [भेदतः] कोई अवस्था विनश जाती है, अन्य कोई अवस्था उत्पन्न होती है ऐसा अवस्थाभेद विद्यमान है। ऐसे अवस्थाभेदका छल पकड़कर कोई बौद्धमतका मिथ्यादृष्टि जीव [वृत्तिमन्नाशकल्पनात्] वृत्तिमान्— जिसका अवस्थाभेद होता है ऐसी सत्तारूप शाश्वत वस्तुका नाश कल्पना— मूलसे सत्ताका नाश मानता है, इसलिए ऐसा कहना विपरीतपना है। भावार्थ इस प्रकार है कि बौद्धमतका जीव पर्यायमात्रको वस्तु मानता है, पर्याय जिसकी है ऐसी सत्तामात्र वस्तुको नहीं मानता है। इस कारण ऐसा मानता है सो महामिथ्यात्व है ॥ १५-२०७ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
 कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
 चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रे रतैः
 आत्मा व्युज्झित एष हारवदहो निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥ १६-२०८ ॥

[रोला]

यह आतम है क्षणिक क्योंकि यह परमशुद्ध है ।
 जहाँ काल की भी उपाधि की नहीं अशुद्धि ॥
 इसी धारणा से छूटा त्यों नित्य आतमा ।
 ज्यों डोरा बिन मुक्तामणि से हार न बनता ॥ २०८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- एकान्तपनेसे जो माना जाय सो मिथ्यात्व है। “अहो पृथुकैः एषः आत्मा व्युज्झितः” [अहो] भो जीव! [पृथुकैः] नाना प्रकार अभिप्राय है जिनका ऐसे जो मिथ्यादृष्टि जीव हैं उनको [एषः आत्मा] विद्यमान शुद्ध चैतन्यवस्तु [व्युज्झितः] सधी नहीं। कैसे हैं एकान्तवादी? “शुद्धर्जुसूत्रे रतैः” [शुद्ध] *द्रव्यार्थिकनयसे रहित [ऋजुसूत्रे] वर्तमान पर्यायमात्रमें वस्तुरूप अंगीकार करनेरूप एकान्तपनेमें [रतैः] मग्न हैं। “चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य” एक समयमात्रमें एक जीव मूलसे विनश जाता है, अन्य जीव मूलसे उत्पन्न होता है ऐसा मानकर बौद्धमतके जीवोंको जीवस्वरूपकी प्राप्ति नहीं है। तथा मतान्तर कहते हैं —“अपरैः तत्रापि कालोपाधिबलात् अधिकां अशुद्धिं मत्वा” [अपरैः] कोई मिथ्यादृष्टि एकांतवादी ऐसे हैं जो जीवका शुद्धपना नहीं मानते हैं। सर्वथा अशुद्धपना मानते हैं। उन्हें भी वस्तुकी प्राप्ति नहीं है ऐसा कहते हैं— [कालोपाधिबलात्] अनन्त काल हुआ जीवद्रव्य कर्मके साथ मिला हुआ ही चला आया है, भिन्न तो हुआ नहीं ऐसा मानकर [तत्र अपि] उस जीवमें [अधिकां अशुद्धिं मत्वा] जीवद्रव्य अशुद्ध है, शुद्ध है ही नहीं ऐसी प्रतीति करते हैं जो जीव उन्हें भी वस्तुकी प्राप्ति नहीं है। मतान्तर कहते हैं— “अन्धकैः अतिव्याप्तिं प्रपद्य” [अन्धकैः] एकान्त मिथ्यादृष्टि जीव कोई ऐसे हैं जो [अतिव्याप्तिं प्रपद्य] कर्मकी उपाधिको नहीं मानते हैं। “आत्मानं परिशुद्धम् ईप्सुभिः” जीवद्रव्यको सर्व काल सर्वथा शुद्ध मानते हैं। उन्हें भी स्वरूपकी प्राप्ति नहीं है। कैसे हैं एकान्तवादी? “निःसूत्रमुक्तेक्षिभिः” [निःसूत्र] स्याद्वाद सूत्र बिना [मुक्तेक्षिभिः] सकल कर्मके क्षयलक्षण मोक्षको चाहते हैं, उनके प्राप्ति नहीं है। उनका दृष्टान्त—“हारवत्” हारके समान। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार सूतके बिना मोती नहीं सधता है —हार नहीं होता है उसी प्रकार स्याद्वादसूत्रके ज्ञान बिना एकान्तवादोंके द्वारा आत्माका स्वरूप नहीं सधता है — आत्मस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती है,

* यहाँ पर ‘द्रव्यार्थिकनयसे रहित’ पाठके स्थानमें हस्तलिखित एवं पहली मुद्रित प्रतिमें ‘पर्यायार्थिकनयसे रहित’ ऐसा पाठ है जो भूलसे आपड़ा मालुम पड़ता है।

इसलिए जो कोई आपको सुख चाहते हैं वे स्याद्वादसूत्रके द्वारा जैसा आत्माका स्वरूप साधा गया है वैसा मानिएगा ॥ १६-२०८॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोऽपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव सञ्चिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भर्तुं न शक्या क्वचि-
च्चिन्तामणिमालिकेयमभितोऽप्येका चकास्त्वेव नः ॥ १७-२०९ ॥**

[रोला]

**कर्ता-भोक्ता में अभेद हो युक्तिवश से,
भले भेद हो अथवा दोनो ही न होवें।
ज्यों मणियों की माला भेदी नहीं जा सके,
त्यों अभेद आत्म का अनुभव हमें सदा हो ॥ २०९ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ निपुणैः वस्तु एव सञ्चिन्त्यताम् ” [निपुणैः] शुद्धस्वरूप अनुभवमें प्रवीण हैं ऐसे जो सम्यग्दृष्टि जीव, उनको [वस्तु एव] समस्त विकल्पसे रहित निर्विकल्प सत्तामात्र चैतन्यस्वरूप [सञ्चिन्त्यताम्] स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे अनुभव करने योग्य है। “ कर्तुः च वेदयितुः युक्तिवशतः भेदः अस्तु अथवा अभेदः अस्तु ” [कर्तुः] कर्तामें [च] और [वेदयितुः] भोक्तामें [युक्तिवशतः] द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नयका भेद करनेपर [भेदः अस्तु] अन्य पर्याय करती है, अन्य पर्याय भोगती है, पर्यायार्थिक नयसे ऐसा भेद है तो होओ। ऐसा साधनेपर साध्यसिद्धि तो कुछ नहीं है। [अथवा] द्रव्यार्थिकनयसे [अभेदः] जो जीव द्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म का कर्ता है वही जीव द्रव्य भोक्ता है ऐसा [अस्तु] भी है तो ऐसा भी होओ, इस में भी साध्य सिद्धि तो कुछ नहीं है। “ वा कर्ता च वेदयिता वा मा भवतु ” [वा] कर्तृत्वनयसे [कर्ता] जीव अपने भावोंका कर्ता है [च] तथा भोक्तृत्वनयसे [वेदयिता] जिसरूप परिणमता है उस परिणामका भोक्ता है ऐसा है तो ऐसा ही होओ। ऐसा विचार करनेपर शुद्धस्वरूपका अनुभव तो नहीं है। कारण कि ऐसा विचारना अशुद्धरूप विकल्प है। [वा] अथवा अकर्तृत्वनयसे जीव अकर्ता है [च] तथा अभोक्तृत्व नयसे जीव [मा] भोक्ता नहीं है [भवतु] कर्ता-भोक्ता नहीं है तो मत ही होओ। ऐसा विचार करनेपर भी शुद्धस्वरूपका अनुभव नहीं है। कारण कि “ प्रोता इह आत्मनि क्वचित् भर्तुं न शक्यः ” [प्रोता] कोई नय विकल्प। उसका विवरण— अन्य करता है अन्य भोगता है ऐसा विकल्प अथवा जीव कर्ता है भोक्ता है ऐसा विकल्प अथवा जीव कर्ता नहीं है भोक्ता नहीं है ऐसा विकल्प इत्यादि अनन्त विकल्प हैं तो भी उनमेंसे कोई विकल्प [इह आत्मनि] शुद्ध वस्तुमात्र है जीवद्रव्य उसमें [क्वचित्] किसी भी कालमें [भर्तुं न शक्यः] शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप स्थापनेको समर्थ नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई अज्ञानी ऐसा जानेगा कि इस स्थलमें ग्रंथकर्ता आचार्यने कर्तापन अकर्तापन भोक्तापन अभोक्तापन बहुत प्रकारसे कहा

हैं सो इसमें क्या अनुभवकी प्राप्ति बहुत है? समाधान इस प्रकार है कि समस्त नयविकल्पोंके द्वारा शुद्धस्वरूपका अनुभव सर्वथा नहीं है। उसको [स्वरूपको] मात्र जनानेके लिए ही शास्त्रमें बहुत नय—युक्तिसे दिखलाया है। तिस कारण “नः इयम् एका अपि चिच्चिन्तामणिमालिका अभितः चकास्तु एव” [नः] हमें [इयं] स्वसंवेदनप्रत्यक्ष [एका अपि] समस्त विकल्पोंसे रहित [चित्] शुद्ध चेतनारूप [चिन्तामणि] अनंत शक्तिगर्भित [मालिका] चेतनामात्र वस्तुकी [अभितः चकास्तु एव] सर्वथा प्रकार प्राप्ति होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि निर्विकल्पमात्रका अनुभव उपादेय है, अन्य विकल्प समस्त हेय हैं। दृष्टान्त ऐसा—“सूत्रे प्रोता इव” जिस प्रकार कोई पुरुष मोतीकी मालाको पोना जानता है, माला गूँथता हुआ अनेक विकल्प करता है सो वे समस्त विकल्प झूठे हैं, विकल्पोंमें शोभा करनेकी शक्ति नहीं है। शोभा तो मोतीमात्र वस्तु है, उसमें है। इसलिए पहननेवाला पुरुष मोतीकी माला जानकर पहिनता है, गूँथनेके बहुत विकल्पजानकर नहीं पहिनता है। देखने वाला भी मोतीकी माला जानकर शोभा देखता है, गूँथनेके विकल्पोंको नहीं देखता है। उसी प्रकार शुद्ध चेतनामात्र सत्ता अनुभव करने योग्य है। उसमें घटते हैं जो अनेक विकल्प उन सबकी सत्ता अनुभव करने योग्य नहीं है॥ १७—२०९॥

[रथोद्धता]

व्यावहारिकदृशैव केवलं
कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते
कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥ १८-२१०॥

[दोहा]

अरे मात्र व्यवहार से कर्मरु कर्ता भिन्न।
निश्चयनय से देखिये दोनों सदा अभिन्न॥ २१०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- यहाँ कोई प्रश्न करता है कि ज्ञानावरणादि कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कर्ता जीव है कि नहीं? उत्तर इस प्रकार है कि कहनेको तो है, वस्तुस्वरूप विचारने पर कर्ता नहीं है। ऐसा कहते हैं—“व्यावहारिकदृशा एव केवलं” झूठा व्यवहारदृष्टिसे ही “कर्तृ” कर्ता “च” तथा “कर्म” किया गया कार्य “विभिन्नम् इष्यते” भिन्न—भिन्न है। जीव ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मका कर्ता ऐसा कहनेके लिए सत्य है। कारण कि युक्ति ऐसी कि रागादि अशुद्ध परिणामोंको जीव करता है। रागादि अशुद्ध परिणामोंके होते समय ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल द्रव्य परिणमता है इस कारण कहनेके लिए ऐसा है कि ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये। स्वरूपका विचार करनेपर ऐसा कहना झूठा है। कारण कि “यदि निश्चयेन चिन्त्यते” [यदि] जो [निश्चयेन] सच्ची व्यवहारदृष्टिसे [चिन्त्यते] देखा जाय, क्या देखा जाय? “वस्तु” स्वद्रव्य परिणाम परद्रव्य परिणामरूप वस्तुका स्वरूप तो “सदा एव कर्तृ कर्म एकम्

इष्यते '[सदा एव] सर्व ही काल [कर्तृ] परिणमता है जो द्रव्य [कर्म] द्रव्यका परिणाम[एकम् इष्यते] एक है अर्थात् कोई जीव अथवा पुद्गलद्रव्य अपने परिणामोंके साथ व्याप्य—व्यापकरूप परिणमता है, इसलिए कर्ता है, वही कर्म है; क्योंकि परिणाम उस द्रव्यके साथ व्याप्य—व्यापकरूप है ऐसा [इष्यते] विचार करनेपर घटित होता है — अनुभवमें आता है। अन्य द्रव्यका अन्य द्रव्य कर्ता, अन्य द्रव्यका परिणाम अन्य द्रव्यका कर्म ऐसा तो अनुभवमें घटता नहीं। कारण कि दो द्रव्योंका व्याप्य—व्यापकपना नहीं है॥ १८—२१०॥

[नर्दटक]

**ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः॥ १९-२११॥***

[दोहा]

अरे कभी होता नहीं कर्ता के बिन कर्म ।
निश्चय से परिणाम ही परिणामी का कर्म॥
सदा बदलता ही रहे यह परिणामी द्रव्य ।
एकरूप रहती नहीं वस्तु की थिति नित्य॥२११॥

श्लोकार्थः— ‘‘ननु किल’’ वास्तवमें ‘‘परिणामः एव’’ परिणाम ही ‘‘विनिश्चयतः’’ निश्चयसे ‘‘कर्म’’ कर्म है और ‘‘सः परिणामिनः एव भवेत्, अपरस्य न भवति’’ परिणाम अपने आश्रयभूत परिणामीका ही होता है, अन्यका नहीं [क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्यके आश्रित हैं, अन्यके परिणामका अन्य आश्रय नहीं होता]; और ‘‘कर्म कर्तृशून्यं इह न भवति’’ कर्म कर्ताके बिना नहीं होता, ‘‘च’’ तथा ‘‘वस्तुनः एकतया स्थितिः इह न’’ वस्तुकी एकरूप [कूटस्थ] स्थिति नहीं होती [क्योंकि वस्तु द्रव्य पर्याय स्वरूप होनेसे सर्वथा नित्यत्व बाधा सहित है]; ‘‘ततः’’ इसलिए ‘‘तत् एव कर्तृ भवतु’’ वस्तु स्वयं ही अपने परिणामरूप कर्मका कर्ता है [यह निश्चित सिद्धान्त है]॥ १९—२११॥

* पंडित श्री राजमलजीकी टीकामें ‘आत्मख्याति’का यह श्लोक अनुवाद करनेसे रह गया है, अतः हिन्दी समयसारके आधारसे उक्त श्लोक अर्थसहित यहाँ दिया गया है।

[पृथ्वी]

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
 तथाऽप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
 स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
 स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥ २०-२१२ ॥

[रोला]

यद्यपि आतमराम शक्तियों से है शोभित ।
 और लोटता बाहर-बाहर परद्रव्यों के ॥
 पर प्रवेश पा नहीं सकेगा उन द्रव्यों में ।
 फिर भी आकुल व्याकुल होकर क्लेश पारहा ॥ २१२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- जीवका स्वभाव ऐसा है कि सकल ज्ञेयको जानता है। कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा जानेगा कि ज्ञेय वस्तुको जानते हुए जीवके अशुद्धपना घटित होता है। उसका समाधान ऐसा है कि अशुद्धपना नहीं घटित होता है। जीव वस्तुका ऐसा ही स्वभाव है जो समस्त ज्ञेयवस्तुको जानता है। यहाँसे लेकर ऐसा भाव कहते हैं —“इह स्वभावचलनाकुलः मोहितः किं क्लिश्यते” [इह] जीव समस्त ज्ञेयको जानता है ऐसा देखकर [स्वभाव] जीवका शुद्ध स्वरूप, उससे [चलन] स्खलितपना जानकर [आकुलः] खेद—खिन्न हुआ मिथ्यादृष्टि जीव [मोहितः] मिथ्यात्वरूप अज्ञानपनाके आधीन हो [किं क्लिश्यते] क्यों खेद—खिन्न होता है? कारण कि “यतः स्वभावनियतं सकलम् एव वस्तु इष्यते” [यतः] जिस कारण [सकलम् एव वस्तु] जो कोई जीवद्रव्य अथवा पुद्गलद्रव्य इत्यादि है वह सब [स्वभावनियतं] नियमसे अपने स्वरूप है ऐसा [इष्यते] अनुभवगोचर होता है। यही अर्थ प्रगट करके कहते हैं—“यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं बहिर्लुठति” [यद्यपि] यद्यपि प्रत्यक्षरूपसे ऐसा है कि [स्फुटत्] सदाकाल प्रगट है [अनन्तशक्तिः] अविनश्यर चेतनाशक्ति जिसकी ऐसा जीवद्रव्य [स्वयं बहिः लुठति] स्वयं समस्त ज्ञेयको जानकर ज्ञेयाकाररूप परिणमता है ऐसा जीवका स्वभाव है, “तथापि अन्यवस्त्वन्तरम्” [तथापि] तो भी [अन्यवस्त्वन्तरम्] एक कोई जीवद्रव्य अथवा पुद्गलद्रव्य “अपरवस्तुनः न विशति” किसी अन्य द्रव्यमें प्रवेश नहीं करता है, वस्तुस्वभाव ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य समस्त ज्ञेय वस्तुको जानता है ऐसा तो स्वभाव है, परन्तु ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं होता है, ज्ञेय भी ज्ञान द्रव्यरूप नहीं परिणमता है ऐसी वस्तुकी मर्यादा है ॥ २०-२१२ ॥

[रथोद्धता]

वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो
 येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
 निश्चयोऽयमपरो परस्य कः
 किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥ २१-२१३ ॥

[रोला]

एक वस्तु हो नहीं कभी भी अन्य वस्तु की ।
 वस्तु वस्तु की ही है - ऐसा निश्चित जानो ॥
 ऐसा है तो अन्य वस्तु यदि बाहर लोटे ।
 तो फिर वह क्या कर सकती है अन्य वस्तु का ॥ २१३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- अर्थ कहा था उसे गाढ़ा करते हैं — “येन इह एकम् वस्तु अन्यवस्तुनः न” [येन] जिस कारणसे [इह] छह द्रव्योंमें कोई [एकम् वस्तु] जीवद्रव्य अथवा पुद्गलद्रव्य सत्तारूप विद्यमान है वह [अन्यवस्तुनः न] अन्य द्रव्यसे सर्वथा नहीं मिलता ऐसी द्रव्योंके स्वभावकी मर्यादा है । “तेन खलु वस्तु तत् वस्तु” [तेन] तिस कारणसे [खलु] निश्चयसे [वस्तु] जो कोई द्रव्य [तत् वस्तु] वह अपने स्वरूप है — जिस प्रकार है उसी प्रकार है, “अयम् निश्चयः” ऐसा तो निश्चय है, परमेश्वरने कहा है, अनुभवगोचर भी होता है । “कः अपरः बहिः लुठन् अपि अपरस्य किं करोति” [कः अपरः] ऐसा कौन द्रव्य है जो [बहिः लुठन् अपि] यद्यपि ज्ञेय वस्तुको जानता है तो भी [अपरस्य किं करोति] ज्ञेय वस्तुके साथ सम्बन्ध कर सके ? अर्थात् कोई द्रव्य नहीं कर सके । भावार्थ इस प्रकार है कि वस्तुस्वरूपकी मर्यादा तो ऐसी है कि कोई द्रव्य किसी द्रव्यके साथ एकरूप नहीं होता है । इसके उपरान्त भी जीवका स्वभाव ज्ञेयवस्तुको जाने ऐसा है तो रहो तो भी धोखा तो कुछ नहीं है । जीव द्रव्य ज्ञेयको जानता हुआ अपने स्वरूप है ॥ २१-२१३ ॥

[रथोद्धता]

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः
 किञ्चनापि परिणामिनः स्वयम् ।
 व्यावहारिकदृशैव तन्मतं
 नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥ २२-२१४ ॥

[रोला]

स्वयं परिणमित एक वस्तु यदि पर वस्तु का ।
 कुछ करती है - ऐसा जो माना जाता है ॥
 वह केवल व्यवहार कथन है निश्चय से तो ।
 एक दूसरे का कुछ करना शक्य नहीं है ॥ २१४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- कोई आशंका करता है कि जैनसिद्धान्तमें भी ऐसा कहा है कि जीव ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मको करता है, भोगता है। उसका समाधान इस प्रकार है कि झूठे व्यवहारसे कहनेको है। द्रव्यके स्वरूपका विचार करनेपर परद्रव्यका कर्ता जीव नहीं है। “तु यत् वस्तु स्वयम् परिणामिनः अन्यवस्तुनः किञ्चन अपि कुरुते” [तु] ऐसी भी कहावत है कि [यत् वस्तु] जो कोई चेतनालक्षण जीव द्रव्य [स्वयम् परिणामिनः अन्यवस्तुनः] अपनी परिणामशक्तिसे ज्ञानावरणादिरूप परिणमता है ऐसे पुद्गलद्रव्यका [किञ्चन अपि कुरुते] कुछ करता है ऐसा कहना, “तत् व्यावहारिकदृशा” [तत्] जो कुछ ऐसा अभिप्राय है वह सब [व्यावहारिकदृशा] झूठी व्यवहारदृष्टिसे है। “निश्चयात् किम् अपि नास्ति इह मतं” [निश्चयात्] वस्तुके स्वरूपका विचार करनेपर [किम् अपि नास्ति] ऐसा विचार— ऐसा अभिप्राय कुछ नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कुछ ही बात नहीं, मूलसे झूठ है [इह मतं] ऐसा सिद्धान्त सिद्ध हुआ ॥ २२-२१४ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
 नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
 ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
 किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥ २३-२१५ ॥

[रोला]

एक द्रव्य में अन्य द्रव्य रहता हो- ऐसा ।
 भासित कभी नहीं होता है ज्ञानिजनों को ॥
 शुद्धभाव का उदय ज्ञेय का ज्ञान, न जाने ।
 फिर भी क्यों अज्ञानी जन आकुल होते हैं ॥ २१५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “जनाः तत्त्वात् किं च्यवन्ते” [जनाः] समस्त संसारी जीव [तत्त्वात्] ‘जीव वस्तु सर्व काल शुद्धस्वरूप है, समस्त ज्ञेयको जानती है ऐसे अनुभवसे [किं च्यवन्ते] क्यों भ्रष्ट होते हैं? भावार्थ इस प्रकार है कि वस्तुका स्वरूप तो प्रगट है, भ्रम क्यों करते हैं? कैसे हैं जन? “द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियः” [द्रव्यान्तर] ‘समस्त ज्ञेयवस्तुको जानता है जीव, इससे [चुम्बन] अशुद्ध हुआ है जीवद्रव्य ऐसा जानकर [आकुलधियः] ‘ज्ञेयवस्तुका जानपना कैसे छूटे, जिसके छूटनेसे जीव द्रव्य शुद्ध होवे ऐसी हुई है बुद्धि जिनकी, ऐसे हैं। “तु” उसका समाधान ऐसा है कि “यत् ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति तत् अयं शुद्धस्वभावोदयः” [यत्] जो ऐसा है कि [ज्ञानं ज्ञेयम् अवैति] ‘ज्ञान ज्ञेयको जानता है ऐसा प्रगट है [तत् अयं] सो यह [शुद्धस्वभावोदयः] शुद्ध जीववस्तुका स्वरूप है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार अग्निका दाहकस्वभाव है, समस्त दाह्यवस्तुको जलाती है। जलाती हुई अग्नि अपने शुद्धस्वरूप है। अग्निका ऐसा ही स्वभाव है उसी प्रकार जीव ज्ञानस्वरूप है, समस्त ज्ञेयको जानता है। जानता हुआ अपने स्वरूप है ऐसा वस्तुका स्वभाव है। ज्ञेयके जानपनेसे जीवका अशुद्धपना मानता है सो मत मानो, जीव शुद्ध है। और समाधान करते हैं। कारण कि “किम् अपि द्रव्यान्तरं एकद्रव्यगतं न चकास्ति” [किम् अपि द्रव्यान्तरं] कोई ज्ञेयरूप पुद्गल द्रव्य अथवा धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्य [एकद्रव्य] शुद्ध जीव वस्तुमें [गतं] एक द्रव्यरूपसे परिणमता है ऐसा [न चकास्ति] नहीं शोभता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव समस्त ज्ञेयको जानता है, ज्ञान ज्ञानरूप है, ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप है। कोई द्रव्य अपने द्रव्यत्वको छोड़कर अन्य द्रव्य रूप तो नहीं हुआ ऐसा अनुभव जिसको है सो कहते हैं- “शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः” [शुद्धद्रव्य] समस्त विकल्पसे रहित शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तुके [निरूपण] प्रत्यक्ष अनुभवमें [अर्पितमतेः] स्थापित किया है बुद्धिका सर्वस्व जिसने ऐसे जीवके। और कैसे जीवके? “तत्त्वं समुत्पश्यतः” सत्तामात्र शुद्ध जीववस्तुको प्रत्यक्ष आस्वादता है ऐसे जीवके। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव समस्त ज्ञेयको जानता है, समस्त ज्ञेयसे भिन्न है ऐसा स्वभाव सम्यग्दृष्टि जीव जानता है ॥ २३-२१५ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्ति भूमि-
ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥ २४-२१६ ॥

[रोला]

शुद्ध द्रव्य का निजरसरूप परिणमन होता,
वह पररूप या उसरूप नहीं हो सकते ।
अरे चाँदनी की ज्यों भूमि नहीं हो सकती,
त्यों हि कभी नहीं हो सकते ज्ञेय ज्ञान के ॥ २१६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “सदा ज्ञानं ज्ञेयं कलयति अस्य ज्ञेयं न अस्ति एव” [सदा] सर्व काल [ज्ञानं] अर्थग्रहणशक्ति [ज्ञेयं] स्वपरसम्बन्धी समस्त ज्ञेय वस्तुको [कलयति] एक समयमें द्रव्य—गुण—पर्यायभेद युक्त जैसी है उस प्रकार जानता है। एक विशेष — [अस्य] ज्ञानके सम्बन्धसे [ज्ञेयं न अस्ति] ज्ञेयवस्तु ज्ञानसे सम्बन्धरूप नहीं है। [एव] निश्चयसे ऐसा ही है। दृष्टान्त कहते हैं— “ज्योत्स्नारूपं भुवं स्नपयति तस्य भूमिः न अस्ति एव” [ज्योत्स्नारूपं] चन्द्रिकाका प्रसार [भुवं स्नपयति] भूमिको श्वेत करता है। एक विशेष — [तस्य] ज्योत्स्नाके प्रसारके सम्बन्धसे [भूमिः न अस्ति] भूमि ज्योत्स्नारूप नहीं होती। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार ज्योत्स्ना फैलती है, समस्त भूमि श्वेत होती है तथापि ज्योत्स्नाका भूमिका सम्बन्ध नहीं है उसी प्रकार ज्ञान समस्त ज्ञेयको जानता है तथापि ज्ञानका ज्ञेयका सम्बन्ध नहीं है। ऐसा वस्तुका स्वभाव है। ऐसा कोई नहीं माने उसके प्रति युक्तिके द्वारा घटित करते हैं — “शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्” शुद्ध द्रव्य अपने अपने स्वभावमें रहता है तो “स्वभावस्य शेषं किं” [स्वभावस्य] सत्तामात्र वस्तुका [शेषं किं] क्या बचा? भावार्थ इस प्रकार है कि सत्तामात्र वस्तु निर्विभाग एकरूप है, जिसके दो भाग होते नहीं। “यदि वा” जो कभी “अन्यद्रव्यं भवति” अनादिनिधन सत्तारूप वस्तु अन्य सत्तारूप होवे तो “तस्य स्वभावः किं स्यात्” [तस्य] पहले साधीहुई सत्तारूप वस्तुका [स्वभावः किं स्यात्] जो पूर्वका सत्त्व अन्य सत्त्वरूप होवे तो पूर्व सत्तामेंसे क्या बचा? अपितु पूर्व सत्ताका विनाश सिद्ध होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार जीवद्रव्य चेतनासत्तारूप है, निर्विभाग है सो चेतनासत्ता जो कभी पुद्गलद्रव्य—अचेतनारूप हो जाय तो चेतनासत्ताका विनाश होना कौन मेट सकता है? सो वस्तुका स्वरूप ऐसा तो नहीं है, इसलिए जो द्रव्य जैसा है जिस प्रकार है वैसा ही है अन्यथा होता नहीं। इसलिए जीवका ज्ञान समस्त ज्ञेयको जानता है तो जानो तथापि जीव अपने स्वरूप है ॥ २४—२१६ ॥

[मन्दाक्रान्ता]

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावत्
 ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यम् ।
 ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
 भावाभावौ भवति तिरयन् येन पूर्णस्वभावः ॥ २५-२१७ ॥

[रोला]

तब तक राग-द्वेष होते हैं जब तक भाई,
 ज्ञान-ज्ञेयका भेद ज्ञानमें उदित नहीं हो ॥
 ज्ञान-ज्ञेयका भेद समझकर राग-द्वेष को,
 मेट पूर्णतः पूर्ण ज्ञानमय तुम हो जावो ॥ २१७ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एतत् रागद्वेषद्वयं तावत् उदयते ” [एतत्] विद्यमान [राग] इष्टमें अभिलाष [द्वेष] अनिष्टमें उद्वेग ऐसे [द्वयम्] दो जातिके अशुद्ध परिणाम [तावत् उदयते] तब तक होते हैं “ यावत् ज्ञानं ज्ञानं न भवति ” [यावत्] जब तक [ज्ञानं] जीवद्रव्य [ज्ञानं न भवति] अपने शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप नहीं परिणमता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जितने काल तक जीव मिथ्यादृष्टि है उतने काल तक राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणमन नहीं मिटता। “ पुनः बोध्यं बोध्यतां यावत् न याति ” [पुनः] तथा [बोध्यं] ज्ञानावरणादि कर्म अथवा रागादि अशुद्ध परिणाम [बोध्यतां यावत् न याति] ज्ञेयमात्र बुद्धिको नहीं प्राप्त होते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानावरणादि कर्म सम्यग्दृष्टि जीवको जाननेके लिए हैं। कोई अपने कर्मका उदय कार्य जिस तिस प्रकार करनेके लिये समर्थ नहीं है। “ तत् ज्ञानं ज्ञानं भवतु ” [तत्] तिस कारणसे [ज्ञानं] जीववस्तु [ज्ञानं भवतु] शुद्ध परिणतिरूप होकर शुद्धस्वरूपके अनुभवसमर्थ होओ। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “ न्यक्कृताज्ञानभावं ” [न्यक्कृत] दूर किया है [अज्ञानभावं] मिथ्यात्वभावरूप परिणति जिसने ऐसा है। ऐसा होनेपर कार्यकी प्राप्ति कहते हैं—“ येन पूर्णस्वभावः भवति ” [येन] जिस शुद्ध ज्ञानके द्वारा [पूर्णस्वभावः भवति] जैसा द्रव्यका अनन्तचतुष्टयस्वरूप है वैसा प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि मुक्तिपदकी प्राप्ति होती है। कैसा है पूर्ण स्वभाव? “ भावाभावौ तिरयन् ” चतुर्गतिसम्बन्धी उत्पाद—व्ययको सर्वथा दूर करता हुआ जीवका स्वरूप प्रगट होता है ॥ २५-२१७ ॥

[मंदाक्रान्ता]

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
 तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित् ।
 सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
 ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥ २६-२१८ ॥

[रोला]

यही ज्ञान अज्ञान भाव से राग द्वेषमय,
 हो जाता पर तत्त्वदृष्टि से वस्तु नहीं ये।
 तत्त्वदृष्टि के बल से क्षयकर इन भावों को,
 हो जाती है अचल सहज यह ज्योति प्रकाशित ॥ २१८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ततः सम्यग्दृष्टिः स्फुटं तत्त्वदृष्ट्या तौ क्षपयतु” [ततः] तिस कारणसे [सम्यग्दृष्टिः] शुद्धचैतन्य अनुभवशीली जीव [स्फुटं तत्त्वदृष्ट्या] प्रत्यक्षरूप है जो शुद्ध जीव स्वरूपका अनुभव उसके द्वारा [तौ] राग—द्वेष दोनोंको [क्षपयतु] मूलसे मेटकर दूर करो। “येन ज्ञानज्योतिः सहजं ज्वलति” [येन] जिन राग—द्वेषके मेटनेसे [ज्ञानज्योतिः सहजं ज्वलति] शुद्ध जीवका स्वरूप जैसा है वैसा सहज प्रगट होता है। कैसी है ज्ञानज्योति ? “पूर्णाचलार्चिः” [पूर्ण] जैसा स्वभाव है ऐसा और [अचल] सर्व काल अपने स्वरूप है ऐसा [अर्चिः] प्रकाश है जिसका, ऐसी है। राग—द्वेषका स्वरूप कहते हैं—“हि ज्ञानम् अज्ञानभावात् इह रागद्वेषौ भवति” [हि] जिस कारण [ज्ञानम्] जीवद्रव्य [अज्ञानभावात्] अनादि कर्मसंयोगसे परिणमा है विभावपरिणति मिथ्यात्वरूप, उसके कारण [इह] वर्तमान संसार अवस्थामें [रागद्वेषौ भवति] राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणतिसे व्याप्य—व्यापकरूप आप परिणमता है। इस कारण “तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्” [तौ] राग—द्वेष दोनों जातिके अशुद्ध परिणाम [वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ] सत्तास्वरूप दृष्टिसे विचार करनेपर [न किञ्चित्] कुछ वस्तु नहीं। भावार्थ इस प्रकार है कि जैसे सत्तास्वरूप एक जीव द्रव्य विद्यमान है वैसे राग—द्वेष कोई द्रव्य नहीं, जीवकी विभावपरिणति है। वही जीव जो अपने स्वभावरूप परिणमे तो रागद्वेष सर्वथा मिटे। ऐसा होना सुगम है कुछ मुश्किल नहीं है— अशुद्ध परिणति मिटती है शुद्ध परिणति होती है ॥ २६-२१८ ॥

[शालिनी]

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या
 नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
 सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति
 व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥ २७-२१९ ॥

[रोला]

तत्त्वदृष्टि से राग-द्वेष भावों का भाई, कर्त्ता-धर्त्ता कोई अन्य नहीं हो सकता ।
 क्योंकि है अत्यन्त प्रगट यह बात जगत में, द्रव्योंका उत्पाद स्वयं से ही होता ॥ २१९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई ऐसा मानता है कि जीवका स्वभाव राग—द्वेषरूप परिणमनेका नहीं है, परद्रव्य ज्ञानावरणादि कर्म तथा शरीर भोगसामग्री बलात्कार जीवको राग—द्वेषरूप परिणमाते हैं सो ऐसा तो नहीं, जीवकी विभावपरिणामशक्ति जीवमें है, इसलिए मिथ्यात्वके भ्रमरूप परिणमता हुआ राग—द्वेषरूप जीवद्रव्य आप परिणमता है, परद्रव्यका कुछ सहारा नहीं है। ऐसा कहते हैं— “किञ्चन अपि अन्यद्द्रव्यं तत्त्वदृष्ट्या रागद्वेषोत्पादकं न वीक्ष्यते” [किञ्चन अपि अन्यद्द्रव्यं] आठ कर्मरूप अथवा शरीर मन वचन नोकर्मरूप अथवा बाह्य भोगसामग्री इत्यादिरूप है जितना परद्रव्य वह [तत्त्वदृष्ट्या] द्रव्यके स्वरूप को देखते हुए साँची दृष्टिसे [रागद्वेषोत्पादकं] अशुद्ध चेतनारूप है जो राग—द्वेषपरिणाम उनको उत्पन्न करनेमें समर्थ [न वीक्ष्यते] नहीं दिखलाई देता। कहे हुए अर्थको गाढ़ा—दृढ़ करते हैं— “यस्मात् सर्वद्रव्योत्पत्तिः स्वस्वभावेन अन्तश्चकास्ति” [यस्मात्] जिस कारणसे [सर्वद्रव्य] जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाशका [उत्पत्तिः] अखण्ड धारारूप परिणाम [स्वस्वभावेन] अपने अपने स्वरूपसे है [अन्तः चकास्ति] ऐसा ही अनुभवमें निश्चित होता है और ऐसे ही वस्तु सधती है, अन्यथा विपरीत है। कैसी है परिणति ? “अत्यन्तं व्यक्ता” अति हि प्रगट है ॥ २७-२१९ ॥

[मालिनी]

**यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः
कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो
भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥ २८-२२० ॥**

[रोला]

राग-द्वेष पैदा होते हैं इस आत्म में, उसमें परद्रव्यों का कोई दोष नहीं है।
यह अज्ञानी अपराधी है इनका कर्ता, यह अबोध हो नष्ट कि मैं तो स्वयं ज्ञानहूँ ॥ २२० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य संसारअवस्थामें राग द्वेष मोह अशुद्ध चेतनारूप परिणमता है सो वस्तुके स्वरूपका विचार करनेपर जीवका दोष है, पुद्गलद्रव्यका दोष कुछ नहीं है, कारण कि जीवद्रव्य अपने विभाव—मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ अपने अज्ञानपनेको लिए हुए राग द्वेष मोहरूप आप परिणमता है; जो कभी शुद्ध परिणतिरूप होकर शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप परिणवे, राग द्वेष मोहरूप न परिणवे तो पुद्गलद्रव्यका क्या चारा [इलाज] है। वही कहते हैं—“ **इह यत् रागद्वेषदोषप्रसूतिः भवति तत्र कतरत् अपि परेषां दूषणं नास्ति** ” [**इह**] अशुद्ध अवस्थामें [**यत्**] जो कुछ [**रागद्वेषदोषप्रसूतिः भवति**] रागादि अशुद्ध परिणति होती है [**तत्र**] उस अशुद्ध परिणतिके होनेमें [**कतरत् अपि**] अति ही थोड़ा भी [**परेषां दूषणं नास्ति**] जितनी ज्ञानावरणादि कर्मका उदय अथवा शरीर मन वचन अथवा पंचेन्द्रिय भोगसामग्री इत्यादि बहुत सामग्री है उसमें किसी का दूषण तो नहीं है। तो क्या है? “ **अयम् स्वयम् अपराधी तत्र अबोधः सर्पति** ” [**अयम्**] संसारी जीव [**स्वयम् अपराधी**] आप मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ शुद्ध स्वरूपके अनुभवसे भ्रष्ट है। कर्मके उदयसे हुआ है अशुद्ध भाव, उसको आपरूप जानता है [**तत्र**] इस प्रकार अज्ञानका अधिकार होनेपर [**अबोधः सर्पति**] राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणति होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव आप मिथ्यादृष्टि होता हुआ परद्रव्यको आप जानकर अनुभवे अथवा राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिका होना कौन रोके? इसलिए पुद्गलकर्मका कौन दोष? “ **विदितं भवतु** ” ऐसा ही विदित हो कि रागादि अशुद्ध परिणतिरूप जीव परिणमता है सो जीवका दोष है, पुद्गलद्रव्यका दोष नहीं। अब अगला विचार कुछ है कि नहीं है? उत्तर इस प्रकार है — अगला यह विचार है कि “ **अबोधः अस्तं यातु** ” [**अबोधः**] मोह—राग—द्वेषरूप है जो अशुद्ध परिणति उसका [**अस्तं यातु**] विनाश होओ। उसका विनाश होनेसे “ **बोधः अस्मि** ” मैं शुद्ध चिद्रूप अविनश्वर अनादिनिधन जैसा हूँ वैसा विद्यमान ही हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवद्रव्य शुद्धस्वरूप है। उसमें मोह—राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणति होती है। उस अशुद्ध परिणतिके मिटनेका उपाय यह कि सहज ही द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणवे तो अशुद्ध परिणति मिटे। और तो कोई करतूति—उपाय नहीं है। उस अशुद्ध परिणतिके मिटनेपर जीवद्रव्य जैसा है वैसा है, कुछ घट—बढ़ तो नहीं ॥ २८-२२० ॥

[रथोद्धता]

रागजन्मनि निमित्ततां पर-
द्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं
शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥ २९-२२१ ॥

[रोला]

अरे राग की उत्पत्ति में परद्रव्यों को,
एकमात्र कारण बतलाते जो अज्ञानी ।
शुद्धबोध से विरहित वे अंधे जन जग में,
अरे कभी भी मोह नदी से पार न होंगे ॥ २२१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- कहे हुए अर्थको गाढ़ा—दृढ़ करते हैं— “ते मोहवाहिनीं न हि उत्तरन्ति” [ते] ऐसी मिथ्यादृष्टि जीवराशि [मोहवाहिनीं] मोह—राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणति ऐसी जो शत्रुकी सेना उसको [न हि उत्तरन्ति] नहीं मेट सकती है। कैसे हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव ? “शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः” [शुद्ध] सकल उपाधिसे रहित जीव वस्तुके [बोध] प्रत्यक्षका अनुभवसे [विधुर] रहित होनेसे [अन्ध] सम्यक्त्वसे शून्य है [बुद्धयः] ज्ञानसर्वस्व जिनका, ऐसे हैं। उनका अपराध कौनसा ? उत्तर— अपराध ऐसा है; वही कहते हैं — “ये रागजन्मनि परद्रव्यं निमित्ततां एव कलयन्ति” [ये] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसे हैं — [रागजन्मनि] राग द्वेष मोह अशुद्ध परिणतिरूप परिणमनेवाले जीवद्रव्यके विषयमें [परद्रव्यं] आठ कर्म शरीर आदि नोकर्म तथा बाह्य भोगसामग्रीरूप [निमित्ततां कलयन्ति] पुद्गलद्रव्यका निमित्त पाकर जीव रागादि अशुद्धरूप परिणमता है ऐसी श्रद्धा करती है जो कोई जीवराशि वे मिथ्यादृष्टि हैं— अनन्त संसारी हैं, जिससे ऐसा विचार है कि संसारी जीवके रागादि अशुद्धरूप परिणमनशक्ति नहीं है, पुद्गलकर्म बलात्कारही परिणमाता है। जो ऐसा है तो पुद्गलकर्म तो सर्व काल विद्यमान ही है। जीवको शुद्ध परिणामका अवसर कौन ? अपि तु कोई अवसर नहीं ॥ २९—२२१ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधा न बोध्यादयं
 यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
 तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो
 रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥ ३०-२२२ ॥

[रोला]

जैसे दीपक दीप्य वस्तुओं से अप्रभावित,
 वैसे ही ज्ञायक ज्ञेयों से विकृत न हो।
 फिर भी अज्ञानी जन क्यों असहज होते हैं,
 न जाने क्यों व्याकुल हो विचलित होते हैं ॥२२२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसी आशंका करेगा कि जीवद्रव्य ज्ञायक है, समस्त ज्ञेयको जानता है, इसलिए परद्रव्यको जानते हुए कुछ थोड़ा-बहुत रागादि अशुद्ध परिणतिका विकार होता होगा? उत्तर इस प्रकार है कि परद्रव्यको जानते हुए तो एक निरंशमात्र भी नहीं है, अपनी विभावपरिणति करनेसे विकार है। अपनी शुद्ध परिणति होनेपर निर्विकार है। ऐसा कहते हैं—“एते अज्ञानिनः किं रागद्वेषमयीभवन्ति, सहजां उदासीनतां किं मुञ्चन्ति” [एते अज्ञानिनः] विद्यमान है जो मिथ्यादृष्टि जीव वे [किं रागद्वेषमयीभवन्ति] राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिमें मग्न ऐसे क्यों होते हैं? तथा [सहजां उदासीनतां किं मुञ्चन्ति] सहज ही है सकल परद्रव्यसे भिन्नपना ऐसी प्रतीति को क्यों छोड़ते हैं? भावार्थ इस प्रकार है कि वस्तुका स्वरूप तो प्रगट है, विचलित होते हैं सो पूरा अचम्भा है। कैसे हैं अज्ञानी जीव? “तद्वस्तुस्थितिबोधवन्ध्यधिषणाः” [तद्वस्तु] शुद्ध जीवद्रव्यकी [स्थिति] स्वभावकी मर्यादाके [बोध] अनुभवसे [वन्ध्य] शून्य है [धिषणाः] बुद्धि जिनकी, ऐसे हैं। जिस कारणसे “अयं बोधा” विद्यमान है जो चेतनामात्र जीव द्रव्य वह “बोध्यात्” समस्त ज्ञेयको जानता है, इस कारण “कामपि विक्रियां न यायात्” राग—द्वेष—मोहरूप किसी विक्रियारूप नहीं परिणमता है। कैसा है जीवद्रव्य? “पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा” [पूर्ण] नहीं है खण्ड जिसका, [एक] समस्त विकल्पसे रहित [अच्युत] अनन्त काल पर्यन्त स्वरूपसे नहीं चलायमान [शुद्ध] द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे रहित ऐसा जो [बोध] ज्ञानगुण वही है [महिमा] सर्वस्व जिसका, ऐसा है। दृष्टान्त कहते हैं—“ततः इतः प्रकाश्यात् दीपः इव” [ततः इतः] बाएँ—दाहिने, ऊपर—तले, आगे—पीछे [प्रकाश्यात्] दीपकके प्रकाशसे देखते हैं घड़ा कपड़ा इत्यादि उस कारण [दीपः इव] जिस प्रकार दीपकमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार दीपक प्रकाशस्वरूप है, घट—पटादि अनेक वस्तुओंको प्रकाशता है। प्रकाशते हुए जो अपना प्रकाशमात्र स्वरूप था वैसा ही है, विकार तो कुछदेखा नहीं जाता। उसी प्रकार जीवद्रव्य ज्ञानस्वरूप है, समस्त ज्ञेयको जानता है। जानते हुए जो अपना

ज्ञानमात्र स्वरूप था वैसा ही है। ज्ञेयको जानते हुए विकार कुछ नहीं है ऐसा वस्तुका स्वरूप जिनको नहीं भासित होता वे मिथ्यादृष्टि हैं॥ ३०—२२२॥

[शार्दूलविक्रीडित]

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चिदचिर्चर्मयीं
विन्दन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य सञ्चेतनाम् ॥ ३१—२२३ ॥

[रोला]

राग-द्वेष से रहित भूत-भावी कर्मों से मुक्त,
स्वयं को वे नित ही अनुभव करते हैं।
और स्वयं में रत रह ज्ञानमयी चेतनता,
को धारण करनिज में नित्य मगन रहते हैं॥२२३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “नित्यं स्वभावस्पृशः ज्ञानस्य सञ्चेतनां विन्दन्ति” [नित्यं स्वभावस्पृशः] निरन्तर शुद्ध स्वरूपका अनुभव है जिन्हें ऐसे हैं जो सम्यग्दृष्टि जीव, वे [ज्ञानस्य सञ्चेतनां] राग-द्वेष-मोहसे रहित शुद्ध ज्ञानमात्र वस्तुको [विन्दन्ति] प्राप्त करते हैं—आस्वादते हैं। कैसी है ज्ञानचेतना? “स्वरसाभिषिक्तभुवनां” अपने आत्मीक रससे जगतको मानो सिञ्चन करती है। और कैसी है? “चञ्चिदचिर्चर्मयीं” [चञ्चत्] सकल ज्ञेयको जाननेमें समर्थ ऐसा जो [चिदचिः] चैतन्यप्रकाश, ऐसा है [मयीं] सर्वस्व जिसका, ऐसी है। ऐसी चेतनाका जो कारण है उसे कहते हैं—“दूरारूढचरित्रवैभवबलात्” [दूर] अति गाढ़-दृढ़ [आरूढ] प्रगट हुआ जो [चरित्र] राग द्वेष अशुद्ध परिणतिसे रहित जीवका जो चारित्रगुण, उसके [वैभव] प्रतापकी [बलात्] सामर्थ्यसे। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध चारित्र तथा शुद्ध ज्ञानचेतनाको एकवस्तुपना है। कैसे हैं सम्यग्दृष्टि जीव? “रागद्वेषविभावमुक्तमहसः” [रागद्वेष] जितनी अशुद्ध परिणति है उसरूप जो [विभाव] जीवका विकारभाव, उससे [मुक्त] रहित हुआ है [महसः] शुद्ध ज्ञान जिनका, ऐसे हैं। और कैसे हैं? “पूर्वागामिसमस्तकर्मविकलाः” [पूर्व] जितना अतीत काल [आगामि] जितना अनागत काल तत्सम्बन्धी [समस्त] नाना प्रकार असंख्यात लोकमात्र [कर्म] रागादिरूप अथवा सुख-दुःखरूप अशुद्धचेतना विकल्प, उनसे [विकलाः] सर्वथा रहित हैं। और कैसे हैं? “तदात्वोदयात् भिन्नाः” [तदात्वोदयात्] वर्तमान कालमें आये हुए उदयसे हुई है जो शरीर-सुख-दुःखरूप विषय भोगसामग्री इत्यादि, उससे [भिन्नाः] परम उदासीन हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई सम्यग्दृष्टि जीव त्रिकालसम्बन्धी कर्मकी उदयसामग्रीसे विरक्त होकर शुद्ध चेतनाको प्राप्त करते हैं — आस्वादते हैं। ३१—२२३॥

[उपजाति]

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं
प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन्
बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥ ३२-२२४ ॥

[रोला]

ज्ञान चेतना शुद्ध ज्ञान को करे प्रकाशित ,
शुद्ध ज्ञान को रोके नित अज्ञान चेतना ।
और बन्ध की कर्ता यह अज्ञान चेतना ,
यही जान चेतो आतम नित ज्ञान चेतना ॥ २२४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ज्ञानचेतनाका फल तथा अज्ञानचेतनाका फल कहते हैं: “नित्यं” निरन्तर “ज्ञानस्य सञ्चेतनया” राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिके बिना शुद्ध जीवस्वरूपके अनुभवरूप जो ज्ञानपरिणति उसके द्वारा “अतीव शुद्धम् ज्ञानम् प्रकाशते एव” [अतीव शुद्धम् ज्ञानम्] सर्वथा निरावरण केवलज्ञान [प्रकाशते] प्रगट होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि कारण सदृश कार्य होता है, इसलिए शुद्ध ज्ञानका अनुभव करनेपर शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति होती है ऐसा घटित होता है, [एव] ऐसा ही है निश्चयसे। “तु” तथा “अज्ञानसञ्चेतनया बन्धः धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि” [अज्ञानसञ्चेतनया] राग—द्वेष—मोहरूप तथा सुख—दुःखादिरूप जीवकी अशुद्ध परिणति के द्वारा [बन्धः धावन्] ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध अवश्य होता हुआ [बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि] केवलज्ञानकी शुद्धताको रोकता है। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानचेतना मोक्षका मार्ग, अज्ञानचेतना संसारका मार्ग ॥ ३२-२२४ ॥

[आर्या]

कृतकारितानुमनैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥ ३३-२२५ ॥

[रोला]

भूत भविष्यत वर्तमान के सभी कर्म कृत ,
कारित अर अनुमोदनादि में सभी ओर से ।
सबका कर परित्याग हृदय से वचन-काय से ,
अवलम्बन लेता हूँ परम निष्कर्मभाव से ॥ २२५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- कर्मचेतनारूप तथा कर्मफलचेतनारूप है जो अशुद्ध परिणति उसे मिटानेका अभ्यास करता है — “परमं नैष्कर्म्यम् अवलम्बे” मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप जीव हूँ। सकल कर्मकी उपाधिसे रहित ऐसा मेरा स्वरूप मुझे स्वानुभव प्रत्यक्षसे आस्वादमें आता है। क्या विचार कर? “सर्वं कर्म परिहृत्य” जितना द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्म है उन समस्तका स्वामित्व छोड़कर। अशुद्ध परिणतिका विवरण—

“त्रिकाल विषयं” एक अशुद्ध परिणति अतीत कालके विकल्परूप है जो मैं ऐसा किया ऐसा भोगा इत्यादिरूप है। एक अशुद्ध परिणति आगामी कालके विषयरूप है जो ऐसा करूँगा ऐसा करनेसे ऐसा होगा इत्यादिरूप है। एक अशुद्ध परिणति वर्तमान विषयरूप है जो ‘मैं देव, मैं राजा, मेरी ऐसी सामग्री, मुझे ऐसा सुख अथवा दुःख’ इत्यादिरूप है। एक ऐसा भी विकल्प है कि “कृतिकारितानुमनैः” [कृत] जो कुछ आपकी है हिंसादि क्रिया [कारित] जो अन्य जीवको उपदेश देकर करवाई हो [अनुमनैः] जो किसीने सहज ही की हुई क्रियासे सुख मानना। तथा एक ऐसा भी विकल्प है जो “मनोवचनकायैः” मनसे चिन्तन करना, वचनसे बोलना, शरीरसे प्रत्यक्ष करना। ऐसे विकल्पोंको परस्पर फैलानेपर उनचास भेद होते हैं, वे समस्त जीवका स्वरूप नहीं है, पुद्गलकर्मके उदयसे होते हैं।। ३३-२२५।।

भूतकालका विचार इस प्रकार करता है —

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा न वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति।*

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तत् दुष्कृतं मे मिथ्या भवतु” [तत् दुष्कृतम्] राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्ध परिणति अथवा ज्ञानावरणादि कर्मपिण्ड [मे मिथ्या भवतु] स्वरूपसे भ्रष्ट होते हुए मैंने आपस्वरूप अनुभवा सो अज्ञानपना हुआ। सांप्रत [अब] ऐसा अज्ञानपना जाओ। ‘मैं शुद्धस्वरूप’ ऐसा अनुभव होओ। पापके बहुत भेद हैं, उन्हें कहते हैं—“यत् अहम् अकार्षं” [यत्] जो पाप [अहम् अकार्षं] मैंने किया है। “यत् अहम् अचीकरं” जो पाप अन्यको उपदेश देकर कराया है। तथा “अन्यं कुर्वन्तम् अपि समन्वज्ञासिषं” सहज ही किया है अन्य किसीने, उसमें मैंने सुख माना होवे “मनसा” मनसे, “वाचा” वचनसे, “कायेन” शरीरसे। यह सब जीवका स्वरूप नहीं है। इसलिए मैं तो स्वामी नहीं हूँ। इसका स्वामी तो पुद्गलकर्म है। ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अनुभवता है।

[आर्या]

**मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।। ३४-२२६ ।।**

[रोला]

मोहभाव से भूतकाल में कर्म किये जो,
उन सबका ही प्रतिक्रमण करके अब मैं तो।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्यपरम निष्कर्म आत्म में ।। २२६ ।।

* श्री समयसारकी आत्मख्याति-टीकाका यह भाग गद्यरूप है, पद्यरूप अर्थात् कलशरूप नहीं है, इसलिए इसको पद्यांक नहीं दिया गया है।

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘अहम् आत्मना आत्मनि वर्ते’’ [अहम्] चेतनामात्र स्वरूप हूँ जो मैं वस्तु वह मैं [आत्मना] अपनेपनेसे [आत्मनि वर्ते] रागादि अशुद्ध परिणति त्यागकर अपने शुद्ध स्वरूपमें अनुभवरूप प्रवर्तता हूँ। कैसा है आत्मा अर्थात् आप? ‘‘नित्यम् चैतन्यात्मनि’’ [नित्यम्] सर्व काल [चैतन्यात्मनि] ज्ञानमात्र स्वरूप है। और कैसा है? ‘‘निष्कर्मणि’’ समस्त कर्मकी उपाधिसे रहित है। क्या करता हुआ ऐसे प्रवर्तता हूँ? ‘‘तत् समस्तं कर्म प्रतिक्रम्य’’ पहले किया है जो कुछ अशुद्धपनारूप कर्म उसका त्यागकर। कौन कर्म? ‘‘यत् अहम् अकार्षं’’ जो आप किया है। किस कारणसे? ‘‘मोहात्’’ शुद्ध स्वरूपसे भ्रष्ट होकर कर्मके उदयमें आत्मबुद्धि होनेसे॥ ३४—२२६॥

वर्तमान कालकी आलोचना इस प्रकार है—

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।*

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘न करोमि’’ वर्तमान कालमें होता है जो राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणति अथवा ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्मबन्ध, उसको मैं नहीं करता हूँ। भावार्थ इस प्रकार है — मेरा स्वामित्वपना नहीं है ऐसा अनुभवता है सम्यग्दृष्टि जीव। ‘‘न कारयामि’’ अन्यको उपदेश देकर नहीं करवाता हूँ। ‘‘अन्यं कुर्वन्तम् अपि न समनुजानामि’’ अपनेसे सहज अशुद्धपनारूप परिणमता है जो कोई जीव उसमें मैं सुख नहीं मानता हूँ [मनसा] मनसे [वाचा] वचनसे [कायेन] शरीरसे। सर्वथा वर्तमान कर्मका मेरे त्याग है।

[आर्या]

**मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३५-२२७॥**

[रोला]

मोह भाव से वर्तमान में कर्म किये जो,
उन सबका आलोचन करके ही अब मैं तो।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥२२७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘अहं आत्मना आत्मनि नित्यम् वर्ते’’ [अहं] मैं [आत्मना] परद्रव्यकी सहाय बिना अपनी सहायसे [आत्मनि] अपनेमें [वर्ते] सर्वथा उपादेय बुद्धिसे प्रवर्तता हूँ। क्या करके? ‘‘इदम् सकलम् कर्म उदयत् आलोच्य’’ [इदम्] वर्तमानमें उपस्थित [सकलम् कर्म] जितना अशुद्धपना अथवा ज्ञानावरणादि कर्मपिण्डरूप पुद्गल जो कि [उदयत्] वर्तमान कालमें उदयरूप है उसका

[आलोच्य] शुद्ध जीवका स्वरूप नहीं है' ऐसा विचार करते हुए स्वामित्वपना छोड़कर। कैसा है कर्म? “मोहविलासविजृम्भितम्” [मोह] मिथ्यात्वके [विलास] प्रभुत्वपनेके कारण [विजृम्भितम्] फैला हुआ है। कैसा हूँ मैं आत्मा? “चैतन्यात्मनि” शुद्ध चेतनामात्र स्वरूप हूँ। और कैसा हूँ? “निष्कर्मणि” समस्त कर्मकी उपाधिसे रहित हूँ॥ ३५-२२७॥

भविष्यके कर्मका प्रत्याख्यान करता है—

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति।*

खंडान्वय सहित अर्थ:- “न करिष्यामि” आगामी कालमें रागादि अशुद्ध परिणामोंको नहीं करूँगा, “न कारयिष्यामि” न कराऊँगा, “अन्यं कुर्वन्तम् न समनुज्ञास्यामि” [अन्यं कुर्वन्तम्] सहज ही अशुद्ध परिणतिको करता है जो कोई जीव उसको [न समनुज्ञास्यामि] अनुमोदन नहीं करूँगा “मनसा” मनसे “वाचा” वचनसे “कायेन” शरीरसे।

[आर्या]

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसम्मोहः।

आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते॥ ३६-२२८॥

[रोला]

नष्ट होगया मोहभाव जिसका ऐसा मैं,
करके प्रत्याख्यान भाविकर्मोंका अब तो।
वर्त रहा हूँ अरे निरन्तर स्वयं स्वयं के,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में॥२२८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “निरस्तसम्मोहः आत्मना आत्मनि नित्यम् वर्ते” [निरस्त] गई है [सम्मोहः] मिथ्यात्वरूप अशुद्ध परिणति जिसकी ऐसा हूँ जो मैं सो [आत्मना] अपने ज्ञानके बलसे [आत्मनि] अपने स्वरूपमें [नित्यम् वर्ते] निरन्तर अनुभवरूप प्रवर्तता हूँ। कैसा है आत्मा अर्थात् आप? “चैतन्यात्मनि” शुद्ध चेतनामात्र है। और कैसा है? “निष्कर्मणि” समस्त कर्मकी उपाधिसे रहित है। क्या करके आत्मामें प्रवर्तता हूँ? “भविष्यत् समस्तं कर्म प्रत्याख्याय” [भविष्यत्] आगामी काल सम्बन्धी [समस्तं कर्म] जितने रागादि अशुद्ध विकल्प हैं वे [प्रत्याख्याय] शुद्ध स्वरूपसे अन्य हैं ऐसा जानकर अंगीकाररूप स्वामित्वको छोड़कर॥ ३६-२२८॥

[उपजाति]

समस्तमित्येवमपास्य कर्म
त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं विकारै-
श्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ ३७-२२९ ॥

[रोला]

तीन काल के सब कर्मों को छोड़ इसतरह ,
परमशुद्धनिश्चयनय का अवलम्बन लेकर ।
निर्मोही हो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २२९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अथ विलीनमोहः चिन्मात्रम् आत्मानम् अवलम्बे” [अथ] अशुद्ध परिणतिके मिटनेके उपरान्त [विलीनमोहः] मुलेसे ही मिटा है मिथ्यात्वपरिणाम जिसका ऐसा मैं [चिन्मात्रम् आत्मानम् अवलम्बे] ज्ञानस्वरूप जीव वस्तुको निरन्तर आस्वादता हूँ। कैसा आस्वादता हूँ? “विकारैः रहितं” जो राग—द्वेष—मोहरूप अशुद्ध परिणतिसे रहित है। ऐसा कैसा हूँ मैं? “शुद्धनयावलम्बी” [शुद्धनय] शुद्ध जीव वस्तुका [अवलम्बी] आलम्बन ले रहा हूँ, ऐसा हूँ। क्या करता हुआ ऐसा हूँ? “इत्येवम् समस्तम् कर्म अपास्य” [इति एवम्] पूर्वोक्त प्रकारसे [समस्तम् कर्म] जितने हैं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म रागादि भावकर्म उन्हें [अपास्य] जीवसे भिन्न जानकर—स्वीकारको त्यागकर। कैसा है रागादि कर्म? “त्रैकालिकं” अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी है ॥ ३७—२२९ ॥

[आर्या]

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सञ्चेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥ ३८-२३० ॥

[रोला]

कर्म वृक्षके विषफल मेरे बिन भोगे ही ,
खिर जायें बस यही भावना भाता हूँ मैं ।
क्योंकि मैं तो वर्त रहा हूँ स्वयं स्वयं के ,
शुद्ध बुद्ध चैतन्य परम निष्कर्म आत्म में ॥ २३० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अहम् आत्मानं सञ्चेतये” मैं शुद्ध चिद्रूपको—अपनेको आस्वादता हूँ। कैसा है आत्मा अर्थात् आप? “चैतन्यात्मानम्” ज्ञानस्वरूपमात्र है। और कैसा है? “अचलं” अपने स्वरूपसे स्थूलित नहीं है। अनुभवका फल कहते हैं—“कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेण एव विगलन्तु” [कर्म] ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्डरूप [विषतरु] विषका वृक्ष—क्योंकि चैतन्य प्राणका घातक है—उसके [फलानि] फल अर्थात् उदयकी सामग्री [मम भुक्तिम् अन्तरेण एव] मेरे भोगे बिना ही [विगलन्तु] मूलसे सत्ता सहित नाश होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि कर्मका उदयहै सुख अथवा दुःख, उसका नाम है कर्मफलचेतना, उससे भिन्न स्वरूप आत्मा ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव अनुभव करता है ॥ ३८—२३० ॥

[वसन्ततिलका]

निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्मैवं
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भवतो भृशमात्मतत्त्वं
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥ ३९-२३१ ॥

[रोला]

सब कर्मों के फल से सन्यासी होने से,
आतम के अतिरिक्त प्रवृत्ति से निवृत्त हो।
चिदलक्षण आतम को अतिशय भोग रहा हूँ,
यह प्रवृत्ति ही बनी रहे बस अमित इस काल तक ॥ २३१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “मम एवं अनन्ता कालावली वहतु” [मम] मुझे [एवं] कर्मचेतना कर्मफलचेतनासे रहित होकर शुद्ध ज्ञानचेतना सहित बिराजमानपनेसे [अनन्ता कालावली वहतु] अनन्त काल यों ही पूरा होओ। भावार्थ इस प्रकार है कि कर्मचेतना कर्मफलचेतना हेय, ज्ञानचेतना उपादेय। कैसा हूँ मैं? “सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः” [सर्व] अनन्त ऐसी [क्रियान्तर] शुद्ध ज्ञानचेतनासे अन्य-कर्मके उदय अशुद्ध परिणति, उसमें [विहार] विभावरूप परिणमता है जीव, उससे [निवृत्त] रहित ऐसी है [वृत्तेः] ज्ञानचेतनामात्र प्रवृत्ति जिसकी, ऐसा हूँ। किस कारणसे ऐसा हूँ? “निःशेषकर्मफलसंन्यसनात्” [निःशेष] समस्त [कर्म] ज्ञानावरणादिके [फल] संसार सम्बन्धी सुख-दुःखके [संन्यसनात्] स्वामित्वपनेके त्यागके कारण। और कैसा हूँ? “भृशम् आत्मतत्त्वं भजत” [भृशम्] निरन्तर [आत्मतत्त्वं] शुद्ध चैतन्यवस्तुका [भजतः] अनुभव है जिसको, ऐसा हूँ। कैसा है आत्मतत्त्व? “चैतन्यलक्ष्म” शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। और कैसा है? “अचलस्य” आगामी अनन्त कालतक स्वरूपसे अमिट [अटल] है ॥ ३९-२३१ ॥

[वसन्ततिलका]

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदकर्म्यं
निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥ ४०-२३२ ॥

[वसन्ततिलका]

रे पूर्वभावकृत कर्मजहरतरु के, अज्ञानमय फल नहीं जो भोगते ।
अर तृप्त स्वयं में चिरकाल तकवे, निष्कर्म सुखमय दशा को भोगते ॥ २३२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यः खलु पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां फलानि न भुङ्क्ते” [यः] जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव [खलु] सम्यक्त्व उत्पन्न हुए बिना [पूर्वभाव] मिथ्यात्वभावके द्वारा [कृत] उपार्जित [कर्म] ज्ञानावरणादि पुद्गलपिण्डरूपी [विषद्रुम] चैतन्य प्राणघातक विषवृक्षके [फलानि] संसार सम्बन्धी सुख-दुःखको [न भुङ्क्ते] नहीं भोगता है।

भावार्थ इस प्रकार है कि सुख—दुःखका ज्ञायकमात्र है, परन्तु परद्रव्यरूप जानकर रंजक नहीं है। कैसा है सम्यग्दृष्टि जीव? “स्वतः एव तृप्तः” शुद्ध स्वरूपके अनुभवनेपर होता है अतीन्द्रिय सुख, उससे तृप्त अर्थात् समाधानरूप है। “सः दशान्तरं एति” [सः] वह सम्यग्दृष्टि जीव [दशान्तरं] निष्कर्म अवस्थारूप निर्वाणपदको [एति] प्राप्त करता है। कैसी है दशान्तर? “आपातकालरमणीयम्” वर्तमान कालमें अनन्त सुखरूप बिराजमान है। “उदर्करम्यं” आगामी अनन्त काल तक सुखरूप है। और कैसी है अवस्थान्तर? “निष्कर्मशर्ममयम्” सकल कर्मका विनाश होनेपर प्रगट होता है जो द्रव्यका सहजभूत अतीन्द्रिय अनन्त सुख, उसमय है—उससे एक सत्तारूप है॥ ४०—२३२॥

[स्रग्धरा]

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसञ्चेतनायाः।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु॥ ४१—२३३॥

[वसन्ततिलका]

रे कर्म फल से सन्यास लेकर।
सद्ज्ञान चेतना को निज में नचाओ॥
प्याला पिओ नित प्रशमरस का निरन्तर,
सुख में रहो अभी से चिरकाल तक तुम॥२३३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इतः प्रशमरसम् सर्वकालं पिबन्तु” [इतः] यहाँसे लेकर [सर्वकालं] आगामी अनन्त काल पर्यन्त [प्रशमरसम् पिबन्तु] अतीन्द्रिय सुखको आस्वादो। वे कौन? “स्वां ज्ञानसञ्चेतनां सानन्दं नाटयन्तः” [स्वां] आपसम्बन्धी है जो [ज्ञानसञ्चेतनां] शुद्ध ज्ञानमात्र परिणति, उसको [सानन्दं नाटयन्तः] आनन्द सहित नचाते हैं अर्थात् अतीन्द्रिय सुख सहित ज्ञानचेतनारूप परिणमते हैं, ऐसे हैं जो जीव। क्या करके? “स्वभावं पूर्णं कृत्वा” [स्वभावं] केवलज्ञान उसको [पूर्णं कृत्वा] आवरण सहित था सो निरावरण किया। कैसा है स्वभाव? “स्वरसपरिगतं” चेतनारसका निधान है। और क्या करके? “कर्मणः च तत्फलात् अत्यन्तं विरतिम् भावयित्वा” [कर्मणः] ज्ञानावरणादि कर्मसे [च] और [तत्फलात्] कर्मके फल सुख—

दुःखसे [अत्यन्तं] अतिशयरूपसे [विरतिम्] शुद्ध स्वरूपसे भिन्न है ऐसा अनुभव होनेपर स्वामित्वपनेके त्यागको [भावयित्वा] भाकर अर्थात् ऐसा सर्वथा निश्चय करके “अविरतं” जिस प्रकार एक समयमात्र खण्ड न होवे उस प्रकार सर्व काल। और क्या करके? “अखिलाज्ञानसञ्चेतनायाःप्रलयनम् प्रस्पष्टं नाटयित्वा” सर्व मोह—राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणतिका भले प्रकार विनाश करके। भावार्थ इस प्रकार है कि मोह—राग—द्वेष परिणति विनशती है, शुद्ध ज्ञानचेतना प्रगट होती है, अतीन्द्रिय सुखरूप जीव परिणमता है। इतना कार्य जब होता है तब एक ही साथ होता है॥ ४१—२३३॥

[वंशस्थ]

**इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद्-
विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत्।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयाद्-
विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते॥ ४२—२३४॥**

[दोहा]

**अपने में ही मगन है अचल अनाकुल ज्ञान ।
यद्यपि जाने ज्ञेय को तदपि भिन्न ही जान॥२३४॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इतः इह ज्ञानम् अवतिष्ठते” [इतः] अज्ञान—चेतनाके विनाश होनेके उपरान्त [इह] आगामी सर्वकाल [ज्ञानम्] शुद्ध ज्ञानमात्र जीववस्तु [अवतिष्ठते] बिराजमान प्रवर्तती है। कैसा है ज्ञान [ज्ञानमात्र जीववस्तु]? “विवेचितं” सर्वकाल समस्त परद्रव्यसे भिन्न है। किस कारणसे ऐसा जाना? “समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात्” [समस्तवस्तु] जितनी परद्रव्यकी उपाधि है उससे [व्यतिरेक] सर्वथा भिन्नरूप ऐसी है [निश्चयात्] अवश्य द्रव्यकी शक्ति उसके कारण। कैसा है ज्ञान? “एकम्” समस्त भेद विकल्पसे रहित है। और कैसा है? “अनाकुलं” अनाकुलत्वलक्षण है अतीन्द्रिय सुख उससे बिराजमान है। और कैसा है? “ज्वलत्” सर्वकाल प्रकाशमान है। ऐसा क्यों है? “पदार्थप्रथनावगुण्ठनात् विना” [पदार्थ] जितने विषय उनका [प्रथना] विस्तार—पाँच वर्ण, पाँचरस, दो गंध, आठ स्पर्श, शरीर मन वचन, सुख—दुःख इत्यादि—उसका [अवगुण्ठनात्] मालारूप गूँथना, उससे [विना] रहित है अर्थात् सर्व मालासे भिन्न है जीववस्तु। कैसी है विषयमाला? “कृतेः” पुद्गलद्रव्यकी पर्यायरूप है॥ ४२—२३४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथाऽस्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥ ४३-२३५ ॥

[हरिगीत]

है अन्य द्रव्यों से पृथक् विरहित ग्रहण अर त्यागसे ।
यह ज्ञाननिधि निजमें नियत वस्तुत्व को धारण किये ॥
है आदि-अन्त विभाग विरहित स्फुरित आनन्दघन ।
हो सहज महिमाप्रभाभास्वर शुद्ध अनुपम ज्ञानघन ॥ २३५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ एतत् ज्ञानं तथा अवस्थितं यथा अस्य महिमा नित्योदितः तिष्ठति ’’
[एतत् ज्ञानम्] शुद्ध ज्ञान [तथा अवस्थितम्] उस प्रकार प्रगट हुआ [यथा अस्य महिमा] जिस
प्रकार शुद्ध ज्ञानका प्रकाश [नित्योदितः तिष्ठति] आगामी अनन्त काल पर्यन्त अविनश्वर जैसा है
वैसा ही रहेगा । कैसा है ज्ञान ? ‘‘ अमलं ’’ ज्ञानावरण कर्ममलसे रहित है । और कैसा है ज्ञान ?
‘‘ आदानोज्झनशून्यम् ’’ [आदान] परद्रव्यका ग्रहण [उज्झन] स्वस्वरूपका त्याग उनसे [शून्यम्]
रहित है । और कैसा है ज्ञान ? ‘‘ पृथक् वस्तुताम् बिभ्रत् ’’ सकल परद्रव्यसे भिन्न सत्तारूप है । और
कैसा है ? ‘‘ अन्येभ्यः व्यतिरिक्तम् ’’ कर्मके उदयसे हैं जितने भाव उनसे भिन्न है । और कैसा है ?
‘‘ आत्मनियतं ’’ अपने स्वरूपसे अमिट है । कैसी है ज्ञानकी महिमा ?
‘‘ मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः ’’ [मध्य] वर्तमान [आदि] पहला [अन्त] आगामी
ऐसे [विभाग] भेदसे [मुक्त] रहित [सहज] स्वभावरूप [स्फारप्रभा] अनन्त ज्ञानशक्तिसे
[भासुरः] साक्षात् प्रकाशमान है । और कैसा है ? ‘‘ शुद्धज्ञानघनः ’’ चेतनाका समूह है ॥ ४३-
२३५ ॥

[उपजाति]

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्
तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहतसर्वशक्तेः
पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥ ४४-२३६ ॥

[हरिगीत]

जिनने समेटा स्वयं ही सब शक्तियों को स्वयंमें ।
सब ओरसे धारण किया हो स्वयं को ही स्वयंमें ।
मानो उन्हीं ने त्यागने के योग्य जो वह तज दिया ।
अर जो ग्रहणके योग्य वह सब भी उन्हींने पा लिया ॥ २३६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “यत् आत्मनः इह आत्मनि सन्धारणम्” [यत्] जो [आत्मनः] अपने जीवका [इह आत्मनि] अपने स्वरूपमें [सन्धारणम्] स्थिर होना है “तत्” एतावन्मात्र समस्त, “उन्मोच्यम् उन्मुक्तम्” जितना हेयरूपसे छोड़ना था सो छूटा। “अशेषतः” कुछ छोड़नेके लिए बाकी नहीं रहा। “तथा तत् आदेयम् अशेषतः आत्तम्” [तथा] उसी प्रकार [तत् आदेयम्] जो कुछ ग्रहण करने के लिए था [अशेषतः आत्तम्] सो समस्त ग्रहण किया। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव सर्व कार्यसिद्धि। कैसा है आत्मा? “संहृतसर्वशक्तेः” [संहृत] विभावरूप परिणमे थे वे ही हुए हैं स्वभावरूप ऐसे हैं [सर्वशक्तेः] अनन्त गुण जिसके, ऐसा है। और कैसा है? “पूर्णस्य” जैसा था वैसा प्रगट हुआ।। ४४-२३६।।

[अनुष्टुप]

व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम्।

कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते।। ४५-२३७।।*

[सोरठा]

ज्ञान स्वभावी जीव, परद्रव्यों से भिन्न ही।

कैसे कहे सदेह जब आहारक ही नहीं।।२३७।।

श्लोकार्थ:- “एवं” इस प्रकार [पूर्वोक्त रीतिसे] “ज्ञानम् परद्रव्यात् व्यतिरिक्तं अवस्थितम्” ज्ञान पर द्रव्यसे प्रथक अवस्थित [—निश्चल रहा हुआ] है; “तत्” वह [ज्ञान] “आहारकं” आहारक [अर्थात् कर्म—नोकर्मरूप आहार करनेवाला] “कथम् स्यात्” कैसे हो सकता है “येन” कि जिससे “अस्य देहः शङ्क्यते” उसके देहकी शंका की जा सके? [ज्ञानके देह हो ही नहीं सकता, क्योंकि उसके कर्म—नोकर्मरूप आहार ही नहीं है]।। ४५-२३७।।

[अनुष्टुप]

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते।

ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम्।। ४६-२३८।।

[सोरठा]

शुद्धज्ञानमय जीव, के जब देह नहीं कही।

तब फिर यह द्रव्य लिंग, शिवमग कैसे हो सके।।२३८।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ततः देहमयं लिङ्गं ज्ञातुः मोक्षकारणम् न” [ततः] तिस कारणसे [देहमयं लिङ्गं] द्रव्यक्रियारूप यतिपना अथवा गृहस्थपना [ज्ञातुः] जीवके [मोक्षकारणम् न] सकल कर्मक्षयलक्षण मोक्षका कारण तो नहीं है।

* पं. श्री राजमलजी कृत टीकामें यह श्लोक छूट गया है। अतः उक्त श्लोक अर्थ सहित, हिन्दी समयसार के आधार से यहाँ दिया गया है।

किस कारणसे? कारण कि “ एवं शुद्धस्य ज्ञानस्य ” पूर्वोक्त प्रकारसे साधा है जो शुद्धस्वरूप जीव उसके “ देहः एव न विद्यते ” शरीर ही नहीं है अर्थात् शरीर है वह भी जीवका स्वरूप नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यक्रियाको मोक्षका कारण मानता है उसे समझाया है ॥ ४६—२३८ ॥

[अनुष्टुप]

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः।

एक एव सदा सेव्या मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४७—२३९ ॥

[दोहा]

मोक्षमार्ग बस एक ही रत्नत्रयमय होय ।

अतः मुमुक्षु के लिए वह ही सेवन योग्य ॥ २३९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ मुमुक्षुणा एकः एव मोक्षमार्गः सदा सेव्यः ” [मुमुक्षुणा] मोक्षको उपादेय अनुभवता है ऐसा जो पुरुष, उसके द्वारा [एकः एव] शुद्धस्वरूपका अनुभव [मोक्षमार्गः] सकल कर्मोंके विनाशका कारण है ऐसा जानकर [सदा सेव्यः] निरन्तर अनुभव करने योग्य है। वह मोक्षमार्ग क्या है? “ आत्मनः तत्त्वम् ” शुद्ध जीवका स्वरूप है। और कैसा है आत्मतत्त्व? “ दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा ” सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र उन तीन स्वरूपकी एक सत्ता है आत्मा [सर्वस्व] जिसका, ऐसा है ॥ ४७—२३९ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।**

**तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥ ४८—२४० ॥**

[हरिगीत]

दृग्ज्ञानमय वृत्त्यात्मक यह एक ही है मोक्षपथ ।

थित रहें अनुभव करें अर ध्यावें अहिर्निश जो पुरुष ।

जो अन्य को न छुयें अर निज में विहार करें सतत ।

वे पुरुष ही अतिशिघ्र ही समैसार को पावें उदित ॥ २४० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सः नित्योदयं समयस्य सारम् अचिरात् अवश्यं विन्दति ” [सः] ऐसा है जो सम्यग्दृष्टि जीव वह [नित्योदयं] नित्य उदयरूप [समयस्य सारम्] सकल कर्मका विनाश कर प्रगट हुआ है जो शुद्ध चैतन्यमात्र उसको [अचिरात्] अति ही थोड़े कालमें [अवश्यं विन्दति] सर्वथा आस्वादता है। भावार्थ इस प्रकार है कि निर्वाणपदको प्राप्त होता है। कैसा है? “ यः तत्र एव स्थितिम् एति ” [यः] जो सम्यग्दृष्टि जीव [तत्र] शुद्ध चैतन्यमात्र वस्तुमें [एव] एकाग्र होकर

[स्थितिम् एति] स्थिरता करता है, “ च तं अनिशं ध्यायेत् ” [च] तथा [तं] शुद्ध चिद्रूपको [अनिशं ध्यायेत्] निरन्तर अनुभवता है, “ च तं चेतति ” [तं चेतति] बार बार उस शुद्धस्वरूपका स्मरण करता है [च] और “ तस्मिन् एव निरन्तरं विहरति ” [तस्मिन्] शुद्ध चिद्रूपमें [एव] एकाग्र होकर [निरन्तरं विहरति] अखण्ड धाराप्रवाहरूप प्रवर्तता है। कैसा होता हुआ ? “ द्रव्यान्तराणि अस्पृशन् ” जितनी कर्मके उदयसे नाना प्रकारकी अशुद्ध परिणति उसको सर्वथा छोड़ता हुआ। वह चिद्रूप कौन है ? “ यः एषः दृग्ज्ञसिवृत्तात्मकः ” [यः एषः] जो यह ज्ञानके प्रत्यक्ष है [दृग्] दर्शन [ज्ञसि] ज्ञान [वृत्त] चारित्र, वही है [आत्मकः] सर्वस्व जिसका, ऐसा है। और कैसा है ? “ मोक्षपथः ” जिसके शुद्धस्वरूप परिणमनेपर सकल कर्मोंका क्षय होता है। और कैसा है ? “ एकः ” समस्त विकल्पसे रहित है। और कैसा है ? “ नियतः ” द्रव्यार्थिकदृष्टिसे देखनेपर जैसा है वैसा ही है, उससे हीनरूप नहीं है, अधिक नहीं है ॥ ४८-२४० ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिङ्गे द्रव्यमये वहन्ति ममतां तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥ ४९-२४१ ॥

[हरिगीत]

जो पुरुषतज पूर्वोक्त पथ व्यवहार में वर्तन करें।
तर जायेंगे यह मानकर द्रव्यलिङ्गमें ममता धरें ॥
वे नहीं देखें आत्मा निज अमल एक उद्योतमय।
अर अखण्ड अभेद चिन्मय अज अतुल आलोकमय ॥ २४१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ते समयस्य सारम् अद्यापि न पश्यन्ति ” [ते] ऐसी है मिथ्यादृष्टि जीवराशि वह [समयस्य सारम्] सकल कर्मसे विमुक्त है जो परमात्मा उसे [अद्यापि] द्रव्यव्रत धारण किया है, बहुतसे शास्त्र पढ़े हैं तो भी [न पश्यन्ति] नहीं प्राप्त होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि निर्वाण पदको नहीं प्राप्त होती है। कैसा है समयसार ? “ नित्योद्योतम् ” सर्व काल प्रकाशमान है। और कैसा है ? “ अखण्डम् ” जैसा था वैसा है। और कैसा है ? “ एकम् ” निर्विकल्प सत्तारूप है। और कैसा है ? “ अतुलालोकं ” जिसकी उपमाका दृष्टान्त तीन लोकमें कोई नहीं है। और कैसा है ? “ स्वभावप्रभाप्राग्भारं ” [स्वभाव] चेतनास्वरूप उसका [प्रभा] प्रकाश उसका [प्राग्भारं] एक पुंज है। और कैसा है ? “ अमलं ” कर्ममलसे रहित है। कैसी है वह मिथ्यादृष्टि जीवराशि ? “ ये लिङ्गे ममतां वहन्ति ” [ये] जो कोई मिथ्यादृष्टि जीवराशि [लिङ्गे] द्रव्यक्रियामात्र है जो यतिपना उसमें [ममतां वहन्ति] ‘ मैं यति हूँ, हमारी क्रिया मोक्षमार्ग है ’ ऐसी प्रतीति करती है। कैसा है लिंग ? “ द्रव्यमये ” शरीरसम्बन्धी है—बाह्य क्रियामात्रका अवलंबन करता है। कैसे हैं वे जीव ? “ तत्त्वावबोधच्युताः ”

[तत्त्व] जीवका शुद्ध स्वरूप उसका [अवबोध] प्रत्यक्षपने अनुभव उससे [च्युताः] अनादि कालसे भ्रष्ट हैं। द्रव्यक्रियाको करते हुए आपको कैसे मानते हैं? “संवृतिपथप्रस्थापितेन आत्मना” [संवृतिपथ] मोक्षमार्गमें [प्रस्थापितेन आत्मना] अपने आप को स्थापित किया है अर्थात् मैं मोक्षमार्गमें चढ़ा हूँ ऐसा मानते हैं, ऐसा अभिप्राय रखकर क्रिया करते हैं। क्या करके? “एनं परिहृत्य” शुद्ध चैतन्यस्वरूपका अनुभव छोड़कर। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग है ऐसी प्रतीति नहीं करते हैं॥ ४९—२४१॥

[वियोगिनी]

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।

तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम्॥ ५०—२४२॥

[हरिगीत]

तुष माँहि मोहित जगतजन ज्यों एक तुषही जानते।

वे मूढ़ तुष संग्रह करें तन्दुल नहीं पहिचानते॥

व्यवहारमोहित मूढ़ त्यों व्यवहार को ही जानते।

आनन्दमय सद्ज्ञानमय परमार्थ नहीं पहिचानते॥२४२॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “जनाः” कोई ऐसे हैं मिथ्यादृष्टि जीव जो “परमार्थ” शुद्ध ज्ञान मोक्षमार्ग है ऐसी प्रतीतिको “नो कलयन्ति” नहीं अनुभवते हैं। कैसे हैं? “व्यवहारविमूढदृष्टयः” [व्यवहार] द्रव्यक्रियामात्र उसमें [विमूढ] ‘क्रिया मोक्षका मार्ग है’ इस प्रकार मूर्खपनेरूप झूठी है [दृष्टयः] प्रतीति जिनकी, ऐसे हैं। दृष्टान्त कहते हैं— जिस प्रकार “लोके” वर्तमान कर्मभूमिमें “तुषबोधविमुग्धबुद्धयः जनाः” [तुष] धानके उपरके तुषमात्रके [बोध] ज्ञानसे—ऐसे ही मिथ्याज्ञानसे [विमुग्ध] विकल हुई है [बुद्धयः] मति जिनकी, ऐसे हैं [जनाः] कितनेही मूर्ख लोग। “इह” वस्तु जैसी है वैसी ही है तथापि अज्ञानपनेसे “तुषं कलयन्ति” तुषको अंगीकार करते हैं, “तण्डुलम् न कलयन्ति” चावलके मर्मको नहीं प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार जो कोई क्रियामात्रको मोक्षमार्ग जानते हैं, आत्माके अनुभवसे शून्य हैं, वे भी ऐसे ही जानने॥ ५०—२४२॥

[स्वागता]

द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै-दृश्यते समयसार एव न।

द्रव्यलिङ्गमिह यत्किलान्यतोज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतो॥ ५१—२४३॥

[हरिगीत]

यद्यपि परद्रव्य है द्रव्यलिङ्ग फिर भी अज्ञजन।

बस उसी में ममता धरें द्रव्यलिङ्ग मोहित अन्धजन॥

देखें नहीं जाने नहीं सुखमय समय के सार को।

बस इसलिये ही अज्ञजन पाते नहीं भवपार को॥२४३॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “द्रव्यलिङ्गममकारमीलितैः समयसारः न दृश्यते एव” [द्रव्यलिङ्ग] क्रियारूप यतिपना [ममकार] ‘मैं यति, मेरा यतिपना मोक्षका मार्ग ऐसा जो अभिप्राय उसके कारण [मीलितैः] अन्धे हुए हैं अर्थात् परमार्थदृष्टिसे शून्य हुए हैं जो पुरुष उन्हें [समयसारः] शुद्ध जीववस्तु [न दृश्यते] प्राप्तिगोचर नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि मोक्षकी प्राप्ति उनके लिए दुर्लभ है। किस कारणसे? “यत् द्रव्यलिङ्गमिह अन्यतः, हि इदम् एकम् ज्ञानम् स्वतः” [यत्] जिस कारणसे [द्रव्यलिङ्गम्] क्रियारूप यतिपना [इह] शुद्ध ज्ञानका विचार करनेपर [अन्यतः] जीवसे भिन्न है, पुद्गलकर्मसम्बन्धी है। इस कारण द्रव्यलिङ्ग हेय है और [हि] जिस कारण [इदं] अनुभवगोचर [एकं ज्ञानं] शुद्ध ज्ञानमात्र वस्तु [स्वतः] अकेला जीवका सर्वस्व है, इसलिए उपादेय है, मोक्षका मार्ग है। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध जीवके स्वरूपका अनुभव अवश्य करना योग्य है ॥ ५१-२४३ ॥

[मालिनी]

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै-
रयमहि परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा-
न्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चिदस्ति ॥ ५२-२४४ ॥

[हरिगीत]

क्या लाभ है ऐसे अनल्प विकल्पों के जाल से ।
बस एक ही है बात यह परमार्थका अनुभव करो ॥
क्योंकि निजरस भरित परमानन्दके आधार से ।
कुछ भी नहीं है अधिक सुन लो इस समय के सार से ॥ २४४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “इह अयम् एकः परमार्थः नित्यम् चेत्यतां” [इह] सर्व तात्पर्य ऐसा है कि [अयम् एकः परमार्थः] बहुत प्रकारसे कहा है तथापि कहेंगे शुद्ध जीवके अनुभवरूप अकेला मोक्षका कारण उसको [नित्यम् चेत्यतां] अन्य जो नाना प्रकारके अभिप्राय उन समस्तको मेटकर इसी एकको नित्य अनुभवो। वह कौन परमार्थ? “खलु समयसारात् उत्तरं किञ्चित् न अस्ति” [खलु] निश्चयसे [समयसारात्] शुद्ध जीवके स्वरूपके अनुभवके समान [उत्तरं] द्रव्यक्रिया अथवा सिद्धान्तका पढ़ना लिखना इत्यादि [किञ्चित् न अस्ति] कुछ नहीं है अर्थात् शुद्ध जीवस्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग सर्वथा है, अन्य समस्त मोक्षमार्ग सर्वथा नहीं है। कैसा है समयसार? “स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रात्” [स्वरस] चेतनाके [विसर] प्रवाहसे [पूर्ण] सम्पूर्ण ऐसा [ज्ञानविस्फूर्ति] केवलज्ञानका प्रगटपना [मात्रात्] इतना है स्वरूप जिसका, ऐसा है। आगे ऐसा मोक्षमार्ग है, इससे अधिक कोई मोक्षमार्ग कहता है वह बहिरात्मा है, उसे वर्जित करते हैं — “अतिजल्पैः अलं अलं” [अतिजल्पैः] बहुत बोलनेसे [अलम् अलम्] बस करो बस करो। यहाँ दो बारके कहनेसे अत्यन्त वर्जित

करते हैं कि चुप रहो चुप रहो। कैसे हैं अति जल्प? “**दुर्विकल्पैः**” झूठसे भी झूठ उठती है चित्तकल्लोलमाला जिनमें, ऐसे हैं। और कैसे हैं? “**अनल्पैः**” शक्तिभेदसे अनन्त हैं ॥ ५२-२४४ ॥

[अनुष्टुप]

**इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥ ५३-२४५ ॥**

[दोहा]

**ज्ञानानन्दस्वभाव को करता हुआ प्रत्यक्ष ।
अरे पूर्ण अब होरहा यह अक्षय जगचक्षु ॥ २४५ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “**इदम् पूर्णताम् याति**” शुद्ध ज्ञानप्रकाश पूर्ण होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो सर्वविशुद्धज्ञान अधिकारका आरम्भ किया था वह पूर्ण हुआ। कैसा है शुद्ध ज्ञान? “**एकं**” निर्विकल्प है। और कैसा है? “**जगच्चक्षुः**” जितनी ज्ञेयवस्तु उन सबका ज्ञाता है। और कैसा है? “**अक्षयं**” शाश्वत है। और कैसा है? “**विज्ञानघनम् अध्यक्षतां नयत्**” [**विज्ञान**] ज्ञानमात्रके [**घनम्**] समूहरूप आत्मद्रव्यको [**अध्यक्षतां नयत्**] प्रत्यक्षरूपसे अनुभवता हुआ ॥ ५३-२४५ ॥

[अनुष्टुप]

**इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ ५४-२४६ ॥***

[दोहा]

**इस प्रकार यह आत्मा अचल अबाधित एक ।
ज्ञानमात्र निश्चित हुआ जो अखण्ड स्वसंवेद्य ॥ २४६ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- इति” इस प्रकार “**इदम् आत्मनः तत्त्वं**” यह आत्माका तत्त्व [अर्थात् परमार्थभूत स्वरूप] “**ज्ञानमात्रम्**” ज्ञानमात्र “**अवस्थितम्**” निश्चित हुआ कि - जो [आत्मा का] ज्ञान मात्र तत्त्व “**अखण्डम्**” अखण्ड है [अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारोंसे और प्रतिपक्षी कर्मोंसे यद्यपि खण्ड खण्ड दिखाई देता है तथापि ज्ञानमात्रमें खण्ड नहीं है], और कैसा है? “**एकम्**” एक है [अर्थात् अखण्ड होनेसे एक रूप है], और कैसा है? “**अचलं**” अचल है [अर्थात् ज्ञानरूपसे चलित नहीं होता—ज्ञेयरूप नहीं होता], “**स्वसंवेद्यम्**” स्वसंवेद्य है [अपनेसे ही अपनेको जानता है], और “**अबाधितम्**” अबाधित है [अर्थात् किसी मिथ्यायुक्तिसे बाधा नहीं पाता] ॥ ५४-२४६ ॥

* पं. श्री राजमलजी कृत टीकामें यह श्लोक छूट गया है। अतः यह श्लोक हिन्दी समयसारसे लेकर अर्थ सहित यहाँ दिया गया है।





[अनुष्टुप]

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।

उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ॥ १-२४७ ॥

[कूण्डलियाँ]

यद्यपि सब कुछ आगया कुछ भी रहा न शेष ।

फिर भी इस परिशिष्ट में सहज प्रमेय विशेष ।।

सहज प्रमेय विशेष उपायोपेय भावमय ।

ज्ञानमात्र आत्म समझाते स्याद्वाद से ।

परम व्यवस्था वस्तुतत्त्व की प्रस्तुत करके ।

परमज्ञानमय परमात्म का चिन्तन करते ॥२४७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘भूयः अपि मनाक् चिन्त्यते’’ [भूयः अपि] ‘ज्ञानमात्र जीवद्रव्य’ ऐसा कहता हुआ समयसार नामका शास्त्र समाप्त हुआ। तदुपरान्त [मनाक् चिन्त्यते] कुछ थोड़ासा अर्थ दूसरा कहते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि जो गाथासूत्रका कर्ता है कुंदकुंदाचार्यदेव, उनके द्वारा कथित गाथासूत्रका अर्थ संपूर्ण हुआ। सांप्रत टीकाकर्ता है अमृतचंद्र सूरि, उन्होंने टीका भी कही। तदुपरान्त अमृतचंद्र सूरि कुछ कहते हैं। क्या कहते हैं— ‘‘वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः’’ [वस्तु] जीवद्रव्यका [तत्त्व] ज्ञानमात्र स्वरूप [व्यवस्थितिः] जिस प्रकार है उस प्रकार कहते हैं। ‘‘च’’ और क्या कहते हैं— ‘‘उपायोपेयभावः’’ [उपाय] मोक्षका कारण जिस प्रकार है उस प्रकार [उपेयभावः] सकल कर्मोंका विनाश होनेपर जो वस्तु निष्पन्न होती है उस प्रकार कहते हैं। कहने का प्रयोजन क्या ऐसा कहते हैं — ‘‘अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थ’’ [अत्र] ज्ञानमात्र जीवद्रव्य में [स्याद्वादशुद्ध्यर्थ] स्याद्वाद—एक सत्तामें अस्ति—नास्ति अेक—अनेक नित्य—अनित्य इत्यादि अनेकान्तपना [शुद्धि] ज्ञानमात्र जीवद्रव्यमें जिस प्रकार घटित हो उस प्रकार [अर्थ] कहनेका है अभिप्राय जहाँ ऐसे प्रयोजनस्वरूप कहते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि कोई आशंका करता है कि जैनमत स्याद्वादमूलक है। यहाँ तो ज्ञानमात्र जीवद्रव्य ऐसा कहा सो ऐसा कहते हुए एकान्तपना हुआ, स्याद्वाद तो प्रगट हुआ है नहीं? उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञानमात्र जीवद्रव्य ऐसा कहते हुए अनेकान्तपना घटित होता है। जिस प्रकार घटित होता है उस प्रकार यहाँ से लेकर कहते हैं, सावधान होकर सुनो॥१-२४७॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**बाह्यार्थः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥ २-२४८ ॥**

[हरिगीत]

**बाह्यार्थ ने ही पी लिया निज व्यक्तता से रिक्त जो ।
वह ज्ञान तो सम्पूर्णतः पररूप में विश्रान्त है ।
परसे विमुख हो स्वोन्मुख सदज्ञानियों का ज्ञानतो ।
'स्वरूपसे ही ज्ञान है' - इस मान्यता से पुष्ट ॥२४८॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि जो ज्ञानमात्र जीवका स्वरूप है उसमें भी चार प्रश्न विचारणीय है। वे प्रश्न कौन? एक तो प्रश्न ऐसा कि ज्ञान ज्ञेयके सहारेका है कि अपने सहारेका है? दूसरा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान एक है कि अनेक है? तीसरा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान अस्तिरूप है कि नास्तिरूप है? चौथा प्रश्न ऐसा कि ज्ञान नित्य है कि अनित्य है? उनका उत्तर इस प्रकार है कि जितनी वस्तु हैं वे सब द्रव्यरूप हैं, पर्यायरूप हैं। इसलिए ज्ञान भी द्रव्यरूप है, पर्यायरूप है। उसका विवरण—द्रव्यरूप कहनेपर निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तु, पर्यायरूप कहनेपर स्वज्ञेय अथवा परज्ञेयको जानता हुआ ज्ञेयकी आकृति—प्रतिबिम्बरूप परिणमता है जो ज्ञान। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञेयको जाननेरूप परिणति ज्ञानकी पर्याय, इसलिए ज्ञानको पर्यायरूपसे कहनेपर ज्ञान ज्ञेयके सहारेका है। [ज्ञानको] वस्तुमात्रसे कहनेपर अपने सहारेका है। एक प्रश्नका समाधान तो इस प्रकार है। दूसरे प्रश्नका समाधान इस प्रकार है कि ज्ञानको पर्यायमात्रसे कहनेपर ज्ञान अनेक है, वस्तुमात्रसे कहनेपर एक है। तीसरे प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञानको पर्यायरूपसे कहनेपर ज्ञान नास्तिरूप है, ज्ञानको वस्तुरूपसे विचारनेपर ज्ञान अस्तिरूप है। चौथे प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञानको पर्यायमात्रसे कहनेपर ज्ञान अनित्य है, वस्तुमात्रसे कहनेपर ज्ञान नित्य है। ऐसा प्रश्न करनेपर ऐसा समाधान करना, स्याद्वाद इसका नाम है। वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है तथा इस प्रकार साधनेपर वस्तुमात्र सधती है। जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव वस्तुको वस्तुरूप है तथा वही वस्तु पर्यायरूप है ऐसा नहीं मानते हैं, सर्वथा वस्तुरूप मानते हैं अथवा सर्वथा पर्यायमात्र मानते हैं, वे जीव एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। कारण कि वस्तुमात्रको माने बिना पर्यायमात्रके माननेपर पर्यायमात्र भी नहीं सधती है; वहाँ अनेक प्रकार साधन—बाधन है,

अवसर पाकर कहेंगे। अथवा पर्यायरूप माने बिना वस्तुमात्र माननेपर वस्तुमात्र भी नहीं सधती है। वहाँ भी अनेक युक्तियाँ हैं। अवसर पाकर कहेंगे। इसी बीच कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानको पर्यायरूप मानता है, वस्तुरूप नहीं मानता है। ऐसा मानता हुआ ज्ञानको ज्ञेयके सहारेका मानता है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि इस प्रकार तो एकान्तरूपसे ज्ञान सधता नहीं। इसलिए ज्ञान अपने सहारेका है ऐसा कहते हैं— **“पशोः ज्ञानं सीदति”** [**पशोः**] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जैसा मानता है कि ज्ञान पर ज्ञेयके सहारेका है, सो ऐसा माननेपर [**ज्ञानं**] शुद्ध जीवकी सत्ता [**सीदति**] नष्ट होती है अर्थात् अस्तित्वपना वस्तुरूपताको नहीं पाता है। भावार्थ इस प्रकार है कि एकान्तवादीके कथनानुसार वस्तुका अभाव सधता है, वस्तुपना नहीं सधता। कारण कि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है। कैसा है ज्ञान? **“बाह्यार्थः परिपीतम्”** [**बाह्यार्थः**] ज्ञेय वस्तुके द्वारा [**परिपीतम्**] सर्व प्रकार निगला गया है। भावार्थ इस प्रकार है कि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि ज्ञान वस्तु नहीं है, ज्ञेयसे है। सो भी उसी क्षण उपजता है, उसी क्षण विनशता है। जिस प्रकार घटज्ञान घटके सद्भावमें है। प्रतीति इस प्रकार होती है कि जो घट है तो घटज्ञान है। जब घट नहीं था तब घटज्ञान नहीं था। जब घट नहीं होगा तब घटज्ञान नहीं होगा। कोई मिथ्यादृष्टि जीव ज्ञानवस्तुको बिना माने ज्ञानको पर्यायमात्र मानता हुआ ऐसा मानता है। और ज्ञानको कैसा मानता है— **“उज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवत्”** [**उज्झित**] मूलसे नाश हो गया है [**निजप्रव्यक्ति**] ज्ञेयके जानपनेमात्रसे ज्ञान ऐसा पाया हुआ नाममात्र, उस कारण [**रिक्तीभवत्**] ज्ञान ऐसे नामसे भी विनष्ट हो गया है ऐसा मानता है मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव। और ज्ञानको कैसा मानता है— **“परितः पररूपे एव विश्रान्तं”** [**परितः**] मूलसे लेकर [**पररूपे**] ज्ञेय वस्तुरूप निमित्तमें [**एव**] एकान्तसे [**विश्रान्तं**] विश्रान्त हो गया—ज्ञेयसे उत्पन्न हुआ, ज्ञेयसे नष्ट हो गया। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार भीतमें चित्राम जब भीत नहीं थी तब नहीं था, जब भीत है तब है, जब भीत नहीं होगी तब नहीं होगा। इससे प्रतीति ऐसी उत्पन्न होती है कि चित्रके सर्वस्वका कर्ता भीत है। उसी प्रकार जब घट है तब घटज्ञान है, जब घट नहीं था तब घटज्ञान नहीं था, जब घट नहीं होगा तब घटज्ञान नहीं होगा। इससे ऐसी प्रतीति उत्पन्न होती है कि ज्ञानके सर्वस्वका कर्ता ज्ञेय है।

कोई अज्ञानी एकान्तवादी ऐसा मानता है, इसलिए ऐसे अज्ञानीके मतमें ज्ञान वस्तु ऐसा नहीं पाया जाता। स्याद्वादीके मतमें ज्ञान वस्तु ऐसा पाया जाता है। ‘‘पुनः स्याद्वादिनः तत् पूर्ण समुन्मज्जति’’ [पुनः] एकान्तवादी कहता है उस प्रकार नहीं है, स्याद्वादी कहता है उस प्रकार है। [स्याद्वादिनः] एक सत्ताको द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप मानते हैं ऐसे जो सम्यग्दृष्टि जीव उनके मतमें [तत्] ज्ञानवस्तु [पूर्ण] जैसी ज्ञेयसे होती कही, विनशती कही वैसी नहीं है, जैसी है वैसी ही है, ज्ञेयसे भिन्न स्वयंसिद्ध अपने से है [समुन्मज्जति] एकान्तवादीके मतमें मूलसे लोप हो गया था वही ज्ञान स्याद्वादीके मतमें ज्ञानवस्तुरूप प्रगट हुआ। किस कारणसे प्रगट हुआ? ‘‘दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः’’ [दूर] अनादिसे लेकर [उन्मग्न] स्वयंसिद्ध वस्तुरूप प्रगट है ऐसा [घन] अमिट [अटल] [स्वभाव] ज्ञानवस्तुका सहज उसके [भरतः] न्याय करनेपर, अनुभव करनेपर ऐसा ही है ऐसे सत्यपने के कारण। कैसा न्याय कैसा अनुभव ये दोनों जिस प्रकार होते हैं उस प्रकार कहते हैं— ‘‘यत् तत् स्वरूपतः तत् इति’’ [यत्] जो वस्तु [तत्] वह वस्तु [स्वरूपतः तत्] अपने स्वभावसे वस्तु है [इति] ऐसा अनुभवकरनेपर अनुभव भी उत्पन्न होता है, युक्ति भी प्रगट होती है। अनुभव निर्विकल्प है। युक्ति ऐसी कि ज्ञानवस्तु द्रव्यरूपसे विचार करनेपर अपने स्वरूप है, पर्यायरूपसे विचार करनेपर ज्ञेयसे है। जिस प्रकार ज्ञानवस्तु द्रव्यरूपसे ज्ञानमात्र है पर्यायरूपसे घटज्ञानमात्र है, इसलिए पर्यायरूपसे देखनेपर घटज्ञान जिस प्रकार कहा है, घटके सद्भावमें है, घटके नहीं होनेपर नहीं है—वैसे ही है। द्रव्यरूपसे अनुभव करनेपर घटज्ञान ऐसा न देखा जाय, ज्ञान ऐसा देखा जाय तो घटसे भिन्न अपने स्वरूपमात्र स्वयंसिद्ध वस्तु है। इस प्रकार अनेकान्तके साधनेपर वस्तुस्वरूप सधता है। एकान्तसे जो घट घटज्ञानका कर्ता है, ज्ञानवस्तु नहीं है तो ऐसा होना चाहिए कि जिस प्रकार घटके पास बेटे पुरुषको घटज्ञान होता है उसी प्रकार जिस किसी वस्तु को घटके पास रखा जाय उसे घटज्ञान होना चाहिए। ऐसा होनेपर स्तम्भके पास घटके होनेपर स्तम्भको घटज्ञान होना चाहिए सो ऐसा तो नहीं दिखाई देता। तिस कारण ऐसा भाव प्रतीति में आता है कि जिसमें ज्ञानशक्ति विद्यमान है उसको घटके पास बैठकर घटके देखने विचारनेपर घटज्ञानरूप इस ज्ञानकी पर्याय परिणमती है। इसलिए स्याद्वाद वस्तुका साधक है, एकान्तपना वस्तुका नाशकर्ता है॥ २-२४८॥

[शार्दूलविक्रीडित]

विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥ ३-२४९ ॥

[हरिगीत]

इस ज्ञान में जो झलकता वह विश्व ही बस ज्ञान है ।
अबुध ऐसा मानकर स्वच्छन्द हो वर्तन करें ॥
अर विश्व को जो जानकर भी विश्वमय होते नहीं ।
वे स्याद्वादी जगत में निजतत्त्व का अनुभव करें ॥ २४९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो ज्ञानको द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए जिस प्रकार जीवद्रव्यको ज्ञानवस्तुरूपसे मानता है उस प्रकार ज्ञेय जो पुद्गल धर्म अधर्म आकाश कालद्रव्य उनको भी ज्ञेयवस्तु नहीं मानता है, ज्ञानवस्तु मानता है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि ज्ञान ज्ञेयको जानता है ऐसा ज्ञानका स्वभाव है तथापि ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं है— “**पशुः स्वच्छन्दम् आचेष्टते**” [**पशुः**] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव [**स्वच्छन्दम्**] स्वेच्छाचाररूप— कुछ हेयरूप, कुछ उपादेयरूप ऐसा भेद नहीं करता हुआ, समस्त त्रैलोक्य उपादेय ऐसी बुद्धि करता हुआ —[**आचेष्टते**] ऐसी प्रतीति करता हुआ निःशंकपने प्रवर्तता है। किसके समान? “**पशुः इव**” तिर्यञ्चके समान। कैसा होकर प्रवर्तता है? “**विश्वमयः भूत्वा**” “**अहं विश्वम्**” ऐसा जान आप विश्वरूप हो प्रवर्तता है। ऐसा क्यों है? कारण कि “**सकलं स्वतत्त्वाशया दृष्ट्वा**” [**सकलं**] समस्त ज्ञेयवस्तुको [**स्वतत्त्वाशया**] ज्ञानवस्तुकी बुद्धिरूपसे [**दृष्ट्वा**] प्रगाढ़ प्रतीतिकर। ऐसी प्रगाढ़ प्रतीति क्यों होती है? कारण कि “**विश्वं ज्ञानम् इति प्रतर्क्य**” “त्रैलोक्यरूप जो कुछ है वह ज्ञानवस्तुरूप है ऐसा जानकर। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानवस्तु पर्यायरूपसे ज्ञेयाकार होती है सो मिथ्यादृष्टि पर्यायरूप भेद नहीं मानता है, समस्त ज्ञेयको ज्ञानवस्तुरूप मानता है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञेयवस्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं है। यही कहते हैं—“**पुनः स्याद्वाददर्शी स्वतत्त्वं स्पृशेत्**” [**पुनः**] एकान्तवादी जिस प्रकार कहता है उस प्रकार ज्ञानको वस्तुपना नहीं सिद्ध होता है। स्याद्वादी जिस प्रकार कहता है उस प्रकार वस्तुपना ज्ञानको सधता है। कारण कि एकान्तवादी ऐसा मानता है कि समस्त ज्ञानवस्तु है, सो इसके माननेपर लक्ष्य—लक्षणका अभाव होता है, इसलिए लक्ष्य—लक्षणका अभाव होनेपर वस्तुकी सत्ता नहीं सधती है। स्याद्वादी ऐसा मानता है कि ज्ञानवस्तु है, उसका लक्षण है —समस्त ज्ञेयका जानपना, इसलिए इसके कहनेपर स्वभाव सधता है, स्वस्वभावके सधनेपर वस्तु सधती है, अतएव ऐसा कहा जो **स्याद्वाददर्शी** [**स्वतत्त्वं स्पृशेत्**] वस्तुको द्रव्य—पर्यायरूप मानता है, ऐसा अनेकान्तवादी जीव

ज्ञानवस्तु है ऐसा साधने के लिए समर्थ होता है। स्याद्वादी ज्ञानवस्तुको कैसी मानता है? “विश्वात् भिन्नम्” [विश्वात्] समस्त ज्ञेयसे [भिन्नम्] निराला है। और कैसा मानता है? “अविश्वविश्वघटितं” [अविश्व] समस्त ज्ञेयसे भिन्नरूप [विश्व] अपने द्रव्य—गुण—पर्यायसे [घटितं] जैसा है वैसा अनादिसे स्वयंसिद्ध निष्पन्न है—ऐसी है ज्ञानवस्तु। ऐसा क्यों मानता है? “यत् तत्” जो जो वस्तु है “तत् पररूपतः न तत्” वह वस्तु परवस्तुकी अपेक्षा वस्तुरूप नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार ज्ञानवस्तु ज्ञेयरूपसे नहीं है, ज्ञानरूपसे है। उसी प्रकार ज्ञेयवस्तु भी ज्ञानवस्तुसे नहीं है, ज्ञेयवस्तुरूप है। इसलिए ऐसा अर्थ प्रगट हुआ कि पर्यायद्वारसे ज्ञान विश्वरूप है, द्रव्यद्वारसे आपरूप है। ऐसा भेद स्याद्वादी अनुभवता है। इसलिए स्याद्वाद वस्तुस्वरूपका साधक है, एकान्तपना वस्तुका घातक है॥ ३-२४९॥

[शार्दूलविक्रीडित]

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसद्-
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्तुट्यन्पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदा व्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्नेकं
ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ४-२५० ॥

[हरिगीत]

छिन्न-भिन्न हो चहुँ ओर से बाह्यार्थ के परिग्रहण से ।
खण्ड-खण्ड होकर नष्ट होता स्वयं अज्ञानी पशु ॥
एकत्व के परिज्ञान से भ्रमभेद जो परित्याग दे ।
वे स्याद्वादी जगत में एकत्व का अनुभव करें ॥२५०॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव पर्यायमात्रको वस्तु मानता है, वस्तुको नहीं मानता है, इसलिए ज्ञानवस्तु अनेक ज्ञेयको जानती है, उसको जानती हुई ज्ञेयाकार परिणमती है ऐसा जानकर ज्ञानको अनेक मानता है, एक नहीं मानता है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि एक ज्ञानको माने बिना अनेक ज्ञान ऐसा नहीं सधता है, इसलिए ज्ञानको एक मानकर अनेक मानना वस्तुका साधक है ऐसा कहते हैं — “पशुः नश्यति” एकान्तवादी वस्तुको नहीं साध सकता है। कैसा है? “अभितः त्रुट्यन्” जैसा मानता है उस प्रकार वह झूठा ठहरता है। और कैसा है? “विष्वग्विचित्रोल्लसद्ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिः” [विश्वक्] जो अनन्त है [विचित्र] अनन्त प्रकारका है [उल्लसत्] प्रगट विद्यमान है ऐसा जो [ज्ञेय] छह द्रव्योंका समूह उसके [आकार] प्रतिबिम्बरूप परिणमी है ऐसी जो ज्ञानपर्याय [विशीर्णशक्तिः] एतावन्मात्र ज्ञान है ऐसी श्रद्धा करनेपर गल गई है वस्तु साधनेकी सामर्थ्य जिसकी, ऐसा है मिथ्यादृष्टि जीव।

ऐसा क्यों है? “**बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतः**” [**बाह्यार्थ**] जितनी ज्ञेयवस्तु उनका [**ग्रहण**] जानपना, उसकी आकृतिरूप ज्ञानका परिणाम ऐसा जो है [**स्वभाव**] वस्तुका सहज जो कि [**भरतः**] किसीके कहनेसे वर्जा न जाय [छूटे नहीं] ऐसा अमिटपना, उसके कारण। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानका स्वभाव है कि समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञेयके आकाररूप परिणमना। कोई एकान्तवादी एतावन्मात्र वस्तुको जानता हुआ ज्ञानको अनेक मानता है। उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञानका एकपना साधता है — “**अनेकान्तविद् ज्ञानम् एकं पश्यति**” [**अनेकान्तविद्**] एक सत्ताको द्रव्य-पर्यायरूप मानता है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव [**ज्ञानम् एकं पश्यति**] ज्ञानवस्तु यद्यपि पर्यायरूपसे अनेक है तथापि द्रव्यरूपसे एकरूप अनुभवता है। कैसा है स्याद्वादी? “**भेदभ्रमं ध्वंसयन्**” ज्ञान अनेक है ऐसे एकान्तपक्षको नहीं मानता है। किस कारणसे? “**एकद्रव्यतया**” ज्ञान एक वस्तु है ऐसे अभिप्रायके कारण। कैसा है अभिप्राय? “**सदा व्युदितया**” सर्व काल उदयमान है। कैसा है ज्ञान? “**अबाधितानुभवनं**” अखण्डित है अनुभव जिसमें, ऐसी है ज्ञानवस्तु॥ ४-२५०॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पय-
न्नेकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन्पश्यत्यनेकान्तवित् ॥ ५-२५१॥**

[हरिगीत]

**जो मैल ज्ञेयाकार का धो डालने के भाव से ।
स्वीकृत करें एकत्व को एकान्त से वे नष्ट हों ॥
अनेकत्व को जो जानकर भी एकता छोड़े नहीं ।
वे स्याद्वादी स्वतः क्षालित तत्व का अनुभव करें ॥ २५१॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है कि वस्तुको द्रव्यरूप मात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए ज्ञानको निर्विकल्प वस्तुमात्र मानता है, ज्ञेयाकार परिणतिरूप ज्ञानकी पर्याय नहीं मानता है, इसलिए ज्ञेयवस्तुको जानते हुए ज्ञानका अशुद्धपना मानता है। उसके प्रति स्याद्वादी ज्ञानका द्रव्यरूप एक पर्यायरूप अनेक ऐसा स्वभाव साधता है ऐसा कहते हैं — “**पशुः ज्ञानं न इच्छति**” [**पशुः**] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव [**ज्ञानं**] ज्ञानमात्र जीववस्तुको [**न इच्छति**] नहीं साध सकता है — अनुभवगोचर नहीं कर सकता है। कैसा है ज्ञान?

“स्फुटम् अपि” प्रकाशरूपसे प्रगट हैं यद्यपि। कैसा है एकान्तवादी? “प्रक्षालनं कल्पयन्” कलंक प्रक्षालनेका अभिप्राय करता है। किसमें? “ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति” [ज्ञेय] जितनी ज्ञेयवस्तु है उस [आकार] ज्ञेयको जानते हुए हुआ है उसकी आकृतिरूप ज्ञान ऐसा जो [कलङ्क] कलंक उसके कारण [मेचक] अशुद्ध हुआ है, ऐसी है [चिति] जीववस्तु, उसमें। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञेयको जानता है ज्ञान, उसको एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव स्वभाव नहीं मानता है, अशुद्धपनेरूपसे मानता है। एकान्तवादीनका अभिप्राय ऐसा क्यों है? “एकाकारचिकीर्षया” क्योंकि [एकाकार] समस्त ज्ञेयके जानपनेसे रहित होता हुआ निर्विकल्परूप ज्ञानका परिणाम [चिकीर्षया] जब ऐसा होवे तब ज्ञान शुद्ध है ऐसा है अभिप्राय एकान्तवादीका। उसके प्रति ‘एक—अनेकरूप’ ज्ञानका स्वभाव साधता है स्याद्वादी सम्यग्दृष्टि जीव—“अनेकान्तविद् ज्ञानं पश्यति” [अनेकान्तविद्] स्याद्वादी जीव [ज्ञानं] ज्ञानमात्र जीववस्तुको [पश्यति] साध सकता है — अनुभव कर सकता है। कैसा है ज्ञान? “स्वतः क्षालितं” सहज ही शुद्धस्वरूप है। स्याद्वादी ज्ञानको कैसा जानकर अनुभवता है? “तत् वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम् पर्यायैः अनेकतां उपगतं परिमृशन्” [तत्] ज्ञानमात्र जीववस्तु [वैचित्र्ये अपि अविचित्रताम्] अनेक ज्ञेयाकारकी अपेक्षा पर्यायरूप अनेक है तथापि द्रव्यरूप एक है, [पर्यायैः अनेकतां उपगतं] यद्यपि द्रव्यरूप एक है तथापि अनेक ज्ञेयाकाररूप पर्यायकी अपेक्षा अनेकपनाको प्राप्त होती है ऐसे स्वरूपको अनेकान्तवादी साध सकता है —अनुभव—गोचर कर सकता है। [परिमृशन्] ऐसी द्रव्यरूप पर्यायरूप वस्तुको अनुभवता हुआ स्याद्वादी’ ऐसा नाम प्राप्त करता है॥ ५—२५१॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥ ६-२५२ ॥**

[हरिगीत]

**इन्द्रियों से जो दिखे ऐसे तनादि पदार्थ मैं ।
एकत्व कर हों नष्ट जन निजद्रव्य को देखे नहीं ॥
निजद्रव्य को जो देखकर निजद्रव्य में ही रत रहें ।
वे स्याद्वादि ज्ञानसे परिपूर्ण हो जीवित रहें ॥ २५२ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो पर्यायमात्रको वस्तुरूप मानता है, इसलिए ज्ञेयको जानते हुए ज्ञेयाकार परिणामी है जो ज्ञानकी पर्याय उसका, ज्ञेयके अस्तित्वपनेसे अस्तित्वपना मानता है, ज्ञेयसे भिन्न निर्विकल्प ज्ञानमात्र वस्तुको नहीं मानता है। इससे ऐसा भाव प्राप्त होता है कि परद्रव्यके अस्तित्वसे ज्ञानका अस्तित्व है, ज्ञानके अस्तित्वसे ज्ञानका अस्तित्व नहीं है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञानवस्तुका अपने अस्तित्वसे अस्तित्व है। उसके भेद चार हैं — ज्ञानमात्र जीववस्तु स्वद्रव्यपने अस्ति, स्वक्षेत्रपने अस्ति, स्वकालपने अस्ति, स्वभावपने अस्ति। परद्रव्यपने नास्ति, परक्षेत्रपने नास्ति, परकालपने नास्ति, परभावपने नास्ति। उनका लक्षण — स्वद्रव्य — निर्विकल्पमात्र वस्तु, स्वक्षेत्र — आधारमात्र वस्तुका प्रदेश, स्वकाल — वस्तुमात्रकी मूल अवस्था, स्वभाव — वस्तुकी मूलकी सहज शक्ति। परद्रव्य — सविकल्प भेद—कल्पना, परक्षेत्र — जो वस्तुका आधारभूत प्रदेश निर्विकल्प वस्तुमात्ररूपसे कहा था वही प्रदेश सविकल्प भेद कल्पनासे परप्रदेश बुद्धिगोचररूपसे कहा जाता है। परकाल — द्रव्यकी मूलकी निर्विकल्प अवस्था, वही अवस्थान्तर भेदरूप कल्पनासे परकाल कहलाता है। परभाव — द्रव्यकी सहज शक्तिके पर्यायरूप अनेक अंश द्वारा भेदकल्पना, उसे परभाव कहा जाता है। “पशुः नश्यति” एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव जीवस्वरूपको नहीं साध सकता है। कैसा है? “परितः शून्यः” सर्व प्रकार तत्त्वज्ञानसे शून्य है। किस कारणसे? “स्वद्रव्यानवलोकनेन” [स्वद्रव्य] निर्विकल्प वस्तुमात्रके [अनवलोकनेन] नहीं प्रतीति करने के कारण। और कैसा है? “प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः” [प्रत्यक्ष] असहायरूपसे [आलिखित] लिखे हुएके समान [स्फुट] जैसा का तैसा [स्थिर] अमिट जो [परद्रव्य] ज्ञेयाकार ज्ञानका परिणाम उससे माना जो [अस्तित्ता] अस्तित्व उससे [वञ्चितः] ठगा गया है ऐसा है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। “तु स्याद्वादी पूर्णो भवन् जीवति” [तु] एकान्तवादी कहता है उस प्रकार नहीं है [स्याद्वादी] सम्यग्दृष्टि जीव [पूर्णो भवन] पूर्ण होता हुआ [जीवति] ज्ञानमात्र जीववस्तु है ऐसा साध सकता है—अनुभव कर सकता है। किसके द्वारा? “स्वद्रव्यास्तितया” [स्वद्रव्य] निर्विकल्प

ज्ञानशक्तिमात्र वस्तु उसके [अस्तितया] अस्तित्वपनेके द्वारा। क्या करके? “ निपुणं निरूप्य ” ज्ञानमात्र जीव वस्तुका अपने अस्तित्वसे किया है अनुभव जिसने ऐसा होकर। किसके द्वारा? “ विशुद्धबोधमहसा ” [विशुद्ध] निर्मल जो [बोध] भेदज्ञान उसके [महसा] प्रतापके द्वारा। कैसा है? “ सद्यः समुन्मज्जता ” उसी कालमें प्रगट होता है।। ६-२५२।।

[शार्दूलविक्रीडित]

**सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।। ७-२५३।।**

[हरिगीत]

**सब द्रव्यमय निज आत्मा यह जगत की दुर्वासना ।
बस रत रहे परद्रव्य में स्व द्रव्य के भ्रमबोध से ।।
परद्रव्य के नास्तित्व को स्वीकार सब द्रव्य में ।
निज ज्ञान बल से स्याद्वादी रत रहें निजद्रव्य में ।। २५३ ।।**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तुको द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है, इसलिए समस्त ज्ञेयवस्तु ज्ञानमें गर्भित मानता है। ऐसा कहता है—उष्णको जानता हुआ ज्ञान उष्ण है, शीतलको जानता हुआ ज्ञान शीतल है। उसके प्रति उत्तर इस प्रकार है कि ज्ञान ज्ञेयका ज्ञायकमात्र तो है, परंतु ज्ञेयका गुण ज्ञेयमें है, ज्ञानमें ज्ञेयका गुण नहीं है। वही कहते हैं—“ किल पशुः विश्राम्यति ” [किल] अवश्यकर [पशुः] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव [विश्राम्यति] वस्तुस्वरूपको साधनेके लिए असमर्थ होता हुआ अत्यन्त खेदखिन्न होता है। किस कारणसे? “ परद्रव्येषु स्वद्रव्यभ्रमतः ” [परद्रव्येषु] ज्ञेयको जानते हुए ज्ञेयकी आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान, ऐसी जो ज्ञानकी पर्याय, उसमें [स्वद्रव्य] निर्विकल्प सत्तामात्र ज्ञानवस्तु होनेकी [भ्रमतः] होती है भ्रान्ति। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार उष्णको जानते हुए उष्णकी आकृतिरूप ज्ञान परिणमता है ऐसा देखकर ज्ञानका उष्णस्वभाव मानता है मिथ्यादृष्टि जीव। कैसा होता हुआ? “ दुर्वासनावासितः ” [दुर्वासना] अनादिका मिथ्यात्व संस्कार उससे [वासितः] हुआ है स्वभावसे भ्रष्ट ऐसा। ऐसा क्यों है? “ सर्वद्रव्यमयं पुरुषं प्रपद्य ” [सर्वद्रव्य] जितने समस्त द्रव्य हैं उनका जो द्रव्यपना [मयं] उसमय जीव है अर्थात् उतने समस्त स्वभाव जीवमें है ऐसा [पुरुषं] जीव वस्तुको [प्रपद्य] प्रतीतिरूप मानकर। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है। “ तु स्याद्वादी स्वद्रव्यम् आश्रयेत् एव ” [तु] एकान्तवादी मानता है वैसा नहीं है, स्याद्वादी मानता है वैसा है। यथा— [स्याद्वादी] अनेकान्तवादी [स्वद्रव्यम् आश्रयेत्] ज्ञानमात्र जीव वस्तु ऐसा साध सकता है—अनुभव कर सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव [एव] ऐसा ही है। कैसा है स्याद्वादी? “ समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां जानन् ” [समस्तवस्तुषु] ज्ञानमें प्रतिबिंबित हुआ है समस्त

ज्ञेयका स्वरूप, उसमें [परद्रव्यात्मना] अनुभवता है ज्ञानवस्तुसे भिन्नपना, उसके कारण [नास्तितां जानन्] नास्तिपना अनुभवता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि समस्त ज्ञेय ज्ञानमें उदीपित होता है परन्तु ज्ञेयरूप है, ज्ञानरूप नहीं हुआ है। कैसा है स्याद्वादी? “ निर्मलशुद्धबोधमहिमा ” [निर्मल] मिथ्यादोषसे रहित तथा [शुद्ध] रागादि अशुद्ध परिणतिसे रहित ऐसा जो [बोध] अनुभवज्ञान उससे है [महिमा] प्रताप जिसका ऐसा है।। ७-२५३।।

[शार्दूलविक्रीडित]

**भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः ।
स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।। ८-२५४।।**

[हरिगीत]

**परक्षेत्रव्यापीज्ञेय-ज्ञायक आतमा परक्षेत्रमय ।
यह मानकर निजक्षेत्र का अपलाप करते अज्ञजन ।।
जो जानकर परक्षेत्र को परक्षेत्रमय होते नहीं ।
वे स्याद्वादी निजरसी निजक्षेत्र में जीवित रहें ।। २५४।।**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि जो वस्तुको पर्यायरूप मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है, इसलिए जितना समस्त वस्तुका है आधारभूत प्रदेशपुंज, उसको जानता है ज्ञान। जानता हुआ उसकी आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान, इसका नाम परक्षेत्र है। उस क्षेत्रको ज्ञानका क्षेत्र मानता है। एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव उस क्षेत्रसे सर्वथा भिन्न है चैतन्यप्रदेशमात्र ज्ञानका क्षेत्र, उसे नहीं मानता है। उसके प्रति समाधान ऐसा है कि ज्ञानवस्तु परक्षेत्रको जानती है परन्तु अपने क्षेत्ररूप है। परका क्षेत्र ज्ञानका क्षेत्र नहीं है। वही कहते हैं—“ पशुः सीदति एव ” [पशुः] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव [सीदति] ओलोंके समान गलता है। ज्ञानमात्र जीववस्तु है ऐसा नहीं साध सकता है। [एव] निश्चयसे ऐसा ही है। कैसा है एकान्तवादी? “ भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः ” [भिन्नक्षेत्र] अपने चैतन्यप्रदेशसे अन्य है जो समस्त द्रव्योंका प्रदेशपुंज उससे [निषण्ण] उसकी आकृतिरूप परिणमा है ऐसा जो [बोध्यनियतव्यापार] ज्ञेय-ज्ञायकका अवश्य सम्बन्ध, उसमें [निष्ठः] निष्ठ है अर्थात् एतावन्मात्रको जानता है ज्ञानका क्षेत्र, ऐसा है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। “ सदा ” अनादि कालसे ऐसा ही है। और कैसा है मिथ्यादृष्टि जीव? “ अभितः बहिः पतन्तम् पुमांसं पश्यन् ” [अभितः] मूलसे लेकर [बहिः पतन्तम्] परक्षेत्ररूप परिणमा है ऐसे [पुमांसं] जीववस्तुको [पश्यन्] मानता है —अनुभवता है, ऐसा है मिथ्यादृष्टि जीव। “ पुनः स्याद्वादवेदी तिष्ठति ” [पुनः] एकान्तवादी जैसा कहता है वैसा नहीं है किन्तु [स्याद्वादवेदी] अनेकान्तवादी [तिष्ठति] जैसा मानता है वैसी वस्तु है।

भावार्थ इस प्रकार है कि वह वस्तुको साध सकता है। कैसा है स्याद्वादी? “स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः” [स्वक्षेत्र] समस्त परद्रव्यसे भिन्न निजस्वरूप चैतन्यप्रदेश उसकी [अस्तितया] सत्तारूपसे [निरुद्धरभसः] परिणमा है ज्ञानका सर्वस्व जिसका, ऐसा है स्याद्वादी। और कैसा है? “आत्म-निखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिः भवन्” [आत्म] ज्ञानवस्तुमें [निखात] ज्ञेय प्रतिबिम्बरूप है जो ऐसा [बोध्यनियतव्यापार] ज्ञेय—ज्ञायकरूप अवश्य सम्बन्ध, ऐसा [शक्तिः] जाना है ज्ञानवस्तुका सहज जिसने ऐसा [भवन्] होता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानमात्र जीववस्तु परक्षेत्रको जानता है ऐसा सहज है। परन्तु अपने प्रदेशोंमें है पराये प्रदेशोंमें नहीं है ऐसा मानता है स्याद्वादी जीव, इसलिए वस्तुको साध सकता है — अनुभव कर सकता है ॥ ८-२५४॥

[शार्दूलविक्रीडित]

स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्
तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान् सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥ ९-२५५॥

[हरिगीत]

मैं ही रहूँ निजक्षेत्र में इस भाव से परक्षेत्रगत ।
जो ज्ञेय उनके साथ ज्ञायकभाव भी परित्याग कर ॥
हों तुच्छता को प्राप्त शठ पर ज्ञानीजन परक्षेत्रगत ।
रे छोड़कर सब ज्ञेय वे निजक्षेत्र को छोड़े नहीं ॥२५५॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी जीव ऐसा है कि वस्तुको द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है, इसलिए ज्ञेयवस्तुके प्रदेशोंको जानता हुआ ज्ञानको अशुद्धपना मानता है। ज्ञानका ऐसा ही स्वभाव है— वह ज्ञानकी पर्याय है ऐसा नहीं मानता है। उसके प्रति उत्तर ऐसा कि ज्ञानवस्तु अपने प्रदेशोंमें है, ज्ञेयके प्रदेशोंको जानती है ऐसा स्वभाव है, अशुद्धपना नहीं है ऐसा मानता है स्याद्वादी। यही कहते हैं— “पशुः प्रणश्यति” [पशुः] एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव [प्रणश्यति] वस्तुमात्र साधनेसे भ्रष्ट है—अनुभव करनेसे भ्रष्ट है। कैसा होकर भ्रष्ट है? “तुच्छीभूय” तत्त्वज्ञानसे शून्य होकर। और कैसा है? “अर्थः सह चिदाकारान् वमन्” [अर्थः सह] ज्ञानगोचर हैं जो ज्ञेयके प्रदेश उनके साथ [चिदाकारान्] ज्ञानकी शक्तिको अथवा ज्ञानके प्रदेशोंको [वमन्] मूलसे वमन किया है अर्थात् उनका नास्तित्व जाना है जिसने ऐसा है। और कैसा है? “पृथग्विधपरक्षेत्रस्थितार्थोज्झनात्” [पृथग्विध] पर्यायरूप जो [परक्षेत्र] ज्ञेयवस्तुके प्रदेशोंको जानते हुए होती है उनकी आकृतिरूप ज्ञानकी परिणति उस रूप [स्थित] परिणमती जो [अर्थ] ज्ञानवस्तु उसको [उज्झनात्] ऐसा ज्ञान अशुद्ध है ऐसी बुद्धिकर

त्याग करता हुआ, ऐसा है एकान्तवादी। किसके निमित्त ज्ञेय परिणति ज्ञानको हेय करती है? “स्वक्षेत्रस्थितये” [स्वक्षेत्र] ज्ञानके चैतन्यप्रदेशकी [स्थितये] स्थिरताके निमित्त। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानवस्तु ज्ञेयके प्रदेशोंके जानपनासे रहित होवे तो शुद्ध होवे ऐसा मानता है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। उसके प्रति स्याद्वादी कहता है — “तु स्याद्वादी तुच्छतां न अनुभवति” [तु] एकान्तवादी मानता है वैसा नहीं है, स्याद्वादी मानता है वैसा है। [स्याद्वादी] अनेकान्तदृष्टि जीव [तुच्छताम्] ज्ञानवस्तु ज्ञेयके क्षेत्रको जानती है, अपने प्रदेशोंसे सर्वथा शून्य है ऐसा [न अनुभवति] नहीं मानता है। ज्ञानवस्तु ज्ञेयके क्षेत्रको जानती है, ज्ञेयक्षेत्ररूप नहीं है ऐसा मानता है। कैसा है स्याद्वादी? “त्यक्तार्थः अपि” ज्ञेयक्षेत्रकी आकृतिरूप परिणमता है ज्ञान ऐसा मानता है तो भी ज्ञान अपने क्षेत्ररूप है ऐसा मानता है। और कैसा है स्याद्वादी? “स्वधामनि वसन्” ज्ञानवस्तु अपने प्रदेशोंमें है ऐसा अनुभवता है। और कैसा है? “परक्षेत्रे नास्तितां विदन्” [परक्षेत्रे] ज्ञेयवस्तुकी आकृतिरूप परिणमा है ज्ञान उसमें [नास्तितां विदन्] नास्तिपना मानता है अर्थात् जानता है तो जानो तथापि एतावन्मात्र ज्ञानका क्षेत्र नहीं है ऐसा मानता है स्याद्वादी। और कैसा है? “परात् आकारकर्षी” परक्षेत्रकी आकृतिरूप परिणमी है ज्ञानकी पर्याय, उससे भिन्नरूपसे ज्ञानवस्तुके प्रदेशोंका अनुभव करनेमें समर्थ है, इसलिए स्याद्वाद वस्तुस्वरूपका साधक, एकान्तपना वस्तुस्वरूपका घातक। इस कारण स्याद्वाद उपादेय है।। ९-२५५।।

[शार्दूलविक्रीडित]

पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः।
अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि।। १०-२५६।।

[हरिगीत]

निजज्ञान के अज्ञान से गत काल में जाने गये।
जो ज्ञेय उनके नाशसे निज नाश माने अज्ञान।।
नष्ट हों परज्ञेय पर ज्ञायक सदा कायम रहे।
निजकाल से अस्तित्व है-यह जानते हैं विज्ञान।।२५६।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तुको पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है। तिस कारण ज्ञेयवस्तुके अतीत अनागत वर्तमानकाल सम्बन्धी अनेक अवस्थाभेद हैं, उनको जानते हुए ज्ञानके पर्यायरूप अनेक अवस्था भेद होते हैं। उनमें ज्ञेयसम्बन्धी पहला अवस्थाभेद विनशता है। उस अवस्थाभेदके विनाश होनेपर उसकी आकृतिरूप परिणमा ज्ञानपर्यायका अवस्थाभेद भी विनशता है। उसके-अवस्थाभेदके विनाश होनेपर एकान्तवादी मूलसे ज्ञानवस्तुका

विनाश मानता है। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि ज्ञानवस्तु अवस्थाभेद द्वारा विनशती है, द्रव्यरूपसे विचारनेपर अपना जानपनारूप अवस्था द्वारा शाश्वत है, न उपजती है न विनशती है ऐसा समाधान स्याद्वादी करता है। यही कहते हैं—“**पशुः सीदति एव**” [**पशुः**] एकान्तवादी [**सीदति**] वस्तुके स्वरूपको साधनेके लिए भ्रष्ट है। [**एव**] अवश्य ऐसा है। कैसा है एकान्तवादी? “**अत्यन्ततुच्छः**” वस्तुके अस्तित्वके ज्ञानसे अति ही शून्य है। और कैसा है? “**न किञ्चन अपि कलयन्**” [**न किञ्चन**] ज्ञेय अवस्थाका जानपनामात्र ज्ञान है, उससे भिन्न कुछ वस्तुरूप ज्ञानवस्तु नहीं है [**अपि**] अंशमात्र भी नहीं है। [**कलयन्**] ऐसी अनुभवरूप प्रतीति करता है। और कैसा है? “**पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्**” [**पूर्व**] किसी पहले अवसरमें [**आलम्बित**] जानकर उसकी आकृतिरूप हुई जो [**बोध्य**] ज्ञेयाकार ज्ञानपर्याय उसके [**नाशसमये**] विनाशसम्बन्धी किसी अन्य अवसरमें [**ज्ञानस्य**] ज्ञानमात्र जीव वस्तुका [**नाशं विदन्**] नाश मानता है। ऐसा है एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव। उसको स्याद्वादी सम्बोधन करता है—“**पुनः स्याद्वादवेदी पूर्णः तिष्ठति**” [**पुनः**] एकान्तदृष्टि जिस प्रकार कहता है उस प्रकार नहीं है, स्याद्वादी जिस प्रकार मानता है उस प्रकार है— [**स्याद्वादवेदी**] अनेकान्त अनुभवशील जीव [**पूर्णः तिष्ठति**] त्रिकालगोचर ज्ञानमात्र जीव वस्तु ऐसा अनुभव करता हुआ उस पर दृढ़ है। कैसा दृढ़ है? “**बाह्यवस्तुषु मुहुः भूत्वा विनश्यत्सु अपि**” [**बाह्यवस्तुषु**] समस्त ज्ञेय अथवा ज्ञेयाकार परिणमे ज्ञानपर्यायके अनेक भेद सो वे [**मुहुः भूत्वा**] अनेक पर्यायरूप होते हैं [**विनश्यत्सु अपि**] अनेक बार विनाशको प्राप्त होते हैं तो भी दृढ़ रहता है। और कैसा है? “**अस्य निजकालतः अस्तित्वं कलयन्**” [**अस्य**] ज्ञानमात्र जीव वस्तुका [**निजकालतः**] त्रिकाल शाश्वत ज्ञानमात्र अवस्थासे [**अस्तित्वं कलयन्**] वस्तुपना अथवा अस्तिपना अनुभवता है स्याद्वादी जीव॥ १०—२५६॥

[शार्दूलविक्रीडित]

**अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति ।
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुन-
स्तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥ ११-२५७ ॥**

[हरिगीत]

**अर्थावलम्बनकाल में ही ज्ञान का अस्तित्व है ।
यह मानकर परज्ञेयलोभी लोक में आकुल रहें ॥
परकाल से नास्तित्व लखकर स्यादवादी विज्ञान ।
ज्ञानमय आनन्दमय निज आत्मा में दृढ़ रहें ॥ २५७ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तुको द्रव्यमात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है, इसलिए ज्ञेयकी अनेक अवस्थाओंको जानता है ज्ञान। उनको जानता हुआ उन आकृतिरूप परिणमता है

ज्ञान। ये समस्त हैं ज्ञानकी पर्याय, उन पर्यायोंको ज्ञानका अस्तित्व मानता है मिथ्यादृष्टि जीव। उसके प्रति समाधान इस प्रकार है कि ज्ञेयकी आकृतिरूप परिणमती हुई जितनी ज्ञानकी पर्याय है उनसे ज्ञानका अस्तित्व नहीं है ऐसा कहते हैं—“पशुः नश्यति” [पशुः] एकान्तवादी [नश्यति] वस्तुस्वरूपको साधनेसे भ्रष्ट है। कैसा है एकान्तवादी? “ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा बहिः भ्राम्यन्” [ज्ञेय] समस्त द्रव्यरूप [आलम्बन] ज्ञेयके अवसर ज्ञानकी सत्ता ऐसा निश्चयरूप [लालसेन] है अभिप्राय जिसका ऐसे [मनसा] मनसे [बहिः भ्राम्यन्] स्वरूपसे बाहर उत्पन्न हुआ है भ्रम जिसको ऐसा है। और कैसा है? “अर्थालम्बनकाले ज्ञानस्य सत्त्वं कलयन् एव” [अर्थ] जीवादि समस्त ज्ञेयवस्तुको [आलम्बन] जानते [काले] समय ही [ज्ञानस्य] ज्ञानमात्र वस्तुकी [सत्त्वं] सत्ता है [कलयन्] ऐसा अनुभव करता है। [एव] ऐसा ही है। उसके प्रति स्याद्वादी वस्तुकी सिद्धि करता है —“पुनः स्याद्वादवेदी तिष्ठति” [पुनः] एकान्तवादी जैसा मानता है वैसा नहीं है, जैसा स्याद्वादी मानता है वैसा है। [स्याद्वादवेदी] अनेकान्तवादी [तिष्ठति] वस्तुस्वरूप साधनेके लिए समर्थ है। कैसा है स्याद्वादी? “अस्य परकालतः नास्तित्वं कलयन्” [अस्य] ज्ञानमात्र जीववस्तुका [परकालतः] ज्ञेयावस्थाके जानपनेसे [नास्तित्वं] नास्तिपना है ऐसी [कलयन्] प्रतीति करता है स्याद्वादी। और कैसा है? “आत्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन्” [आत्म] ज्ञानमात्र जीववस्तुमें [निखात] अनादिसे एक वस्तुरूप [नित्य] अविनश्वर [सहज] उपाय बिना द्रव्यके स्वभावरूप ऐसी जो [ज्ञान] जानपनारूप शक्ति तद्रूप [एकपुञ्जीभवन्] मैं जीववस्तु हूँ, अविनश्वर ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा अनुभव करता हुआ। ऐसा है स्याद्वादी। ११-२५७।

[शार्दूलविक्रीडित]

**विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः।
स्वस्मान्नित्यतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तो भवन्
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः॥ १२-२५८॥**

[हरिगीत]

परभाव से निजभाव का अस्तित्व माने अज्ञजन।
पर में रमें जग में भ्रमे निज आत्मा को भूलकर॥
पर भिन्न हो परभाव से ज्ञानी रमें निज भाव में।
बस इसलिए इस लोक में वे सदाही जीवित रहें॥२५८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है कि वस्तुको पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है, इसलिए जितनी समस्त ज्ञेय वस्तुओंके जितने हैं शक्तिरूप स्वभाव उनको जानता है ज्ञान। जानता हुआ उनकी आकृतिरूप परिणमता है। इसलिए ज्ञेयकी शक्तिकी आकृतिरूप हैं

ज्ञानकी पर्याय, उनसे ज्ञानवस्तुकी सत्ताको मानता है। उनसे भिन्न है अपनी शक्तिकी सत्तामात्र उसे नहीं मानता है। ऐसा है एकान्तवादी। उसके प्रति स्याद्वादी समाधान करता है कि ज्ञानमात्र जीववस्तु समस्त ज्ञेयशक्तिको जानती है ऐसा सहज है। परन्तु अपनी ज्ञानशक्तिसे अस्तिरूप है ऐसा कहते हैं—
 “पशुः नश्यति एव” [पशुः] एकान्तवादी [नश्यति] वस्तुकी सत्ताको साधनेसे भ्रष्ट है। [एव] निश्चयसे। कैसा है एकान्तवादी? “बहिः वस्तुषु नित्यं विश्रान्तः” [बहिः वस्तुषु] समस्त ज्ञेयवस्तुकी अनेक शक्तिकी आकृतिरूप परिणमी है ज्ञानकी पर्याय, उसमें [नित्यं विश्रान्तः] सदा विश्रान्त है अर्थात् पर्यायमात्रको जानता है ज्ञानवस्तु, ऐसा है निश्चय जिसका ऐसा है। किस कारणसे ऐसा है? “परभावभावकलनात्” [परभाव] ज्ञेयकी शक्तिकी आकृतिरूप है ज्ञानकी पर्याय उसमें [भावकलनात्] अवधार किया है ज्ञानवस्तुका अस्तिपना ऐसे झूठे अभिप्रायके कारण। और कैसा है एकान्तवादी? “स्वभावमहिमनि एकान्तनिश्चेतनः” [स्वभाव] जीवकी ज्ञानमात्र निज शक्तिके [महिमनि] अनादिनिधन शाश्वत प्रतापमें [एकान्तनिश्चेतनः] एकान्त निश्चेतन है अर्थात् उससे सर्वथा शून्य है। भावार्थ इस प्रकार है कि स्वरूपसत्ताको नहीं मानता है ऐसा है एकान्तवादी, उसके प्रति स्याद्वादी समाधान करता है—“तु स्वाद्वादी नाशम् न एति” [तु] एकान्तवादी मानता है उस प्रकार नहीं है, स्याद्वादी मानता है उस प्रकार है। [स्याद्वादी] अनेकान्तवादी [नाशम्] विनाशको [न एति] नहीं प्राप्त होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानमात्र वस्तुकी सत्ताको साध सकता है। कैसा है अनेकान्तवादी जीव? “सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः” [सहज] स्वभावशक्तिमात्र ऐसा जो अस्तित्व उस सम्बन्धी [स्पष्टीकृत] दृढ़ किया है [प्रत्ययः] अनुभव जिसने ऐसा है। और कैसा है? “सर्वस्मात् नियतस्वभावभवनज्ञानात् विभक्तः भवन्” [सर्वस्मात्] जितने हैं [नियतस्वभाव] अपनी अपनी शक्ति विराजमान ऐसे जो ज्ञेयरूप जीवादि पदार्थ उनकी [भवन] सत्ताकी आकृतिरूप परिणमी है ऐसी [ज्ञानात्] जीवके ज्ञानगुणकी पर्याय, उनसे [विभक्तः भवन्] भिन्न है ज्ञानमात्र सत्ता ऐसा अनुभव करता हुआ ॥ १२—२५८ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः
 सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
 स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
 दारुढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥ १३-२५९ ॥

[हरिगीत]

सब ज्ञेय ही है आतमा यह मानकर स्वच्छन्द हो ।
 परभाव में ही नित रमें बस इसलिए ही नष्ट हों ॥
 पर स्यादवादी तो सदा आरुढ़ है निजभाव में ।
 विरहित सदा परभाव से विलसे सदा निष्कम्प हो ॥ २५९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा है जो वस्तुको द्रव्यमात्र मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है। इसलिए जितनी हैं ज्ञेयवस्तु, उनकी अनन्त हैं शक्ति, उनको जानता है ज्ञान; जानता हुआ ज्ञेयकी शक्तिकी आकृतिरूप परिणमता है, ऐसा देखकर जितनी ज्ञेयकी शक्ति उतनी ज्ञानवस्तु ऐसा मानता है मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी। उसके प्रति ऐसा समाधान करता है स्याद्वादी कि ज्ञानमात्र जीववस्तुका ऐसा स्वभाव है कि समस्त ज्ञेयकी शक्तिको जाने, जानता हुआ आकृतिरूप परिणमता है। परन्तु ज्ञेयकी शक्ति ज्ञेयमें है, ज्ञानवस्तुमें नहीं है। ज्ञानकी जाननेरूप पर्याय है, इसलिए ज्ञानवस्तुकी सत्ता भिन्न है ऐसा कहते हैं—“**पशुः स्वैरं क्रीडति**” [**पशुः**] मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी [**स्वैरं क्रीडति**] हेय उपादेय ज्ञानसे रहित होकर स्वेच्छाचाररूप प्रवर्तता है। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञेयकी शक्तिको ज्ञानसे भिन्न नहीं मानता है। जितनी ज्ञेयकी शक्ति है उसे ज्ञानमें मानकर नाना शक्तिरूप ज्ञान है, ज्ञेय है ही नहीं ऐसी बुद्धिरूप प्रवर्तता है। कैसा है एकान्तवादी? “**शुद्धस्वभावच्युतः**” [**शुद्धस्वभाव**] ज्ञानमात्र जीववस्तुसे [**च्युतः**] च्युत है अर्थात् उसको विपरीतरूप अनुभवता है। विपरीतपना क्यों है? “**सर्वभावभवनं आत्मनि अध्यास्य**” [**सर्व**] जितनी जीवादि पदार्थरूप ज्ञेयवस्तु उनके [**भाव**] शक्तिरूप गुणपर्याय अशंभेद उनकी [**भवनं**] सत्ताको [**आत्मनि**] ज्ञानमात्र जीववस्तुमें [**अध्यास्य**] प्रतीति कर। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञान गोचर है समस्त द्रव्य की शक्ति। उनकी आकृतिरूप परिणमा है ज्ञान, इसलिए सर्व शक्ति ज्ञानकी है ऐसा मानता है। ज्ञेयकी तथा ज्ञानकी भिन्न सत्ता नहीं मानता है। और कैसा है? “**सर्वत्र अपि अनिवारितः गतभयः**” [**सर्वत्र**] स्पर्श रस गन्ध वर्ण शब्द ऐसा इन्द्रियविषय तथा मन वचन काय तथा नाना प्रकार ज्ञेयकी शक्ति, इनमें [**अपि**] अवश्य कर [**अनिवारितः**] मैं शरीर, मैं मन, मैं वचन, मैं काय, मैं स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द इत्यादि परभावको अपना जानकर प्रवर्तता है; [**गतभयः**] मिथ्यादृष्टिके कोई भाव परभाव नहीं है जिससे डर होवे; ऐसा है एकान्तवादी।

उसके प्रति समाधान करता है स्याद्वादी —“ तु स्याद्वादी विशुद्ध एव लसति ” [तु] जिस प्रकार मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी मानता है उस प्रकार नहीं है, जिस प्रकार स्याद्वादी मानता है उस प्रकार है — [स्याद्वादी] अनेकान्तवादी जीव [विशुद्धः एव लसति] मिथ्यात्वसे रहित होकर प्रवर्तता है। कैसा है स्याद्वादी ? “ स्वस्य स्वभावं भरात् आरूढ ” [स्वस्य स्वभावं] ज्ञानवस्तुकी जानपनामात्र शक्ति उसकी [भरात् आरूढः] अति ही प्रगाढ़रूपसे प्रतीति करता है। और कैसा है ? “ परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ” [परभाव] समस्त ज्ञेयकी अनेक शक्तिकी आकृतिरूप परिणमा है ज्ञान, इस रूप [भाव] मानता है जो ज्ञानवस्तुका अस्तित्व, तद्रूप [विरह] विपरीत बुद्धिके त्यागसे हुई है [व्यालोक] सांची दृष्टि, उससे हुआ है [निष्कम्पितः] साक्षात् अमिट अनुभव जिसको, ऐसा है स्याद्वादी ॥ १३-२५९ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं
तङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् जीवति ॥ १४-२६० ॥

[हरिगीत]

उत्पाद-व्यय के रूप में बहते हुए परिणाम लख ।
क्षणभंग के पड़ संग निज का नाश करते अज्ञजन ॥
चैतन्यमय निज आत्मा क्षणभंग है पर नित्य भी ।
यह जानकर जीवित रहें नित स्याद्वादी विज्ञजन ॥ २६० ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि ऐसा है जो वस्तुको पर्यायमात्र मानता है, द्रव्यरूप नहीं मानता है, इसलिए अखंड धाराप्रवाहरूप परिणमता है ज्ञान, उसका होता है प्रतिसमय उत्पाद-व्यय। इसलिए पर्यायका विनाश होनेपर जीवद्रव्यका विनाश मानता है। उसके प्रति स्याद्वादी ऐसा समाधान करता है कि पर्यायरूपसे देखनेपर जीववस्तु उपजती है विनष्ट होती है, द्रव्यरूपसे देखनेपर जीव सदा शाश्वत है। ऐसा कहते हैं— “ पशुः नश्यति ” [पशुः] एकान्तवादी जीव [नश्यति] शुद्ध जीववस्तुको साधनेसे भ्रष्ट है। कैसा है एकान्तवादी ? “ प्रायः क्षणभङ्गसङ्गपतितः ” [प्रायः] एकान्तरूपसे [क्षणभङ्ग] प्रतिसमय होनेवाले पर्यायमें विनाशसे [संज्ञपतितः] उस पर्यायके साथ-साथ वस्तुका विनाश मानता है। किस कारणसे ?

“ प्रादुर्भावविराममुद्रित-वहज्ज्ञानांशनानात्मना निर्ज्ञानात् ” [प्रादुर्भाव] उत्पाद [विराम] विनाशसे [मुद्रित] संयुक्त [वहत्] प्रवाहरूप जो [ज्ञानांश] ज्ञानगुणके अविभागप्रतिच्छेद उनके कारण हुए [नानात्मना] अनेक अवस्थाभेदके [निर्ज्ञानात्] जानपनेके कारण। ऐसा है एकान्तवादी, उसके प्रति स्याद्वादी प्रतिबोधता है— “ तु स्याद्वादी जीवति ” [तु] जिस प्रकार एकान्तवादी कहता है उस प्रकार एकान्तपना नहीं है। [स्याद्वादी] अनेकान्तवादी [जीवति] वस्तुको साधनेके लिए समर्थ है। कैसा है स्याद्वादी? “ चिद्वस्तु नित्योदितं परिमृशन् ” [चिद्वस्तु] ज्ञानमात्र जीववस्तुको [नित्योदितं] सर्वकाल शाश्वत ऐसा [परिमृशन्] प्रत्यक्षरूपसे आस्वादरूप अनुभवता हुआ। किस रूपसे? “ चिदात्मना ” ज्ञानस्वरूप है जीववस्तु उसरूपसे। और कैसा है स्याद्वादी? “ टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमज्ञानं भवन् ” [टङ्कोत्कीर्ण] सर्व काल एकरूप ऐसे [घनस्वभाव] अमिट लक्षण से है [महिमा] प्रसिद्धि जिसकी ऐसी [ज्ञानं] जीववस्तुको [भवन्] आप अनुभवता हुआ ॥ १४-२६० ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया
वाञ्छत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किञ्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥ १५-२६१ ॥

[हरिगीत]

है बोध जो टङ्कोत्कीर्ण विशुद्ध उसकी आश से ।
चिदपरिणति निर्मल उछलती से सतत् इन्कार कर ॥
अज्ञजन हों नष्ट किन्तु स्याद्वादी विज्ञजन ।
अनित्यता में व्याप्त होकर नित्य का अनुभव करें ॥ २६१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि कोई मिथ्यादृष्टि एकान्तवादी ऐसा है जो वस्तुको द्रव्यरूप मानता है, पर्यायरूप नहीं मानता है, इस कारण समस्त ज्ञेयको जानता हुआ ज्ञेयाकार परिणमता है ज्ञान उसको अशुद्धपना मानता है एकान्तवादी, ज्ञानको पर्यायपना नहीं मानता है। उसका समाधान स्याद्वादी करता है कि ज्ञानवस्तुको द्रव्यरूपसे देखनेपर नित्य है, पर्यायरूपसे देखनेपर अनित्य है, इसलिए समस्त ज्ञेयको जानता है ज्ञान, जानता हुआ ज्ञेयकी आकृतिरूप ज्ञानकी पर्याय परिणमती है ऐसा ज्ञानका स्वभाव है, अशुद्धपना नहीं है। ऐसा कहते हैं — “ पशुः उच्छलदच्छचित्परिणतेः भिन्नं किञ्चन वाञ्छति ” [पशुः] एकान्तवादी [उच्छलत्] ज्ञेयका ज्ञाता होकर पर्यायरूप परिणमता है उत्पादरूप तथा व्ययरूप ऐसी [अच्छ] अशुद्धपनासे रहित ऐसी जो [चित्परिणतेः] ज्ञानगुणकी पर्याय उससे [भिन्नं] ज्ञेयको जाननेरूप परिणतिके बिना वस्तुमात्र कूटस्थ होकर रहे

[किञ्चन वाञ्छति] ऐसा कुछ विपरीतपना मानता है एकान्तवादी। ज्ञानको ऐसा करना चाहता है—
 “ टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया ” [टङ्कोत्कीर्ण] सर्व काल एकसमान, [विशुद्ध]
 समस्त विकल्पसे रहित [बोध] ज्ञानवस्तुके [विसराकार] प्रवाहरूप [आत्मतत्त्व] जीववस्तु हो
 [आशया] ऐसा करनेकी अभिलाषा करता है। उसका समाधान करता है स्याद्वादी — “ स्याद्वादी
 ज्ञानं नित्यं उज्ज्वलं आसादयति ” [स्याद्वादी] अनेकान्तवादी [ज्ञानं] ज्ञानमात्र जीववस्तुको
 [नित्यं] सर्व काल एकसमान [उज्ज्वलं] समस्त विकल्पसे रहित [आसादयति] स्वादरूप
 अनुभवता है। “ अनित्यतापरिगमे अपि ” यद्यपि उसमें पर्याय द्वारा अनित्यपना घटितहोता है। कैसा
 है स्याद्वादी ? “ तत् चिद्वस्तु अनित्यतां परिमृशन् ” [तत्] पूर्वोक्त [चिद्वस्तु] ज्ञानमात्र जीवद्रव्यको
 [अनित्यतां परिमृशन्] विनश्वररूप अनुभवता हुआ। किस कारणसे ? “ वृत्तिक्रमात् ” [वृत्ति]
 पर्यायके [क्रमात्] कोई पर्याय होती है कोई पर्याय नाशको प्राप्त होती है ऐसे भावके कारण।
 भावार्थ इस प्रकार है कि पर्याय द्वारा जीववस्तु अनित्य है ऐसा अनुभवता है स्याद्वादी ॥ १५-२६१ ॥

[अनुष्टुप]

**इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
 आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥ १६-२६२ ॥**

[दोहा]

**मूढ़जनों को इस तरह ज्ञानमात्र समझाय ।
 अनेकान्त अनुभूति में उतरा आत्ममराय ॥ २६२ ॥**

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ इति अनेकान्तः स्वयम् अनुभूयते एव ” [इति] पूर्वोक्त प्रकार
 से [अनेकान्तः] स्याद्वाद [स्वयम्] अपने प्रतापसे बलात्कार ही [अनुभूयते] अङ्गीकाररूप होता है,
 [एव] अवश्यकर। किनको अङ्गीकार होता है ? “ अज्ञानविमूढानां ” [अज्ञान] पूर्वोक्त एकान्तवादमें
 [विमूढानां] मग्न हुए हैं जो मिथ्यादृष्टि जीव उनको। भावार्थ इस प्रकार है कि स्याद्वाद ऐसा प्रमाण
 है जिसे सुनते मात्र ही एकान्तवादी भी अङ्गीकार करते हैं। कैसा है स्याद्वाद ? “ आत्मतत्त्वम्
 ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ” [आत्मतत्त्वम्] जीवद्रव्यको [ज्ञानमात्रं] चेतना सर्वस्व [प्रसाधयन्] ऐसा
 प्रमाण करता हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञानमात्र जीववस्तु है ऐसा स्याद्वाद साध सकता है,
 एकान्तवादी नहीं साध सकता ॥ १६-२६२ ॥

[अनुष्टुप]

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ १७-२६३ ॥

[दोहा]

अनेकान्त जिनदेव का शासन रहा अलंघ्य ।
वस्तु व्यवस्था थापकर थापित स्वयं प्रसिद्ध ॥ २६३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “एवं अनेकान्तः व्यवस्थितः” [एवं] इतना कहनेसे [अनेकान्तः] स्याद्वादको [व्यवस्थितः] कहनेका आरम्भ किया था सो पूर्ण हुआ। कैसा है अनेकान्त? “स्वं स्वयम् व्यवस्थापयन्” [स्वं] अनेकान्तपनेको [स्वयम्] अनेकान्तपनेके द्वारा [व्यवस्थापयन्] बलजोरीसे प्रमाण करता हुआ। किसके साथ? “तत्त्वव्यवस्थित्या” जीवके स्वरूपको साधनेके साथ। कैसा है अनेकान्त? “जैनम्” सर्वज्ञवीतराग प्रणीत है। और कैसा है? “अलंघ्यशासनं” अमिट है उपदेश जिसका ऐसा है ॥ १७-२६३ ॥



खंडान्वय सहित अर्थ:- “ इह तत् चिद् वस्तु द्रव्यपर्यायमयं अस्ति ” [इह] विद्यमान [तत्] पूर्वोक्त [चिद् वस्तु] ज्ञानमात्र जीवद्रव्य [द्रव्यपर्यायमयं अस्ति] द्रम-गुण-पर्यायरूप है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीव द्रव्यका द्रव्यपना कहा। कैसा है जीवद्रव्य ? “ एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं ” [एवं] पूर्वोक्त प्रकार [क्रम] पहला विनशे तो अगला उपजे [अक्रम] विशेषणरूप है परन्तु न उपजे न विनशे, इस रूप है [विवर्ति] अंशरूप भेदपद्धति उससे [विवर्त] प्रवर्त रहा है [चित्रं] परम अचम्भा जिसमें ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि क्रमवर्ती पर्याय अक्रमवर्ती गुण इस प्रकार गुण-पर्यायमय है जीववस्तु। और कैसा है ? “ यः भावः इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरः अपि ज्ञानमात्रमयतां न जहाति ” [यः भावः] ज्ञानमात्र जीववस्तु [इत्यादि] द्रव्य गुण पर्याय इत्यादिसे लेकर [अनेकनिजशक्ति] अस्तित्व वस्तुत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व सूक्ष्मत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व सप्रदेशत्व अमूर्तत्व ऐसी है। अनन्त गणनारूप द्रव्यकी सामर्थ्य उससे [सुनिर्भरः] सर्व काल भरितावस्थ है। [अपि] ऐसा है तथापि [ज्ञानमात्रमयतां न जहाति] ज्ञानमात्र भावको नहीं त्यागता है। भावार्थ इस प्रकार है कि जो गुण है अथवा पर्याय है वह सर्व चेतनारूप है, इसलिए चेतनामात्र जीववस्तु है, प्रमाण है। भावार्थ इस प्रकार है कि पूर्वमें हूँडी लिखी थी कि उपाय तथा उपेय कहूँगा। उपाय — जीववस्तुकी प्राप्तिका साधन। उपेय — साध्यवस्तु। उसमें प्रथम ही साध्यरूप वस्तुका स्वरूप कहा, साधन कहते हैं॥ १-२६४॥

[वसन्ततिलका]

नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु-
 तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः ।
 स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो
 ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः ॥ २-२६५ ॥

[रोला]

अनेकान्त की दिव्यदृष्टि से स्वयं देखते ।
 वस्तुतत्त्व की उक्त व्यवस्था अरे सन्तजन ॥
 स्याद्वाद की अधिकाधिक शुद्धि को लख अर ।
 नहीं लांघकर जिननीति को ज्ञानी होते ॥ २६५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ सन्तः इति ज्ञानीभवन्ति ” [सन्तः] सम्यग्दृष्टि जीव [इति] इस प्रकार [ज्ञानीभवन्ति] अनादि कालसे कर्मबन्ध संयुक्त थे साम्प्रत सकल कर्मोंका विनाश कर मोक्षपदको प्राप्त होते हैं। कैसे हैं सन्त ? “ जिननीतिमलंघयन्तः ” [जिन] केवलीका [नीतिम्] कहा हुआ जो मार्ग [अलंघयन्तः] उसी मार्ग पर चलते हैं, उस मार्गको उल्लंघन कर अन्य मार्ग पर नहीं चलते हैं। कैसा करके ? “ अधिकाम् स्याद्वादशुद्धिम् अधिगम्य ” [अधिकाम्] प्रमाण है ऐसा जो [स्याद्वादशुद्धिम्] अनेकान्तरूप वस्तुका उपदेश उससे हुआ है ज्ञानका निर्मलपना उसकी [अधिगम्य] सहायता पाकर। कैसे हैं सन्त ? “ वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिम् स्वयम् एव प्रविलोकयन्तः ” [वस्तु] जीवद्रव्यका [तत्त्व] जैसा है स्वरूप उसके [व्यवस्थितिम्] द्रव्यरूप तथा पर्यायरूपको [स्वयम् एव प्रविलोकयन्तः] साक्षात् प्रत्यक्षरूपसे देखते हैं। कैसे नेत्रसे देखते हैं ? “ नैकान्तसङ्गतदृशा ” [नैकान्त] स्याद्वादसे [सङ्गत] मिले हुए [दृशा] लोचनसे ॥ २-२६५ ॥

[वसन्ततिलका]

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां
भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥ ३-२६६ ॥

[वसन्ततिलका]

रे ज्ञानमात्र निजभाव अकंपभूमि ।
को प्राप्त करते जो अपनीतमोही ॥
साधकपने को पा वे सिद्ध होते ।
अर अज्ञ इसके बिना परिभ्रमण करते ॥ २६६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ ते सिद्धाः भवन्ति ” [ते] ऐसे हैं जो जीव वे [सिद्धाः भवन्ति] सकल कर्मकलंकसे रहित मोक्षपदको प्राप्त होते हैं। कैसे होकर? “ साधकत्वम् अधिगम्य ” शुद्ध जीवका अनुभवगर्भित है सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्ररूप कारण रत्नत्रय, उसरूप परिणाम है आत्मा ऐसा होकर। और कैसे हैं वे? “ ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीम् भूमिं श्रयन्ति ” [ये] जो कोई [ज्ञानमात्र] चेतना है सर्वस्व जिसका ऐसे [निजभाव] जीवद्रव्यके अनुभवरूप [मयीम्] कोई विकल्प नहीं है जिसमें ऐसी [भूमिं] मोक्षकी कारणरूप अवस्थाको [श्रयन्ति] प्राप्त होते हैं—एकाग्र होकर उस भूमिरूप परिणामते हैं। कैसी है भूमि? “ अकम्पां ” निर्वन्द्वरूप सुखगर्भित है। कैसे हैं वे जीव? “ कथमपि अपनीतमोहाः ” [कथम् अपि] अनन्त काल भ्रमण करते हुए काललब्धिको पाकर [अपनीत] मिटा है [मोहाः] मिथ्यात्वरूप विभावपरिणाम जिनका ऐसे हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि ऐसा जीव मोक्षका साधक होता है। “ तु मूढाः अमूम अनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ” [तु] कहे हुए अर्थको दृढ़ करते हैं— [मूढाः] नहीं है जीववस्तुका अनुभव जिनको ऐसे जो कोई मिथ्यादृष्टि जीव हैं वे [अमूम] शुद्ध जीवस्वरूपके अनुभवरूप अवस्थाको [अनुपलभ्य] पाये बिना [परिभ्रमन्ति] चतुर्गति संसारमें रूलते हैं। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध जीव स्वरूपका अनुभव मोक्षका मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं है ॥ ३-२६६ ॥

[वसन्ततिलका]

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां
 यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।
 ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-
 पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥ ४-२६७॥

[वसन्ततिलका]

स्याद्वादकौशल तथा संयम सुनिश्चल, से ही सदा जो निज में जमे हैं॥
 वे ज्ञान एवं क्रिया की मित्रता से, सुपात्र हो पाते भूमिका को॥२६७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ऐसी अनुभव भूमिकाको कैसा जीव योग्य है ऐसा कहते हैं—“ सः एकः इमां भूमिम् श्रयति ” [सः] ऐसा [एकः] यही एक जातिका जीव [इमां भूमिम्] प्रत्यक्ष शुद्ध स्वरूपके अनुभवरूप अवस्थाके [श्रयति] अवलंबनके योग्य है, अर्थात् ऐसी अवस्थारूप परिणमनेका पात्र है। कैसा है वह जीव ? “ यः स्वम् अहरहः भावयति ” [यः] जो कोई सम्यग्दृष्टि जीव [स्वम्] जीवके शुद्ध स्वरूपको [अहरहः भावयति] निरन्तर अखण्ड धाराप्रवाहरूप अनुभवता है। कैसा करके अनुभवता है ? “ स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां ” [स्याद्वाद] द्रव्यरूप तथा पर्यायरूप वस्तुके अनुभवका [कौशल] विपरीतपनासे रहित वस्तु जिस प्रकार है उस प्रकारसे अंगीकार तथा [सुनिश्चलसंयमाभ्यां] समस्त रागादि अशुद्ध परिणतिका त्याग इन दोनोंकी सहायतासे। और कैसा है ? “ इह उपयुक्तः ” [इह] अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवमें [उपयुक्तः] सर्व काल एकाग्ररूपसे तल्लीन है। और कैसा है ? “ ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः ” [ज्ञाननय] शुद्ध जीवके स्वरूपका अनुभव मोक्षमार्ग है, शुद्ध स्वरूपके अनुभव बिना जो कोई क्रिया है वह सर्व मोक्षमार्गसे शून्य है [क्रियानय] रागादि अशुद्ध परिणामका त्याग प्राप्त हुए बिना जो कोई शुद्ध स्वरूपका अनुभव कहता है वह समस्त झूठा है; अनुभव नहीं है, कुछ ऐसा ही अनुभवका भ्रम है, कारण कि शुद्ध स्वरूपका अनुभव अशुद्ध रागादि परिणामको मेटकर होता है। ऐसा है जो ज्ञाननय तथा क्रियानय उनका है जो [परस्परतीव्रमैत्री] परस्पर अत्यंत मित्रपना- शुद्ध स्वरूपका अनुभव है सो रागादि अशुद्ध परिणतिको मेटकर है, रागादि अशुद्ध परिणतिका विनाश शुद्ध स्वरूपके अनुभवको लिए हुए है, ऐसा अत्यन्त मित्रपना - उनका [पात्रीकृतः] पात्र हुआ है अर्थात् ज्ञाननय क्रियानयका एक स्थानक है। भावार्थ इस प्रकार है कि दोनों नयोके अर्थसे विराजमान है॥ ४-२६७॥

[वसंततिलका]

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः
 शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
 आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूप-
 स्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ ५-२६८ ॥

[वसन्ततिलका]

उदितप्रभा से जो सुप्रभात करता, चित्पिण्ड जो है खिला निज रमणता से ।
 जो अस्खलित है आनन्दमय वह, होता उदित अद्भुत अचल आतम ॥ २६८ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तस्य एव आत्मा उदयति” [तस्य] पूर्वोक्त जीवको [एव] अवश्यकर [आत्मा] जीवपदार्थ [उदयति] सकल कर्मका विनाश कर प्रगट होता है, अनन्त चतुष्टयरूप होता है। और कैसा प्रगट होता है? “अचलार्चिः” सर्व काल एकरूप है केवलज्ञान केवलदर्शन तेजपुञ्ज जिसका ऐसा है। और कैसा है? “चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः” [चित्पिण्ड] ज्ञानपुञ्जके [चण्डिम] प्रतापकी [विलासि] एकरूप परिणति ऐसा जो [विकास] प्रकाशस्वरूप उसका [हासः] निधान है। और कैसा है? “शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः” [शुद्धप्रकाश] रागादि अशुद्ध परिणतिको मेटकर हुआ जो शुद्धत्वरूप परिणाम उसकी [भर] बार बार जो शुद्धत्वरूप परिणति उससे [निर्भर] हुआ है [सुप्रभातः] साक्षात् उद्योत जिसमें ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि जिस प्रकार रात्रिसम्बन्धी अन्धकारके मिटनेपर दिवस उद्योतस्वरूप प्रगट होता है उसी प्रकार मिथ्यात्व राग द्वेषरूप अशुद्ध परिणति मेटकर शुद्धत्व परिणाम बिराजमान जीवद्रव्य प्रगट होता है। और कैसा है? “आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपः” [आनन्द] द्रव्यके परिणामरूप अतीन्द्रिय सुखके कारण [सुस्थित] जो आकुलतासे रहितपना उससे [सदा] सर्व काल [अस्खलित] अमिट है [एकरूपः] तद्रूप सर्वस्व जिसका ऐसा है ॥ ५-२६८ ॥

[वसंततिलका]

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
 शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
 किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
 र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ ६-२६९ ॥

[वसन्ततिलका]

महिमा उदित शुद्धस्वभाव की नित, स्याद्वाददीपित लसत् सद्ज्ञान में जब ।
 तब बंध-मोक्ष मग में आपतित भावों, से क्या प्रयोजन है तुमही बताओ ॥ २६९ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “अयं स्वभावः परम् स्फुरतु” [अयं स्वभावः] विद्यमान है जो जीवपदार्थ [परम् स्फुरतु] यही एक अनुभवरूप प्रगट होओ। कैसा है? “नित्योदयः” सर्व काल एकरूप प्रगट है। और कैसा है? “इति मयि उदिते अन्यभावैः किम्” [इति] पूर्वोक्त विधिसे [मयि उदिते] मैं शुद्ध जीवस्वरूप हूँ ऐसा अनुभवरूप प्रत्यक्ष होनेपर [अन्यभावैः] अनेक हैं जो विकल्प उनसे [किम्] कौन प्रयोजन है? कैसे हैं अन्य भाव? “बन्धमोक्षपथपातिभिः” [बन्धपथ] मोह—राग—द्वेष बन्धका कारण हैं, [मोक्षपथ] सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसे जो पक्ष उनमें [पातिभिः] पड़नेवाले हैं अर्थात् अपने अपने पक्षको कहते हैं, ऐसे हैं अनेक विकल्परूप। भावाथ इस प्रकार है कि ऐसे विकल्प जितने काल तक होते हैं उतने काल तक शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता। शुद्ध स्वरूपका अनुभव होनेपर ऐसे विकल्प विद्यमान ही नहीं होते, विचार किसका किया जाय। कैसा हूँ मैं? “स्याद्वाददीपितलसन्महसि” [स्याद्वाद] द्रव्यरूप तथा पर्यायरूपसे [दीपित] प्रगट हुआ है [लसत्] प्रत्यक्ष [महसि] ज्ञानमात्र स्वरूप जिसका। और कैसा हूँ? “प्रकाशे” सर्व काल उद्योतस्वरूप हूँ। और कैसा हूँ? “शुद्धस्वभावमहिमनि” [शुद्धस्वभाव] शुद्धपनाके कारण [महिमनि] प्रगटपना है जिसका।।। ६-२६९।।

[वसंततिलका]

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा

सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः।

तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेक-

मेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि।। ७-२७०।।

[वसंततिलका]

निज शक्तियों का समुदाय आत्म, विनष्ट होता नयदृष्टियों से।

खंड-खंड होकर खण्डित नहीं मैं, एकान्त शान्त चिन्मात्र अखण्ड हूँ मैं।।२७०।।

खंडान्वय सहित अर्थ:- “तस्मात् अहं चित् महः अस्मि” [तस्मात्] तिस कारणसे [अहं] मैं [चित् महः अस्मि] ज्ञानमात्र प्रकाशपुञ्ज हूँ। और कैसा हूँ? “अखण्डम्” अखंडितप्रदेश हूँ। और कैसा हूँ? “अनिराकृतखंडम्” किसीके कारण अखंड नहीं हुआ हूँ, सहज ही अखण्डरूप हूँ। और कैसा हूँ? “एकम्” समस्त विकल्पोसे रहित हूँ। और कैसा हूँ? “एकान्तशान्तम्” [एकान्त] सर्वथा प्रकार [शान्तम्] समस्त परद्रव्योंसे रहित हूँ। और कैसा हूँ? “अचलं” अपने स्वरूपसे सर्व कालमें अन्यथा नहीं हूँ। ऐसा चैतन्यस्वरूप मैं हूँ। जिस कारणसे “अयम् आत्मा नयेक्षणखण्ड्यमानः सद्यः प्रणश्यति” [अयम् आत्मा] यह जीववस्तु [नय] द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक ऐसे अनेक विकल्प वे हुए [ईक्षण] अनेक लोचन उनके द्वारा [खण्ड्यमानः] अनेकरूप देखा हुआ [सद्यः प्रणश्यति] खण्ड खण्ड होकर मूलसे खोज मिटा—नाशको प्राप्त होता है। इतने नय एकमेंसे कैसे घटित होते हैं? उत्तर इस प्रकार है —

क्योंकि ऐसा है जीवद्रव्य—‘‘ चित्रात्मशक्तिसमुदायमयः ’’ [चित्र] अनेक प्रकार अस्तिपना नास्तिपना एकपना अनेकपना ध्रुवपना अध्रुवपना ईत्यादि अनेक हैं ऐसे जो [आत्मशक्ति] जीवद्रव्यके गुण उमका जो [समुदाय] द्रव्यसे अभिन्नपना [मयः] उसमय अर्थात् ऐसा है जीवद्रव्य; इसलिए एक शक्तिको कहता है एक नय, किन्तु अनन्त शक्तियाँ हैं, इस कारण एक एक नय करते हुए अनन्त नय होते हैं। ऐसा करते हुए अनेक विकल्प उपजते हैं, जीवका अनुभव खो जाता है। इसलिए निर्विकल्प ज्ञान वस्तुमात्र अनुभव करने योग्य है।। ७—२७०।।

न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि।*

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ ज्ञानमात्र भावः अस्मि ’’ [भावः अस्मि] मैं वस्तुस्वरूप हूँ। और कैसा हूँ? ‘‘ ज्ञानमात्र ’’ चेतनामात्र है सर्वस्व जिसका ऐसा हूँ। ‘‘ एकः ’’ समस्त भेद—विकल्पोंसे रहित हूँ। और कैसा हूँ? ‘‘ सुविशुद्धः ’’ द्रव्यकर्म—भावकर्म—नोकर्मरूप उपाधिसे रहित हूँ। और कैसा हूँ? ‘‘ द्रव्येण न खण्डयामि ’’ जीव स्वद्रव्यरूप है ऐसा अनुभवने पर भी मैं अखण्डित हूँ। ‘‘ क्षेत्रेण न खण्डयामि ’’ जीव स्वक्षेत्ररूप है ऐसा अनुभवने पर भी मैं अखण्डित हूँ। ‘‘ कालेन न खण्डयामि ’’ जीव स्वकालरूप है ऐसा अनुभवने पर भी मैं अखण्डित हूँ। ‘‘ भावेन न खण्डयामि ’’ जीव स्वभावरूप है ऐसा अनुभवने पर भी मैं अखण्डित हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि एक जीव वस्तु स्वद्रव्य स्वक्षेत्र स्वकाल स्वभावरूप चार प्रकारके भेदों द्वारा कही जाती है तथापि चार सत्ता नहीं है एक सत्ता है। उसका दृष्टान्त— चार सत्ता इस प्रकारसे तो नहीं है कि जिस प्रकार एक आम्रफल चार प्रकार है। उसका विवरण—कोई अंश रस है, कोई अंश छिलका है, कोई अंश गुठली है, कोई अंश मीठा है। उसी प्रकार एक जीववस्तु कोई अंश जीवद्रव्य है, कोई अंश जीवक्षेत्र है, कोई अंश जीवकाल है, कोई अंश जीवभाव है— इस प्रकार तो नहीं है। ऐसा माननेपर सर्व विपरीत होता है। इस कारण इस प्रकार है कि जिस प्रकार एक आम्रफल स्पर्श रस गन्ध वर्ण बिराजमान पुद्गलका पिण्ड है, इसलिए स्पर्शमात्रसे विचारनेपर स्पर्शमात्र है, रसमात्रसे विचारनेपर रसमात्र है, गंधमात्रसे विचारनेपर गंधमात्र है, वर्णमात्रसे विचारनेपर वर्णमात्र है। उसी प्रकार एक जीववस्तु स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव बिराजमान है, इसलिए स्वद्रव्यरूपसे विचारनेपर स्वद्रव्यमात्र है, स्वक्षेत्ररूपसे विचारनेपर स्वक्षेत्रमात्र है, स्वकालरूपसे विचारनेपर स्वकालमात्र है, स्वभावरूपसे विचारनेपर स्वभावमात्र है। इस कारण ऐसा कहा कि जो वस्तु है वह अखण्डित है। अखण्डित शब्दका ऐसा अर्थ है।

* श्री समयसारकी आत्मख्याति टीकामें इस अंशको कलशरूप नहीं गिनकर गद्यरूप गिना गया है। अतः आत्मख्याति में उसको कलशरूपसे क्रमांक नहीं दिया गया है।

[शालिनी]

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि
 ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
 ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानकल्लोलवल्गन्
 ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ॥ ८-२७१ ॥

[रोला]

परज्ञेयों के ज्ञानमात्र मैं नहीं जिनेश्वर ।
 मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ निश्चित जानो ॥
 ज्ञेयों के आकार ज्ञान की कल्लोलों से ।
 परिणत ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयमय वस्तुमात्र हूँ ॥ २७१ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि ज्ञेय—ज्ञायकसम्बन्धके ऊपर बहुत भ्रांति चलती है सो कोई ऐसा समझेगा कि जीववस्तु ज्ञायक, पुद्गलसे लेकर भिन्नरूप छ द्रव्य ज्ञेय हैं। सो ऐसा तो नहीं है। जैसा इस समय कहते हैं उस प्रकार है—“अहम् अयं यः ज्ञानमात्रः भावः अस्मि” [अहम्] मैं [अयं यः] जो कोई [ज्ञानमात्रः भावः अस्मि] चेतनासर्वस्व ऐसा वस्तुस्वरूप हूँ “सः ज्ञेयः न एव” वह मैं ज्ञेयरूप हूँ परन्तु ऐसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ। कैसा ज्ञेयरूप नहीं हूँ—“ज्ञेयज्ञानमात्रः” [ज्ञेय] अपने जीवसे भिन्न छह द्रव्योंके समूहका [ज्ञानमात्रः] जानपनामात्र। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं ज्ञायक समस्त छह द्रव्य मेरे ज्ञेय ऐसा तो नहीं है। तो कैसा है? ऐसा है—“ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रः ज्ञेयः” [ज्ञान] जानपनारूप शक्ति [ज्ञेय] जानने योग्य शक्ति [ज्ञातृ] अनेक शक्ति विराजमान वस्तुमात्र ऐसे तीन भेद [मद्वस्तुमात्रः] मेरा स्वरूपमात्र है [ज्ञेयः] ऐसा ज्ञेयरूप हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि मैं अपने स्वरूपको वेद्य—वेदकरूपसे जानता हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञान, यतः मैं आप द्वारा जानने योग्य हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञेय, यतः ऐसी दो शक्तियोंसे लेकर अनन्त शक्तिरूप हूँ, इसलिए मेरा नाम ज्ञाता। ऐसा नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है। कैसा हूँ? “ज्ञानज्ञेयकल्लोलवल्गन्” [ज्ञान] जीव ज्ञायक है [ज्ञेय] जीव ज्ञेयरूप है ऐसा जो [कल्लोल] वचनभेद उससे [वल्गन्] भेदको प्राप्त होता हूँ। भावार्थ इस प्रकार है कि वचनका भेद है, वस्तुका भेद नहीं है ॥ ८-२७१ ॥

[पृथ्वी]

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकामेचकं
 क्वचित्पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
 तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
 परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥ १-२७२ ॥

[रोला]

अरे अमेचक कभी कभी यह मेचक दिखता।
 कभी मेचकामेचक यह दिखाई देता है ॥
 अनन्त शक्तियों का समूह यह आत्म फिरभी।
 दृष्टिवन्त को भ्रमित नहीं होने देता है ॥ २७२ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- भावार्थ इस प्रकार है कि इस शास्त्रका नाम नाटक समयसार है, इसलिए जिस प्रकार नाटकमें एक भाव अनेक रूपसे दिखाया जाता है उसी प्रकार एक जीवद्रव्य अनेक भावों द्वारा साधा जाता है— “मम तत्त्वं” मेरा ज्ञानमात्र जीवपदार्थ ऐसा है। कैसा है? “क्वचित् मेचकं लसति” कर्मसंयोगसे रागादि विभावरूप परिणतिसे देखनेपर अशुद्ध है ऐसा आस्वाद आता है। “पुनः” एकान्तसे ऐसा ही है ऐसा नहीं है। ऐसा भी है— “क्वचित् अमेचकं” एक वस्तुमात्ररूप देखनेपर शुद्ध है। एकान्तसे ऐसा भी नहीं है। तो कैसा है? “क्वचित् मेचकामेचकं” अशुद्ध परिणतिरूप तथा वस्तुमात्ररूप एकही बारमें देखनेपर अशुद्ध भी है, शुद्ध भी है इस प्रकार दोनो विकल्प घटित होते हैं। ऐसा क्यों है? [सहजं] स्वभावसे ऐसा ही है। “तथापि” तो भी “अमलमेधसां तत् मनः न विमोहयतिः” [अमलमेधसां] सम्यग्दृष्टि जीवोंकी [तत् मनः] तत्त्वज्ञानरूप है जो बुद्धि वह [न विमोहयति] संशयरूप नहीं होती—भ्रमको प्राप्त नहीं होती है। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका स्वरूप शुद्ध भी है, अशुद्ध भी है, शुद्ध—अशुद्ध भी है ऐसा कहनेपर अवधारण करनेमें भ्रमको स्थान है तथापि जो स्याद्वादरूप वस्तुका अवधारण करते हैं उनके लिए सुगम है, भ्रम नहीं उत्पन्न होता है। कैसी है वस्तु? “परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं” [परस्परसुसंहत] परस्पर मिली हुई है [प्रकटशक्ति] स्वानुभवगोचर जो जीवकी अनेक शक्ति उनका [चक्रं] समूह है जीववस्तु। और कैसी है? “स्फुरत्” सर्व काल उद्योतमान है ॥ १-२७२ ॥

[पृथ्वी]

इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभङ्गुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥ १०-२७३ ॥

[रोला]

एक ओर एक स्वयं से सीमित अर ध्रुव ।
अन्य ओर से नेक क्षणिक विस्तारमयी है ॥
अहो आत्मा का अद्भुत यह वैभव देखो ।
जिसे देखकर चकित जगतजन ज्ञानी होते ॥ २७३ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अहो आत्मनः तत् इदम् सहजम् वैभवम् अद्भुतं ’’ [अहो] संबोधन वचन । [आत्मनः] जीव वस्तुकी [तत् इदम् सहजम्] अनेकान्तस्वरूप ऐसी [वैभवम्] आत्माके गुणस्वरूप लक्ष्मी [अद्भुतं] अचम्भा उपजाती है । किस कारणसे ऐसी है ? ‘‘ इतः अनेकतां गतम् ’’ [इतः] पर्यायरूप दृष्टिसे देखनेपर [अनेकतां] ‘अनेक है ऐसे भावको [गतम्] प्राप्त हुई है । ‘‘ इतः सदा अपि एकताम् दधत् ’’ [इतः] उसी वस्तुको द्रव्यरूपसे देखनेपर [सदा अपि एकताम् दधत्] सदा ही एक है ऐसी प्रतीतिको उत्पन्न करती है । और कैसी है ? ‘‘ इतः क्षणविभङ्गुरं ’’ [इतः] समय समय प्रति अखण्ड धाराप्रवाहरूप परिणमती है ऐसी दृष्टिसे देखनेपर [क्षणविभङ्गुरं] विनशती है उपजती है । ‘‘ इतः सदा एव उदयात् ध्रुवम् ’’ [इतः] सर्व काल एकरूप है ऐसी दृष्टिसे देखनेपर [सदा एव उदयात्] सर्व काल अविनश्वर है ऐसा विचार करनेपर, [ध्रुवम्] शाश्वत है । ‘‘ इतः परमविस्तृतं ’’ [इतः] वस्तुको प्रमाणदृष्टिसे देखनेपर [परमविस्तृतं] प्रदेशोंसे लोकप्रमाण है, ज्ञानसे ज्ञेयप्रमाण है । ‘‘ इतः निजैः प्रदेशैः धृतम् ’’ [इतः] निज प्रमाणकी दृष्टिसे देखनेपर [निजैः प्रदेशैः] अपने प्रदेशमात्र [धृतम्] प्रमाण है ॥ १०-२७३ ॥

[पृथ्वी]

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
 भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
 जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
 स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद्भुतः ॥ ११-२७४ ॥

[रोला]

एक ओर से शान्त मुक्त चिन्मात्र दीखता,
 अन्य ओरसे भव-भव पिड़ित राग-द्वेष मय ।
 तीन लोकमय भासित होता विविध नयों से,
 अहो आत्मा का अद्भुत यह वैभव देखो ॥ २७४ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “आत्मनः स्वभावमहिमा विजयते” [आत्मनः] जीवद्रव्यकी [स्वभावमहिमा] स्वरूपकी बड़ाई [विजयते] सबसे उत्कृष्ट है। कैसी है महिमा? “अद्भुताद् अद्भुतः” आश्चर्यसे आश्चर्यरूप है। वह कैसा है आश्चर्य? “एकतः कषायकलिः स्खलति” [एकतः] विभावपरिणामशक्तिरूप विचारनेपर [कषाय] मोह—राग—द्वेषका [कलिः] उपद्रव होकर [स्खलति] स्वरूपसे भ्रष्ट हो परिणमता है, ऐसा प्रगट ही है। “एकतः शान्तिः अस्ति” [एकतः] जीवके शुद्ध स्वरूप का विचार करनेपर [शान्तिः अस्ति] चेतनामात्र स्वरूप है, रागादि अशुद्धपना विद्यमान ही नहीं है। और कैसा है? “एकतः भवोपहतिः अस्ति” [एकतः] अनादि कर्मसंयोगरूप परिणमा है इस कारण [भव] संसार चतुर्गतिमें [उपहतिः] अनेक बार परिभ्रमण [अस्ति] है। “एकतः मुक्ति स्पृशति” [एकतः] जीवके शुद्ध स्वरूप का विचार करनेपर [मुक्तिः स्पृशति] जीववस्तु सर्व काल मुक्त है ऐसा अनुभवमें आता है। और कैसा है? “एकतः जगत्त्रितयम् स्फुरति” [एकतः] जीवका स्वभाव स्वपरज्ञायक है ऐसा विचारनेपर [जगत्] समस्त ज्ञेय वस्तुकी [त्रितयं] अतीत अनागत वर्तमानकालगोचर पर्याय [स्फुरति] एक समयमात्र कालमें ज्ञानमें प्रतिबिम्बरूप है। “एकतः चित् चकास्ति” [एकतः] वस्तुके स्वरूप सत्तामात्र का विचार करनेपर [चित्] शुद्ध ज्ञानमात्र [चकास्ति] शोभित होता है। भावार्थ इस प्रकार है कि व्यवहार मात्रसे ज्ञान समस्त ज्ञेयको जानता है, निश्चयसे नहीं जानता है, अपना स्वरूपमात्र है, क्योंकि ज्ञेयके साथ व्याप्य—व्यापकरूप नहीं है ॥ ११-२७४ ॥

[मालिनी]

जयति सहजतेजःपुञ्जमञ्जुत्त्रिलोकी-
 स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
 स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
 प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥ १२-२७५ ॥

[सोरठा]

झलके तीनो लोक सहज तेज के पुंज में।
 यद्यपि एक स्वरूप तदपि भेद दिखाई दें ॥
 सहज तत्त्व उपलब्धि निजरस के विस्तार से।
 नियत ज्योति चैतन्य चमत्कार जयवंत है ॥ २७५ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एषः चिच्चमत्कारः जयति ” अनुभवप्रत्यक्ष ज्ञानमात्र जीववस्तु सर्व कालमें जयवन्त प्रवर्तों। भावार्थ इस प्रकार है कि साक्षात् उपादेय है। कैसी है? “ सहजतेजःपुञ्जमञ्जुत्त्रिलोकीस्खलदखिलविकल्पः ” [सहज] द्रव्यके स्वरूपभूत [तेजःपुञ्ज] केवलज्ञानमें [मञ्जुत्] ज्ञेयरूपसे मग्न जो [त्रिलोकी] समस्त ज्ञेय वस्तु उसके कारण [स्खलत्] उत्पन्न हुआ है [अखिलविकल्पः] अनेक प्रकार पर्यायभेद जिसमें ऐसी है ज्ञानमात्र जीववस्तु। “ अपि ” तो भी “ एकः एव स्वरूपः ” एक ज्ञानमात्र जीववस्तु है। और कैसी है? “ स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः ” [स्वरस] चेतनास्वरूपकी [विसर] अनन्त शक्ति उससे [पूर्ण] समग्र है [अच्छिन्न] अनन्त काल तक शाश्वत है ऐसे [तत्त्व] जीववस्तु स्वरूपकी [उपलम्भः] हुई है प्राप्ति जिसको ऐसी है। और कैसी है? “ प्रसभनियमितार्चिः ” [प्रसभ] ज्ञानावरण कर्मका विनाश होनेपर प्रगट हुआ है [नियमित] जितना था उतना [अर्चिः] केवलज्ञानस्वरूप जिसका ऐसी है। भावार्थ इस प्रकार है कि परमात्मा साक्षात् निरावरण है ॥ १२-२७५ ॥

[मालिनी]

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥ १३-२७६ ॥

[दोहा]

मोह रहित निर्मल सदा अप्रतिपक्षी एक ।
अचल चेतनारूप में मग्न रहे स्वयमेव ॥
परिपूरण आनन्दमय अर अदभुत उद्योत ।
सदा उदित चहु ओर से अमृतचन्द्रज्योति ॥ २७६ ॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ एतत् अमृतचन्द्रज्योतिः उदितम् ” [एतत्] प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान [अमृतचन्द्रज्योतिः] ‘अमृतचन्द्रज्योतिः’ इस पदके दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थ— [अमृत] मोक्षरूपी [चन्द्र] चन्द्रमाका [ज्योतिः] प्रकाश [उदितम्] प्रगट हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि शुद्ध जीवस्वरूप मोक्षमार्ग ऐसे अर्थका प्रकाश हुआ। दूसरा अर्थ इस प्रकार है कि [अमृतचन्द्र] अमृतचन्द्र नाम है टीकाके कर्ता आचार्यका सो उनकी [ज्योतिः] बुद्धिका प्रकाशरूप [उदितम्] शास्त्र सम्पूर्ण हुआ। शास्त्रको आशीर्वाद देते हुए कहते हैं— “ निःसपत्नस्वभावम् समन्तात् ज्वलतु ” [निःसपत्न] नहीं है कोई शत्रु जिसका ऐसा [स्वभावम्] अबाधित स्वरूप [समन्तात्] सर्व काल सर्व प्रकार [ज्वलतु] परिपूर्ण प्रतापसंयुक्त प्रकाशमान होओ। कैसा है? “ विमलपूर्ण ” [विमल] पूर्वापर विरोधरूप मलसे रहित है तथा [पूर्ण] अर्थसे गंभीर है। “ ध्वस्तमोहम् ” [ध्वस्त] मूलसे उखाड़ दी है [मोहम्] भ्रान्तिको जिसने ऐसा है। भावार्थ इस प्रकार है कि इस शास्त्रमें शुद्ध जीवका स्वरूप निःसंदेहरूपसे कहा है। और कैसा है? “ आत्मना आत्मनि आत्मानम् अनवरतनिमग्नं धारयत् ” [आत्मना] ज्ञानमात्र शुद्ध जीवके द्वारा [आत्मनि] शुद्ध जीवमें [आत्मानम्] शुद्ध जीवको [अनवरतनिमग्नं धारयत्] निरन्तर अनुभवगोचर करता हुआ। कैसा है आत्मा? “ अविचलितचिदात्मनि ” [अविचलित] सर्व काल एकरूप जो [चित्] चेतना वही है [आत्मनि] स्वरूप जिसका ऐसा है। नाटक समयसारमें अमृतचन्द्रसूरिने कहा जो साध्य—साधक भाव सो सम्पूर्ण हुआ। नाटक समयसार शास्त्र पूर्ण हुआ। यह आशीर्वाद वचन है ॥ १३-२७६ ॥

[शार्दूलविक्रीडित]

यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं
 रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
 भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं
 तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किञ्चिन्न किञ्चित्किल ॥ १४-२७७ ॥

[हरिगीत]

गतकाल में अज्ञान से एकत्व परसे जब हुआ ।
 फलरूप में रस-राग अर कतृत्व पर में तब हुआ ॥
 उस क्रियाफल को भोगती अनुभूति मैली हो गई ।
 किन्तु अब सदज्ञान से सब मलिनता लव हो गई ॥२७७॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- “ किल तत् किञ्चित् अखिलं क्रियायाः फलं अधुना तत् विज्ञानघनौघमग्नम् खिन्ना न किञ्चित् ” [किल] निश्चयसे [तत्] जिसका अवगुण कहेंगे ऐसा जो [किञ्चित् अखिलं क्रियायाः फलं] कुछ एक पर्यायार्थिक नयसे मिथ्यादृष्टि जीवके अनादि कालसे लेकर नाना प्रकारकी भोग सामग्रीको भोगते हुए मोह—राग—द्वेषरूप अशुद्ध परिणतिके कारण कर्मका बंध अनादि कालसे होता था सो [अधुना] सम्यक्त्वकी उत्पत्तिसे लेकर [तत् विज्ञानघनौघमग्नम्] शुद्ध जीवस्वरूपके अनुभवमें समाता हुआ [खिन्ना] मिट गया सो [न किञ्चित्] मिटनेपर कुछ है ही नहीं; जो था सो रहा। कैसा था क्रियाका फल? “ यस्मात् स्वपरयोः पूरा द्वैतम् अभूत् ” [यस्मात्] जिस क्रियाके फलके कारण [स्वपरयोः] यह आत्मस्वरूप यह परस्वरूप ऐसा [पुरा] अनादि कालसे [द्वैतम् अभूत्] द्विविधापन हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि मोह—राग—द्वेष स्वचेतना परिणति जीवकी ऐसा माना। और क्रियाफलसे क्या हुआ? “ यतः अत्र अन्तरं भूतं ” [यतः] जिस क्रियाफलके कारण [अत्र] शुद्ध जीववस्तुके स्वरूपमें [अन्तरं भूतं] अन्तराय हुआ। भावार्थ इस प्रकार है कि जीवका स्वरूप तो अनन्त चतुष्टयरूप है। अनादिसे लेकर अनन्त काल गया, जीवने अपने स्वरूपको नहीं प्राप्त किया, चतुर्गति संसारका दुःख प्राप्त किया, सो बह भी क्रियाके फलके कारण। और क्रियाफलसे क्या हुआ? “ यतः रागद्वेषपरिग्रहे सति क्रियाकारकैः जातं ” [यतः] जिस क्रियाके फलसे [रागद्वेष] अशुद्ध परिणतिरूप [परिग्रहे] परिणाम हुआ। ऐसा [सति] होनेपर [क्रियाकारकैः जातं] जीव रागादि परिणामोंका कर्ता है तथा भोक्ता है इत्यादि जितने विकल्प उत्पन्न हुए उतने क्रियाके फलसे उत्पन्न हुए। और क्रियाके फलके कारण क्या हुआ? “ यतः अनुभूतिः भुञ्जाना ” [यतः] जिस क्रियाके फलके कारण [अनुभूतिः] आठ कर्मोंके उदयका स्वाद [भुञ्जाना] भोगा। भावार्थ इस प्रकार है कि आठही कर्मोंके उदयसे जीव अत्यन्त दुःखी है सो भी क्रियाके फलके कारण। ॥१४—२७७॥

[उपजाति]

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै-
 व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
 स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति
 कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥ १५-२७८॥

[हरिगीत]

ज्यों शब्द अपनी शक्ति से ही तत्त्व प्रतिपादन करें।
 त्यों समय की यह व्याख्या भी उन्हीं शब्दों ने करी॥
 निजरूप में ही गुप्त अमृतचन्द्र श्री आचार्य का।
 इस आत्मख्याती में अरे कुछ भी नहीं कतृत्व है॥२७८॥

खंडान्वय सहित अर्थ:- ‘‘ अमृतचन्द्रसूरेः किञ्चित् कर्तव्यम् न अस्ति एव ’’ [अमृतचन्द्रसूरेः]
 ग्रंथकर्ताका नाम अमृतचन्द्रसूरि है, उनका [किञ्चित्] नाटक समयसारका [कर्तव्यम्] करना [न
 अस्ति एव] नहीं है। भावार्थ इस प्रकार है कि नाटक समयसार ग्रंथकी टीकाका कर्ता अमृतचन्द्र
 नामक आचार्य प्रगट हैं तथापि महान् हैं, बड़े हैं, संसारसे विरक्त है, इसलिए ग्रन्थ करनेका
 अभिमान नहीं करते। कैसे हैं अमृतचन्द्रसूरि? ‘‘ स्वरूपगुप्तस्य ’’ द्वादशांगरूप सूत्र अनादिनिधन है,
 किसीने किया नहीं है ऐसा जानकर अपनेको ग्रन्थका कर्तापना नहीं माना है जिन्होंने ऐसे हैं।
 इस प्रकार क्यों है? कारण कि ‘‘ समयस्य इयं व्याख्या शब्दैः कृता ’’ [समयस्य] शुद्ध जीव
 स्वरूपकी [इयं व्याख्या] नाटक समयसार नामक ग्रंथरूप व्याख्या [शब्दैः कृता] वचनात्मक ऐसी
 शब्दराशिसे की गई है। कैसी है शब्दराशि? ‘‘ स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः ’’ [स्वशक्ति] शब्दोंमें है
 अर्थको सूचित करनेकी शक्ति उससे [संसूचित] प्रकाशमान हुआ है [वस्तु] जीवादि पदार्थोंका
 [तत्त्वैः] द्रव्य—गुण—पर्यायरूप, उत्पाद—द्रव्य—ध्रौव्यरूप अथवा हेय—उपादेयरूप निश्चय जिसके द्वारा
 ऐसी है शब्दराशि॥१५—२७८॥



समयसार कलश की वर्णानुक्रम सूची

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
अ			अवतरति न यावद्	२९	२९
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	१७४	अविचलितचिदात्म—	२७६	२५०
अखंडितमनाकुलं	१४	१५	अस्मिन्ननादिनि	४४	४२
अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	१२६	आ		
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	१४१	१२३	आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३	७६
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव—	५७	५४	आत्मनश्चिन्तयैवालं	१९	१८
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	६२	आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	५३
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	१५१	आत्मस्वभावं परभावभिन्न—	१०	१०
अज्ञानात् मृगतृष्णिकां जलधिया	५८	५५	आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	५८
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव—	१९७	१७६	आत्मानुभूतिरिति	१३	१४
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	५८	आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि—	२०८	१८६
अतो हताः प्रमादिनो	१८८	१६८	आसंसारत एव धावति	५५	५१
अतः शुद्धनयायत्तं	७	७	आसंसारविरोधिसंवर—	१२५	१०९
अत्यन्तं भावयित्वा विरति—	२३३	२०८	आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	१२०
अत्र स्याद्वादशुद्धयर्थ	२४७	२१७	इ		
अथ महामदनिर्भरमंथरं	११३	९७	इति परिचिततत्त्वै—	२८	२८
अद्वैतापि हि चेतना	१८३	१६४	इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी	१७६	१५६
अध्यास्य शुद्धनय—	१२०	१०४	इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी	१७७	१५६
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	२३३	इति सति सह सर्वै—	३१	३२
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२	२	इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	२१६
अनवरतमनन्तै—	१८७	१६७	इतो गतमनेकतां	२७३	२४७
अनाधनंतमचलं	४१	४०	इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठना—	२३४	२०९
अनेनाध्यवसायेन	१७१	१५२	इत्थं ज्ञानक्रकचकलना—	४५	४४
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	२१०	इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	१२७
अयि कथमपि मृत्वा	२३	२२	इत्थज्ञानविमूढानां	२६२	२३६
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्	२५७	२३०	इत्याद्यनेकनिजशक्ति—	२६४	२३८
अलमलमतिजल्पै—	२४४	२१५	इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	१५७

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
इत्येवं विरचय्य संप्रति	४८	४७	एकस्य वाच्यो	८४	७९
इदमेकं जगद्यक्षु—	२४५	२१६	एकस्य वेद्यो	८८	७३
इदमेवात्र तात्पर्यं	१२२	१०६	एकस्य सांतो	८२	७०
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	७५	एकस्य सूक्ष्मो	७७	६७
उ			एकस्य हेतु—	७८	६७
उदयति न नयश्री—	९	९	एको दूरात्यजति मदिरां	१०१	८४
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्	२३६	२१०	एको मोक्षपथो य एष	२४०	२१२
उभयनयविरोध—	४	४	एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं	१६०	१४२
ए			एकः परिणमति सदा	५२	५०
एकज्ञायकभावनिर्भर—	१४०	१२२	एकः कर्ता चिदहमिह	४६	४५
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	६	एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	२११
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	२६	एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	२३७
एकमेव हि तत्स्बाद्यं	१३९	१२१	एष ज्ञानधनो नित्यमात्मा	१५	१६
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	१६५	एषैकैव हि वेदना	१५६	१३८
एकस्य कर्ता	७४	६६	क		
एकस्य कार्यं	७९	६८	कथमपि समुपात्त—	२०	१९
एकस्य चेत्यो	८६	७२	कथमपि हि लभंते	२१	२०
एकस्य चैको	८१	६९	कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	८२
एकस्य जीवो	७६	६७	कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	८१
एकस्य दुष्टो	७३	६५	कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	१३४
एकस्य दृश्यो	८७	७२	कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	१८७
एकस्य नाना	८५	७१	कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	१७४
एकस्य नित्यो	८३	७०	कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	८६
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	६३	कर्मेव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः	२०४	१८२
एकस्य भातो	८९	७३	कषायकलिरेकतः	२७४	२४८
एकस्य भावो	८०	६९	कांत्यैव स्नपयंति ये	२४	२३
एकस्य भोक्ता	७५	६६	कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	१८०
एकस्य मूढो	७१	६४	कृतकारितानुमननै—	२२५	२०२
एकस्य रक्तो	७२	६५	क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२	१२४
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	१७९	क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	२४६

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
क्ष			ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	४९
क्षणिकमिदामिहैकः	२०६	१८४	ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति	२५१	२२३
ध			ट		
धृतकुंभामिधानेऽपि	४०	४०	टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा—	२६१	२३५
च			टङ्कोत्कीर्णस्वररसनिचित—	१६१	१४३
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व—	३५	३६	त		
चित्पिंडचंडिमविलासिविकास—	२६८	२४२	तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	११७
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	२४३	तथापि न निरर्गलं	१६६	१४८
चित्स्वभावभरभावितभावा—	९२	७६	तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	८३
चिरमिति नवत्त्व—	८	८	त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	१७१
चैद्रूप्यं जडरुपतां च	१२६	११०	त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	१३५
ज			त्यजतु जगदिदानीं	२२	२०
जयति सहजतेजः	२७५	२४९	द		
जानाति यः स न करोति	१६७	१४९	दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३९	२१२
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	३४	दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा—	१६	१७
जीवादजीवमिति	४३	४२	दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७	१७
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	५९	दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	७७
ज्ञ			द्रव्यलिङ्गगममकारमीलितै—	२४३	२१४
ज्ञप्तिः करोतौ न हि	९७	८०	द्विद्याकृत्य प्रज्ञाक्रकच—	१८०	१५९
ज्ञानमय एव भावः	६६	६०	ध		
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	१३०	धीरोदारमहिम्ननादिनिधने	१२३	१०७
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं	२२४	२०२	न		
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो—	६०	५७	न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	१४६
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	५६	न जातु रागादि—	१७५	१५५
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	१३३	ननु परिणाम एव किल	२११	१८९
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	१३०	नमः समयसाराय	१	१
ज्ञानीनो ज्ञाननिर्वृत्ताः	६७	६१	न हि विदधति बद्ध—	११	११
ज्ञानी करोति न	१९८	१७७	नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	११८

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः	२००	१७८	बहिरुलूठति यद्यपि	२१२	१९०
निजमहिमरतानां	१२८	११२	बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो	२५०	२२२
नित्यमविकारसुस्थित—	२६	२५	बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित—	२४८	२१८
निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्	३८	३८	भ		
निःशेषकर्मफल—	२३१	२०७	भावयेद्वेदविज्ञान—	१३०	११४
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	८७	भावास्त्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	९९
नीत्वा सम्यक् प्रलय—	१९३	१७३	भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	९८
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	५२	भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण—	१८२	१६३
नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव	२६५	२३९	भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य—	२५४	२२७
नोभौ परिणमतः खलु	५३	५१	भूतं भान्तमभूतमेव	१२	१३
प			भेदज्ञानोच्छलन—	१३२	११५
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	१२५	भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१	११४
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	१६७	भेदोन्मादं भ्रमरसभरा—	११२	९५
परपरिणतिहेतो—	३	३	भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	१७५
परपरिणतिमुज्झत्	४७	४६	म		
परमार्थेन तु व्यक्त—	१८	१८	मग्नाः कर्मनयाव—	१११	९४
पूर्णेकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	२००	मज्जन्तु निर्भरममी	३२	३३
पूर्वबद्धनिजकर्म—	१४६	१२८	माऽकर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	१८३
पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये	२५६	२२९	मिथ्यादृष्टेः स एवास्य	१७०	१५२
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	१०५	मोक्षहेतुतिरोधानात्	१०८	९०
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	१६०	मोहविलासविजृम्भित—	२२७	२०४
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर—	२५२	२२५	मोहाद्यदहमकार्ष	२२६	२०३
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	२०५	य		
प्रमादकलितः कथं भवति	१९०	१७०	य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९	६३
प्राकारकवलिताम्बर—	२५	२५	यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	१९२
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५९	१४१	वर्णाधैः सहितस्तथा	४२	४१
प्रादुर्भावविराममुद्रित—	२६०	२३४	वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	१९१
ब			विकल्पकः परं कर्ता	९५	७८
बंधच्छेदात्कलयदतुलं	१९२	१७२	विगलन्तु कर्मविषयतरु—	२३०	२०६

	कलश	पृष्ठ		कलश	पृष्ठ
विजहति न हि सत्तां	११८	१०२	सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं	१३७	११९
विरम किमपरेणाकार्य—	३४	३५	सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	११८
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य—	२४९	२२१	सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं	३०	३१
विश्रान्तः परभावभावकलना	२५८	२३१	सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	१५३
विश्वाद्धिभक्तोऽपि हि	१७२	१५३	सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	२२६
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	८९	सर्वस्यामेव जीवन्त्यां	११७	१०२
वृत्तं ज्ञानस्वभावेन	१०६	८८	सर्वं सदैव नियतं	१६८	१५०
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं	२०७	१८५	सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्त—	१८५	१६६
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्	१४७	१२९	सन्न्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	१००
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	२११	सन्न्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९	९१
व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि	५	५	संपद्यते संवर एष	१२९	११३
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४२	२१४	स्थितेति जीवस्य निरंतराया	६५	६०
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	४८	स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	५९
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	१८८	स्याद्वादकौशलसुनिश्चल—	२६७	२४१
श			स्याद्वाददीपितलसन्महसि	२६९	२४२
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित—	२१५	१९३	स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध—	२५५	२२८
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं	२१६	१९४	स्वशक्तिसंसूचितवस्तुत्त्वै—	२७८	२५२
स			स्वेच्छासमुच्छलदनल्प—	९०	७४
सकलमपि विहायाह्वाय	३६	३६	स्वं रुपं किल वस्तुनो—	१५८	१४०
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	२०६	ह		
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	१३६	हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	८५

